॥ श्रीवीतरागाय नमः॥

सम्यक्त्व मञ्जूषा

लेखिका

आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी

प्रकाशक

मोदी नेमीचन्द, श्रीमती किरण, तेंदूखेड़ा (नरसिंहपुर, म.प्र.)

चन्द्रप्रकाश जैन, योगेश जैन, मालथौन (सागर, म.प्र.)

सम्यक्त्व मञ्जूषा

प्रस्तुति : आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी

सम्पादन : डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

पुण्यार्जक : १. मोदी नेमीचन्द-श्रीमती किरण, ब्र. मनीष भैया
मोदी आशीष-श्रीमती अंशुलता
मोदी महीष-श्रीमती नीलांजना
मोदी शशीष-श्रीमती अलका
एवं पयोज जैन, तेंदूखेड़ा (नरसिंहपुर)

२. चन्द्रप्रकाश जैन, योगेश जैन
ए.वी.एस. केबल्स
बीना रोड, मालथौन (सागर)

प्राप्ति स्थान : ♦ श्रावक संस्कार साहित्य केन्द्र
श्री नन्दीश्वर द्वीप जिनालय
जैन नगर, लालघाटी, भोपाल (म.प्र.)
मोबाइल : ९४२५३७४८९७

♦ संजीव जैन (रामपुर)
पूजा परिधान, गुलाबगंज चौराहा
आरौन (गुना-म.प्र.)
फोन : ०७५४५-२५८४९७
मोबाइल : ०९७५५००८५१८

संस्करण : प्रथम, १००० प्रतियाँ

प्रकाशन तिथि : आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के
स्वर्णिम दीक्षा दिवस के अवसर पर

मूल्य : स्वाध्याय

संकल्पना एवं मुद्रण : निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर
☎ ०२९१-२४४०५७८

कृति का उद्देश्य

संसार-सागर से पार होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम सीढ़ी के रूप में सम्यग्दर्शन को कहा गया है, यद्यपि सभी शास्त्रों में आचार्य-उपाध्याय और साधु परमेष्ठी भगवन्तों ने सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कथन किया है; कहीं पर सामान्य रूप से तो कहीं पर विशेष रूप से। सर्वत्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सामान्य से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा रखना कहा गया है और विशेष रूप से जातिस्मरण, जिनबिम्ब-दर्शन आदि बाह्य कारण कहे गये हैं। आध्यात्मिक ग्रन्थों में आत्मश्रद्धान को प्रधान करके कथन किया गया है। जो कुछ भी हो सभी का उद्देश्य एक ही है संसार-सागर से पार होना।

दर्शन मोहनीय की ३ एवं अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम करके मोक्षप्राप्ति का मूल सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मैं सम्यग्दर्शन के बारे में सांगोपांग जानकारी प्राप्त करूँ, ताकि उसकी प्राप्ति में मुझे सुविधा हो जावे। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के पहले अधिकार में सम्यग्दर्शन के संदर्भ में विस्तृत चर्चा की है, इसके टीकाकारों ने सम्यक्त्व के गूढ़ रहस्यों को खोला भी है। मुझे भी बचपन से ही इस विषय में जानने की उत्कट अभिलाषा थी। मैंने जितने भी आगम ग्रन्थों का पठन-पाठन किया उनमें भी सम्यग्दर्शन के विषय को गहनता से जानने का प्रयास किया। कई बार संघस्थ आर्यिकाओं एवं ब्र. बहिनों ने भी इसके विषय में लेखन/संकलन करने की भावना रखी। वर्षों से विचार चल रहे थे, वे ही सारे विचार प्रस्तुत कृति **सम्यक्त्व मञ्जूषा** में समाहित किये गये हैं। इसमें सैद्धान्तिक विषय आचार्य प्रणीत पुरातन ग्रन्थों से उद्धृत किया है, उसको स्पष्ट करने के लिए मैंने अपनी तरफ से वर्तमान के अनुभूत उदाहरणों को भी लिखा है। कुछ प्रश्नों को उठाकर भी विषयवस्तु सहज सुगम बनाने का मेरा लघुतम प्रयास है। सम्भव है अल्पज्ञता एवं प्रमाद के कारण कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों, इसके लिए मैं पंचपरमेष्ठी भगवन्तों से और जिनवाणी माँ से, गुरुवर्यों से बारम्बार क्षमा माँगती हूँ। साथ ही, प्राज्ञजनों से निवेदन हैं कि वे इस विषय में अपना विचार हमारे पास अवश्य भेजें, ताकि भविष्य में सुधार किया जा सके।

प्रस्तुत कृति के संकलन/लेखन का उद्देश्य मात्र यही है कि हम सम्यग्दर्शन के स्वरूप को जानकर जो कुछ हमारी भूलें हैं, आत्मा में तत्सम्बन्धी दूषण हैं, उन सभी को दूर करके अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाकर शीघ्र ही अपने गन्तव्य मुक्तिमहल को प्राप्त करें।

इसी भावना से अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी भगवान के, आचार्य गुरुवरों के चरणों में कोटि-कोटिश: वन्दन-वन्दन-वन्दन...

- आर्यिका विज्ञानमती

गुरुवर्या माताजी एवं प्रस्तुत कृति

बात लगभग १०-१२ साल पुरानी है, जब पूज्या आर्यिकाश्री सोनागिरि सिद्धक्षेत्र की वंदना करके ग्रामों-कस्बों में धर्मगंगा प्रवाहित करते हुए गोलाकोट-पचराई अतिशयक्षेत्र की वंदना करके ससंघ खनियाधाना नगर में पधारीं। यात्रा के विहार से सारा संघ थका-थका लग रहा था, तब पू. आर्यिकाश्री ने द्रव्य, क्षेत्र, काल देखते हुए यहाँ रुकने का मन बनाया। यहाँ के सुधी श्रावकगण पूर्व से ही पू. आर्यिकाश्री की चर्या और ज्ञान से प्रभावित थे, उन सभी का भी मन था, कि पू. आर्यिकाश्री हमारे यहाँ रुकें। यद्यपि यहाँ की जैन समाज अच्छी है, स्वाध्याय के प्रति रुझान रखने वाली है, फिर भी मन में सम्यग्दर्शन के संदर्भ में कुछ-कुछ दरारें हैं। उस समय पू. आर्यिकाश्री ने वहाँ के श्रावकों की मन:स्थिति समझकर प्रवचन-शृंखला प्रारम्भ की। लगभग १५ दिन १-१ घंटे तक प्रात: वेला में सम्यग्दर्शन के विषय पर ही अमृतमयी वाणी सभी को सुनने को मिली। उस समय प्रवचन सुनकर सभी ने मिथ्यात्व से बचने की कला सीख ली थी। सभी को बड़ा आनन्द आ रहा था। पू. आर्यिकाश्री के प्रवचन और तदनुरूप आचरण को देखकर सभी आबाल वृद्ध के जीवन में दृष्टिगत परिवर्तन भी हुआ था। ज्ञात रहे इसी समय पू. आर्यिकाश्री को हरपीज रोग भी हुआ था। सहस्रों बिच्छुओं के काटने से उत्पन्न वेदना से भी कई गुनी वेदना शरीर में थी, फिर भी जब प्रात:काल में प्रवचन का समय होता और पू. आर्यिकाश्री सम्यग्दर्शन की विवेचना करतीं तब ऐसा लगता मानों इन्हें कुछ हो ही नहीं रहा है, अन्य समय में भी कभी किसी को उनके चेहरे से भी समझ में नहीं आता था कि इन्हें इतनी भयंकर वेदना है। कभी-कभी जब हम लोग कहते कि आप प्रवचन नहीं करो आपको इतनी तकलीफ हो रही है, तब गुरुमाँ कहतीं - अरे! तकलीफ हाथ में है, मुँह में नहीं; बोलना तो मुँह से है और फिर यह वेदना शरीराश्रित है जबकि प्रवचन तो आत्माश्रित होकर करना है। उत्तर सुनकर हमारी आत्मा कह उठती ''धन्य हो पू. आर्यिकाश्री आपको। आज भी ऐसी भव्यात्माएँ हैं जो शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान की प्रायोगिक साधना कर रही हैं।'' मेरे विचार से समाज के हर श्रावक के हृदय-परिवर्तन का कारण भी यही रहा होगा कि वे कथनी-करनी में सामंजस्य को साक्षात् देख रहे थे।

उस समय के प्रवचनों का हम सभी आर्यिकाओं ने संकलन किया था, उनको हम सभी बार-बार पढ़ते थे तो हर बार पू. आर्यिकाश्री से निवेदन करते कि आप इन प्रवचनों को व्यवस्थित करवा दीजिए ताकि सभी श्रावकों को पढ़ने के लिए मिल सकें, पर पू. आर्यिकाश्री का मन नहीं बना, तब हम सभी ने मिलकर यह कार्य करने का प्रयास किया, पर नहीं कर पाये या यूँ कहो कि भाग्य ने साथ नहीं दिया। समय निकलता गया, एक बार सिलवानी में आचार्यश्री के दर्शनार्थ गये तब संघस्थ मुनि विशालसागर जी महाराज ने पू. आर्यिकाश्री से कहा- माता जी ! आप लिखती हैं, आपकी लेखनी मिथ्यात्व को नष्ट करने वाले विषय पर चले तो सभी को मोक्षमार्ग पर बढ़ने का सहारा मिलेगा। उस समय मुनिश्री की भावना से एक लघु कृति ''सच्चे देव का स्वरूप'' नाम से लिखी, फिर भी हम सभी की भावना सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में लेखन की थी। कई बार श्रावकों के माध्यम से भी चर्चा सामने आयी, तब

सभी की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए यह अनुपम कृति **सम्यक्त्व मंजूषा** आज हम सबके सामने आयी।

प्रस्तुत कृति में आगम ग्रन्थों का आधार लेकर चिंतन, मनन, लेखन, संकलन किया गया है। लगभग ११ मुख्य शीर्षकों के साथ कुछ विशिष्ट लौकिक प्रश्नों को उठाकर उनका आगम के परिप्रेक्ष्य में समुचित उत्तर भी दिया है। (क्या सम्यग्दृष्टि शृंगार नहीं करता है ? क्या वह अन्य सरागी देवालयों की कलाकृति देखने जा सकता है?... आदि) अंत में, परिशिष्ट में प्रस्तुत विषय भी वस्तु अत्यन्त उपयोगी है। कृति को पढ़कर निश्चित ही हम अपने आपकी पहचान कर सकते हैं कि हम सम्यग्दृष्टि हैं या सम्यक्त्व के अभिमुख हैं, सम्यक्त्व की भूमिका में हैं अथवा हम अभी सम्यग्दर्शन से कोसों दूर हैं। **सम्यक्त्व** मोक्षमार्ग का प्रथम चरण है। जब तक सम्यग्दर्शन की महत्भावभूमि पर कदम नहीं रखेंगे तब तक मोक्षमहल की बात तो छोड़ो मोक्षमार्ग भी हमें नहीं प्राप्त होगा। जैसे वृक्षों का मूल उनकी मजबूती का कारण होता है, उसी तरह सभी व्रत और धर्म का मूल उत्तम सम्यग्दर्शन है। अत: हमें सम्यक्त्व प्राप्ति के समीचीन उपाय जानने चाहिए।

हम सभी **सम्यक्त्व मंजूषा** कृति को तो पढ़ें ही, साथ ही कृतिकर्त्री के जीवन को भी समझें। जिनके अंदर समाहित है मेवाड़ी वीरांगना सा शौर्य, पर्वत सा अडिग धैर्य, समुद्र सी गहन समता और ममता का अक्षुण्ण कोषालय। पू. आर्यिकाश्री का जन्म राजस्थानी धरा की गोद उदयपुर जिले के भीण्डर ग्राम में सेठ बालूलालजी की धर्मवत्सला श्रीमती कमलादेवी जी की कुक्षि से २३ सितम्बर १९६३ को द्वितीय कन्या के रूप में हुआ। जन्म से ही माँ, ताई, दादी कन्या को सीता अंजना की लोरी सुनाकर सुलाती, जगाती तो ब्राह्मी-सुंदरी की कथा सुनाते-सुनाते खिलाती-पिलाती, फलस्वरूप बेटी को लौकिक शिक्षा रास नहीं आयी, धार्मिक ग्रन्थों से ही प्रीत लगी। बड़ी सौभाग्यशालिनी कन्या थी तभी तो माँ पिता के साथ-साथ संत-साधुओं से भी संस्कारित हुईं। माता-पिता के आँचल में कन्या **लीला** निरन्तर धर्ममार्ग की पगडण्डियों पर ही बढ़ती जा रही थी, मात्र विचारों से नहीं आचरण से भी। धर्मांगन में आ. शिवसागर जी महाराज का सान्निध्य पाकर उनकी ही वरदानी छाँव तले संघस्थ साधु-साध्वियों से भी संस्कारों की सौगात पाने का गौरव मिला लीला को। इन्हीं सब संस्कारों के फलस्वरूप बालिका लीला का मन आर्यिका बनने को मचल उठा, पर वाह री किस्मत-रेखा! तेरे सामने किसी की भी न चली। न संस्कार कुछ कर पाये, न लीला की भावना कुछ कर पायी और माँ-बापू ने बाँध दिया परिणय बन्धन में.....। सभी ने मिलकर जबरन बाँध तो दिया विवाह के बन्धन में पर विषयभोग की साँकल नहीं बाँध पायी लीला को और १८ माह बाद ही बेहोश पड़े संस्कार जागृत हो गये। आ. कल्प विवेकसागर जी महाराज की चरण-सन्निधि से साथ ही संघस्थ ब्र. बहिन कुसुम दीदी ने उन्हें मजबूत बनाने की पुरजोर कोशिश की। फलस्वरूप चल पड़ी श्राविका लीला आर्यिका बनने। संसार के सारे रिश्ते-नाते बन्धनों को तोड़कर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु से नाता जोड़ने का पुरुषार्थ सफल हुआ। २ फरवरी १९८५ कूकनवाली (राज.) में आचार्यकल्प विवेकसागर जी महाराज के कर-कमलों से बन गयी लीला **आर्यिका विज्ञानमती माताजी**।

गुरुकृपा से मुक्तिपथ-गामिनी बनकर अहर्निश स्वपरकल्याण में संलग्न हैं। संघर्षों का सामना करते हुए आत्मतत्त्व की उपलब्धि की साधना में रत रहते अनेकानेक कृतियों का सृजन कर समूचे जनमानस को दिशाबोध दे रही हैं। इसी शृंखला में प्रस्तुत है यह आगमोक्त चिंतन की मौलिक अभिव्यक्ति **'सम्यक्त्व मञ्जूषा'** जिसमें भव्य प्राणी सम्यग्दर्शन क्या है, इसकी प्राप्ति के क्या साधन हैं, इसको प्राप्त करने पर कैसी जीवनचर्या होती है, आचार-विचार में क्या परिवर्तन होता है आदि-आदि विशेष जानकारियाँ पाकर तदनुरूप आचरण करके हम अपनी मुक्ति को सुनिश्चित बनाने का सफल पुरुषार्थ कर सकते हैं।

कृति का सम्पादन वयोवृद्ध अनुभववृद्ध ज्ञानवृद्ध **पं. चेतनप्रकाश जी पाटनी,** जोधपुर (राजस्थान) ने अस्वस्थता के बावजूद भी श्रुत के प्रति समर्पणभाव से किया है। उनकी श्रुतसेवा सराहनीय हैं। उन्हें पूज्य आर्यिकाश्री का शुभाशिष।

मुझे विश्वास है कि पूज्य आर्यिकाश्री की यह अतुलनीय कृति सामान्य एवं प्राज्ञ समाज में स्वाध्याय की परिपाटी में एकाग्रता से पढ़ी जाये तो यह हमारी आत्मा को परमात्म-पद तक ले जाने में सहायक बनकर हमें निज में प्रवेश करायेगी।

अंत में, अनन्तानंत वीतराग भगवन्तों के चरणों में, निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारी गुरुवरों के चरणों में, रत्नत्रयप्रदातृ मम जीवन की सर्वस्व पू. आर्यिकाश्री के चरणों में कोटि-कोटिश: वन्दन करते हुए यही भावना भाती हूँ, प्रार्थना करती हूँ कि मेरी आत्मा सदैव सम्यक्त्व से सुशोभित रहे और अंतिम लक्ष्य परमात्म पद को प्राप्त करे।

इसी भावना से
वंदामि, वंदामि, वंदामि
संघस्था **आर्यिका आदित्यमती**

सम्पादकीय

संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं, ऐसा सुख जिसे पाने के बाद दु:ख का पुनरागमन न हो पर ऐसे सुख से संसारी प्राणी का परिचय तक नहीं है क्योंकि सुख निराकुलता का नाम है जो इन्द्रियसुख से सर्वथा भिन्न है और संसार में सुलभ नहीं है। छहढालाकार दौलतराम जी कहते हैं –

''आकुलता शिव माहिं न, तातैं शिवमग लाग्यो चहिए।''

इस 'शिवमग' में लगने का उपाय आचार्य उमास्वामी महाराज बताते हैं –

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:॥१॥ त. सू.॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं और इन तीनों में भी धर्म का मूल है सम्यग्दर्शन – दंसण मूलो धम्मो। (कुन्दकुन्द) जिनागम के चारों अनुयोगों में सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता और महिमा का विस्तार से सांगोपांग वर्णन है जिसे हृदयंगम करना सामान्य बुद्धिधारकों के लिए बड़ा कठिन है। यद्यपि हमारे पूर्वाचार्यों ने अपनी मेधा से सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग को हमारे सामने हथेली पर रखे आँवले की तरह स्पष्ट कर दिया है और अनेक मिथ्या धारणाओं व भ्रान्तियों से पीढ़ियों को सुरक्षित रखा है पर देश काल की बदलती परिस्थितियों में यह अनिवार्यता हमेशा बनी रहती हैं कि महत्त्वपूर्ण विषय जनसामान्य के लिए सुगम बना कर प्रस्तुत किये जायें जिसका लाभ प्राकृत, संस्कृत से अनभिज्ञ और शास्त्रीय तकनीकी शब्दावली से अपरिचित रुचिशील पाठक भी प्राप्त कर सकें।

मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता है कि पूज्य आर्यिका विज्ञानमती माताजी की दृष्टि इस ओर भी है। अपने प्रवचनों में श्रोताओं की भावहीन मुखमुद्राओं को देखकर तकनीकी शास्त्रीय शब्दावली की उलझनों को दूर करने का पुरुषार्थ वे कर रही हैं। प्रस्तुत कृति **सम्यक्त्व मंजूषा** भी उनकी पूर्व प्रकाशित रचनाओं की भाँति जनोपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि सरल भाषा में अभिव्यक्त यह गम्भीर विषय भी पढ़ते समय स्वाध्यायी को ऐसा प्रतीत होता है मानों पूज्य माताजी उसके सामने बैठकर उसी को समझा रही हैं। स्वाध्यायी के मन में (प्रत्येक) उठने वाले सवालों के सहज समाधान सरल भाषा में उसे मिल जाते हैं जो उसकी रुचि को परिष्कृत कर उसे गम्भीर ग्रन्थों के अध्ययन की ओर अवश्य उन्मुख करेंगे, ऐसा विश्वास है।

जिनशासन में किसी नय को मिथ्या नहीं कहा गया है क्योंकि कथन सर्वदा 'अपेक्षापूर्वक' ही होता है, निरपेक्ष नहीं। सम्यग्दर्शन के स्वरूप को भी व्यवहार और निश्चय दोनों नयों से अवधारण करना चाहिए, एकान्तत: नहीं।

आत्मा की अपने शुद्ध बुद्ध-चिद्रूप से भिन्न जो सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति श्रद्धान और षट्द्रव्यों तथा सप्त तत्त्वादि के अभिमुख रुचि है, वह व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन है, निश्चय नय से उस आत्माभिमुखी रुचि का नाम सम्यग्दर्शन है जो अपने शुद्ध बुद्ध-चिद्रूप की ओर प्रवृत्त होती है।

सच्चे देव की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में भ्रान्ति बन जाती है और आज भी उसकी दुहाई देकर नयी पीढ़ी पुरुषार्थहीनता, अनुद्योग और आलस्य को पुष्ट करने की मानसिकता रखती है-

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी बीरा रे।
अनहोनी कबहु नहीं होसी काहे होत अधीरा रे।।

इसका उत्तर भी है-

क्या क्या देखी वीतराग ने तू क्या जाने वीरा रे।
वीतराग की वाणी द्वारा दूर करो भवपीड़ा रे ।।

यह सर्वविदित है कि सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार पदार्थों का परिणमन नहीं होता किन्तु पदार्थों के परिणमन के अनुसार ''लोकालोक भासते जिसमें, ऐसा दर्पण जिनका ज्ञान।'' (र.क. श्रा.)। ज्ञान ज्ञेयाकार है न कि ज्ञेय ज्ञानानुरूप।

अत: हमें जिनेन्द्र के आदेश का अनुसरण करते हुए आलस्य और पुरुषार्थहीनता का त्याग कर सम्यक्त्व को पाकर चित्त में समता भाव को जागृत करना चाहिए जो आत्म साक्षात्कार में हेतु है। तत्त्वों का यथार्थश्रद्धान कर सभी रुचिशील सम्यक्त्व को उपलब्ध हों, यही कामना है।

'सम्यक्त्व मंजूषा' के सम्पादन-प्रकाशन में मुझे संलग्न कर पूज्य आर्यिका संघ ने मुझ पर अमित उपकार किया है, एतदर्थ मैं पूज्य आर्यिका विज्ञानमती माताजी व उनके संघस्थ आर्यिका आदित्यमती जी एवं अन्य आर्यिकाओं का चिर कृतज्ञ हूँ। मैं पूज्य माताजी व संघस्थ आर्यिकावृन्द के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

ग्रन्थ के मोहक कम्प्यूटरीकरण के लिए निधि कम्प्यूटर्स के डॉ. क्षेमंकर को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

ग्रन्थ के इस संस्करण के प्रकाशन में सहयोगियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ और अपने प्रमाद व अज्ञान से ग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन में रही भूलों के लिए सविनय क्षमायाचना करता हूँ।

कार्तिकी अष्टाह्निका
सन् २०१७

विनीत
डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
अविरल, ५४-५५ इन्द्राविहार
सेक्शन ७, न्यू पावर हाउस रोड
जोधपुर (राजस्थान)

ग्रंथ-सूची

क्र.	संकेत	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकर्त्ता
१.	आ.सा.	आचार सार	आ. श्री वीरनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती
२.	आ.कथा कोष	आराधना कथा कोष	ब्र. नेमिदत्त जी
३.	आ.पु.	आदि पुराण	आ. जिनसेन स्वामी
४.	आ. अनु.	आत्मानुशासन	आ. गुणभद्र स्वामी
५.	अ.श्रा.	अमितगति श्रावकाचार	आ. अमितगति स्वामी
६.	इ.उ.	इष्टोपदेश	आ. पूज्यपाद स्वामी
७.	उ. पु.	उत्तर पुराण	आ. गुणभद्र स्वामी
८.	उपा. श्रा.	उपासकाध्ययन श्रावकाचार	
९.	क. पा.	कषाय पाहुड	
१०.	का. अ.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	आ. कार्तिकेय स्वामी
११.	गो.क.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	आ. नेमिचन्द्र स्वामी
१२.	गो. जी.	गोम्मटसार जीवकाण्ड	आ. नेमिचन्द्र स्वामी
१३.	चा. पा.	चारित्र पाहुड	आ. कुन्द-कुन्द स्वामी
१४.	चा.सा.	चारित्र सार	मुनि श्री चामुण्डराय जी
१५.	चा. च.	चारित्र चक्रवर्ती	पं. सुमेरुचंद्र दिवाकर
१६.	ज. ध.	जयधवल	आ. वीरसेन स्वामी
१७.	जी. पु.	जीवन्धर-पुराण	आ. जिनसागर
१८.	ज्ञा.	ज्ञानार्णव	आ. शुभचन्द्र
१९.	त.वि.सा.	तत्त्व विचार सार	आ. वसुनन्दी स्वामी
२०.	त. सू.	तत्त्वार्थ सूत्र	आ. उमा स्वामी
२१.	ति. प.	तिलोयपण्णत्ति	आ. यतिवृषभ
२२.	द. पा.	दर्शन पाहुड	आ. कुन्दकुन्द स्वामी
२३.	दा. शा.	दानशासनम्	
२४.	ध. पु.	धवल पुस्तक	आ. वीरसेन स्वामी
२५.	ध. र.	धम्म रसायन	आ. पद्मनन्दि स्वामी
२६.	ध. सं. श्रा.	धर्म संग्रह श्रावकाचार	
२७.	धर्म र.	धर्मरत्नाकर	आचार्य जयसेन
२८.	धर्मा.	धर्मामृत	आ. नयसेन
२९.	न. च. वृ.	नय चक्र वृत्ति	आ. माइल्ल धवल
३०.	नि.सा.	नियमसार	आ. कुन्दकुन्द स्वामी
३१.	नी.सा.स.	नीतिसार समुच्चय	
३२.	पं.सं.	पंच संग्रह	आ. अमितगति
३३.	प्र.	प्रवचनामृत	आ. विद्यासागर जी
३४.	प. पु.	पद्म पुराण	आ. रविषेण स्वामी
३५.	प. पं.	पद्मनन्दि पंचविंशतिका	आ. पद्मनन्दी

क्र.	संकेत	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकर्त्ता
३६.	प्र. पा.	प्रवचन पारिजात	आ. विद्यासागर जी
३७.	पु. सि.	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय	आ. अमृतचन्द्र स्वामी
३८.	पा. पु.	पार्श्व पुराण	आ. सकलकीर्ति
३९.	बृ.द्र.सं.	वृहद् द्रव्य संग्रह	आ. ब्रह्मदेव सूरि
४०.	भ.आ.	भगवती आराधना	आ. शिवकोटि
४१.	भा.पा.	भाव पाहुड	आ. कुन्दकुन्द
४२.	भा.श.	भावना शतक	आ. विद्यासागरजी
४३.	मू.आ.	मूलाचार आचार वृत्ति	आ. वट्टकेर स्वामी
४४.	म.क.	मरणकण्डिका	आ. अमितगति
४५.	म.पु.	मल्लि पुराण	आ. सकलकीर्ति
४६.	म. पु.	महा पुराण	आ. जिनसेन स्वामी
४७.	महा. पु.	महावीर पुराण	आ. सकलकीर्ति
४८.	मे. मं. पु.	मेरुमन्दर पुराण	आ. वामदेव स्वामी
४९.	मो. पा.	मोक्ष पाहुड	आ. कुन्दकुन्द
५०.	मा.ध.	मानव धर्म	आ. ज्ञानसागर जी
५१.	य.ति.च.	यशस्तिलक चम्पू	आ. सोमकीर्ति
५२.	यो.सा. प्रा.	योगसार प्राभृत	श्रीमद् अमितगति आचार्य
५३.	र.क.श्रा.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आ. समन्तभद्र
५४.	र.सा.	रयणसार	आ. कुन्दकुन्द
५५.	रा.वा.	राजवार्तिक	आ.अकलंक स्वामी
५६.	ल.सा.	लब्धिसार	आ. नेमिचन्द्र स्वामी
५७.	स. कौ.	सम्यक्त्व कौमुदी	अज्ञात
५८.	सर्वा.	सर्वार्थसिद्धि	आ. पूज्यपाद
५९.	स.सा.श.	सम्यक्त्व सार शतक	आ. ज्ञानसागरजी
६०.	सि.सा.सं.	सिद्धान्त सार संग्रह	आ. नरेन्द्रसेन
६१.	सि.सा.दी.	सिद्धान्त सार दीपक	आ. सकलकीर्ति
६२.	सु.र.सं.	सुभाषित रत्न संदोह	आ. अमितगति
६३.	सू. पा.	सूत्र पाहुड	आ. कुन्द-कुन्द
६४.	स.उ.	समयोपदेश	आ. विद्यासागर जी
६५.	सर्वो. श्लो. सं.	सर्वोपयोगिश्लोकसंग्रहः	आ. अजितसागर जी
६६.	स्व. सं.	स्वरूप सम्बोधन	आ. अकलंक स्वामी
६७.	स्व. स्तो.	स्वयंभू स्तोत्र	आ. समन्तभद्र स्वामी
६८.	सा. स.	सार समुच्चय	
६९.	सा. ध.	सावयधम्मम्	
७०.	हरि. पु.	हरिवंश पुराण	आ. जिनसेन स्वामी
७१.	व. चा.	वरांग-चारित्र	आ. जटासिंहनन्दी
७२.	वी.व.चा.	वीर वर्द्धमान चारित्र	आ. सकलकीर्ति

♦♦♦

अनुक्रम

१. भूमिका १

- सम्यग्दर्शन क्या है
- सच्चे देव शास्त्र गुरु का लक्षण
- सम्यग्दर्शन के बारे में विचार
- सम्यग्दर्शन के भेद
- उपशमादि सम्यक्त्वों के लक्षण
- आज्ञादि सम्यक्त्वों के लक्षण
- कौनसे अनुयोग के आश्रय से सम्यक्त्व होता है
- मोक्षमार्ग में श्रद्धा की क्या आवश्यकता
- सम्यग्दर्शन कहाँ होता है
- सम्यग्दर्शन किसको होता है
- किस-किस को प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं हो सकता

२. सम्यग्दर्शन प्राप्ति के साधन २३

प्रथमादि नरकों में

- जातिस्मरण
- वेदनाभिभव
- धर्मश्रवण

तिर्यञ्चगति में

- जातिस्मरण
- जिनबिम्बदर्शन
- धर्मश्रवण

मनुष्यगति में

- जिनबिम्ब दर्शन
- जिनबिम्ब तो जड़ है उसकी श्रद्धा से सम्यग्दर्शन कैसे?
- क्या पुरातन प्रतिमा में कुछ विशेषता है
- जिनमहिमा दर्शन
- जातिस्मरण
- धर्मश्रवण

देवगति में

- देवऋद्धिदर्शन एवं जातिस्मरण में अन्तर
- सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अन्तरंग साधन

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे होती है

- क्षयोपशमलब्धि
- विशुद्धिलब्धि
- देशनालब्धि
- प्रायोग्यलब्धि
- करणलब्धि
- मिथ्यात्व
- सम्यग्मिथ्यात्व
- सम्यक्प्रकृति

अनन्तानुबन्धी क्रोध

- गजकुमार पर सिगड़ी जलाई
- श्यालनी ने पैरों को खाया
- रावण ने उपसर्ग किया

अनन्तानुबन्धी मान

- शिष्य ने गुरु का शीश कटवाया

अनन्तानुबन्धी माया

- राजा अरविंद के दो पुत्र
- लाख के महल में आग लगाई
- बेटी से विवाह किया

अनन्तानुबन्धी लोभ

- लुब्धकसेठ की लोभवृत्ति
- **क्या सम्यग्दृष्टि शृंगार कर सकता है**
- **धार्मिक क्षेत्र में अनन्तानुबंधी**
- रामचन्द्रजी लक्ष्मण के शव को लेकर छह माह तक घूमते रहे तो क्या उनके अनन्तानुबन्धी मोह नहीं है
- सगे भाई को भी मार डाला
- सहदेवी की करतूतें

धार्मिक कार्यों में (अनन्तानुबन्धी)

- अनन्तानुबन्धी राग रूप भी होती है

- रस के राग से सुभौम रसातल में गया
- अनन्तानुबन्धी पत्थर की लकीर के समान होती है तो क्या वह कभी भी समाप्त नहीं हो सकती
- अनन्तानुबन्धी को जीतने का बाह्य पुरुषार्थ
- चाणक्य की अनन्तानुबन्धी समाप्त हुई
- **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व**
- **क्षायिकसम्यक्त्व**

३. सम्यग्दृष्टि कैसा होता है १०५
- सम्यग्दृष्टि का प्रेम आसक्तिरहित होता है
- रामचन्द्र और सीताजी का प्रेम
- शत्रु का भी बुरा नहीं करता है
- क्या सम्यग्दृष्टि को भोगे हुए भोग या वैर याद नहीं रहते हैं
- सम्यग्दृष्टि अपने दोष देखता है, दूसरे के नहीं
- किराये के मकान के समान मानता है
- मुनीम जैसा रहता है
- भोगसामग्री से ज्यादा धर्म को मानता है
- भ्रमर के समान होता है
- सम्यग्दृष्टि की उदार भावनाएँ

४. सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के विचारों में अन्तर १२२
- भोग एवं योग की अपेक्षा
- कबूतर और तोते के समान
- विचारों की अपेक्षा
- भोगासक्ति की अपेक्षा
- शरीर और आत्मा के ज्ञान की अपेक्षा
- श्वान एवं सिंह की दृष्टि की अपेक्षा
- कषायों के आवेश की अपेक्षा
- मरते समय के विचार की अपेक्षा

५. सम्यग्दर्शन की दृढ़ता कैसे होती है १३७
- जिनशासन अनादि है
- जिनेन्द्रदेव ही वन्दनीय हैं
- क्या सम्यग्दृष्टि वयोवृद्ध को नमस्कार नहीं करता
- प्रभावती ने नमस्कार नहीं किया

६. किसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है १४४
- निदान करने से सम्यक्त्व नष्ट होता है
- गुरु निन्दक का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है
- संघश्री का सम्यक्त्व नष्ट हो गया

७. सम्यग्दृष्टि के चिह्न १४९
- प्रशम का लक्षण
- संवेग का लक्षण
- अनुकम्पा का लक्षण
- आस्तिक्य का लक्षण

८. सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग १६०
- नि:शंकित अंग
  अन्यथा शरणं नास्ति
- नि:कांक्षित अंग
- निर्विचिकित्सा अंग
- अमूढ़दृष्टि अंग
- उपगूहन अंग
- स्थितीकरण अंग
- वात्सल्य अंग
- प्रभावना अंग

९. सम्यग्दर्शन के गुण १८३

१०. सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष १८६

११. सम्यक्त्व की महिमा १९०

१२. सम्यग्दृष्टि क्या-क्या कार्य नहीं करता है १९९

१३. सम्यग्दृष्टि कहाँ उत्पन्न नहीं होता है २०२

१४. सम्यग्दर्शन के अतिचार २०३

१५. सम्यक्त्व का फल २०५

१६. परिशिष्ट २१०

१७. प्रशस्ति २१२

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

॥ श्रीमहावीराय नमः ॥ ॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥ ॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

卐 सम्यक्त्व मञ्जूषा 卐

१. भूमिका

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। वह सुख की प्राप्ति के लिए कभी अपनी इच्छित वस्तुओं का भोग करता है, कभी धर्म का अर्जन करता है, कभी नाना प्रकार की भोग सामग्रियाँ जुटाता है, कभी अपने पुरजन-परिजनों के साथ बैठकर खाता है, कभी खेलता है, कभी हँसता है, कभी आपस में बैठ कर बातें करता है, क्रीड़ाएँ करने के लिए बाग-बगीचों में जाता है, कभी गप-शप करता है। कभी यह सोचता है कि इच्छित पदार्थ का भोग कर लूंगा तो मेरी भोगों की तृष्णा शांत हो जायेगी लेकिन इससे इतनी ही शांति मिलती है जितनी खुजली चलने पर उसे खुजा लेने पर। जिस प्रकार खाज का रोगी खुजली करके खाज को मिटाना चाहता है लेकिन उसकी खाज मिटती नहीं है क्योंकि खुजली की बीमारी खुजाने से समाप्त नहीं होती है अपितु वृद्धि को ही प्राप्त होती है। एक बार खुजा लेने पर पुनःपुनः खुजाने की इच्छा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भोग भोगने से कभी इच्छाएँ शांत नहीं होतीं अपितु भोगों की लालसाएँ बढ़ती जाती हैं। कभी इन सबसे घबराकर यह तीर्थक्षेत्रों पर जाता है, जाप करता है, स्वाध्याय करता है। इन धार्मिक अनुष्ठानों से भी उसे उतनी ही शांति मिलती है जितनी घाव पर मल्हम लगाने पर होती है क्योंकि इन कार्यों को करके भी धर्म को प्रधान नहीं बना पाता है, क्षेत्रों पर जाता है तो ५-१५ मिनट मंदिर में भगवान की आराधना करता है और ४-६ घंटे पर्यटन में गँवाता है। जाप करने के फल में भी पंचेन्द्रिय विषयभोगों की आकांक्षा करता है। जो कुछ भी हो फिर भी संसारी प्राणी सुख की खोज तो करता ही है और जब तक इसे शाश्वत मोक्षसुख प्राप्त नहीं हो जायेगा तब तक वह सुख की खोज करता ही रहेगा। अन्य सबकी तो क्या बात मैं और आप सभी इसी प्रकार सुख की खोज में कमर कस करके जुटे हुए हैं और जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी जुटे रहेंगे। लेकिन यदि हमने सुखप्राप्ति का सही उपाय नहीं किया तो हमें कभी सुख

की प्राप्ति नहीं हो सकती अत: हमें सबसे पहले यह समझना है कि शाश्वत मोक्षसुख क्या है, उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है, यह किसको प्राप्त होता है? कैसे प्राप्त होता है? आदि।

आचार्य महाराज इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वही शाश्वत सुख है जो प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट नहीं होता, जिसको भोगने के लिए इन्द्रिय आदि किसी बाह्य संयोग सामग्री की आवश्यकता नहीं रहती, जिसका भोग करते हुए कभी ऊब नहीं आती है, जिसके भोग में कभी श्रम नहीं लगता और तो सब ठीक जिसकी प्राप्ति के लिए पुण्योदय की भी आवश्यकता नहीं होती और जो कभी न घटता है और न बढ़ता है। इसकी प्राप्ति मनुष्यों को ही होती है। इसकी प्राप्ति का उपाय रत्नत्रय की पूर्णता है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता है। इनमें से सबसे पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र नहीं होता है। इसलिए हमें सबसे पहले सम्यग्दर्शन के बारे में समझना चाहिए।

इस अवसर्पिणी काल में भगवान आदिनाथ स्वामी ने सबसे पहले धर्म का स्वरूप बताया। प्रभु की दिव्य देशना को समवसरण में विराजमान प्रथम गणधरदेव श्री वृषभसेन स्वामी ने ग्रहण किया। वहीं पर विराजित शेष तिरासी गणधरों ने, मुख्य श्रोता भरत चक्रवर्ती ने तथा समवशरण में बैठे हुए असंख्यात भव्य जीवों ने धर्म ग्रहण किया था, अंगीकार किया था। इसी परम्परा में अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने गौतम आदि गणधरों को तथा मुख्य श्रोता राजा श्रेणिक आदि को धर्म का प्रतिपादन किया था। उनकी दिव्यदेशना का ही कुछ अंश आज हमें प्राप्त हुआ है। उसी में से हमने (मैंने) गुरु की कृपा से कुछ अंश को प्राप्त किया है। उस अंश की प्राप्ति में मूल कारण चौबीस तीर्थंकर भगवान के चरणों में मेरा शत-शत वन्दन है। रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी भगवन्तों के चरणों में उनके समान ही बनने के लिए मेरा कोटि-कोटिश: वन्दन है।

वर्तमान में आचार्य शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा में आचार्य वीरसागरजी महाराज, उनके पट्ट शिष्य आचार्य शिवसागरजी महाराज, उनके प्रथम शिष्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के चरण कमलों में सिद्ध आदि भक्तिपूर्वक नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु । वर्तमान में साक्षात् विराजमान आचार्य गुरुवर परम पूज्य १०८ श्री विद्यासागरजी महाराज के चरणों में शत शत वन्दन। मुझे दीक्षा देकर संसार सागर से पार उतारने वाले, समाधि को प्राप्त परम पूज्य आचार्यकल्प गुरुवर १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज को भक्ति भाव पूर्वक बारम्बार-बारम्बार नमस्कार हो। माँ जिनवाणी जिसके बिना जीवन में विवेक आ ही नहीं सकता, जिसके प्रसाद से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है ऐसी माँ को मेरा बारम्बार नमोऽस्तु ...।

मेरी अग्रजा अनुग्रहकर्त्री आर्यिका माँ विशालमती माताजी को भी सविनय वंदामि। इस प्रकार मंगलाचरण करके मैं सम्यग्दर्शन के संदर्भ में कुछ कहने का प्रयास करूँगी। इसमें कोई गलती हो तो प्राज्ञ पुरुष मुझे क्षमा करें।

सामान्य से प्रत्येक मुमुक्षु के मन में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की जिज्ञासा रहती है, क्योंकि वह जानता है कि मोक्षप्राप्ति के लिए प्रथम सीढ़ी के रूप में सम्यग्दर्शन अति आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी संसार सागर से पार नहीं हो सकता है। संसार के दु:खों के कारणभूत कर्मों का नाश करने के लिए सम्यग्दर्शन आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र नकली सिक्के के समान मूल्यहीन होते हैं। जिस प्रकार नकली सिक्के पर सरकार का ठप्पा/हस्ताक्षर नहीं होने से उसका कुछ भी मूल्य नहीं होता है। चाहे वह १००० या १०,००० का रुपया/सिक्का/मुद्रा ही क्यों न हो, उससे ५ रुपये की वस्तु भी नहीं खरीदी जा सकती है। उसी प्रकार चाहे ग्यारह अंग नौ पूर्व का ज्ञान भी हो जावे तो भी सम्यग्दर्शन रूपी सरकार के हस्ताक्षर के अभाव में वह किंचित् मात्र सुख देने में समर्थ नहीं हो सकता है और न ही अनशनादि तप, आतापनादि योग, २२ परीषह को सहन करना आदि ही कुछ फल देने में सक्षम हो पाते हैं इसलिए हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। लेकिन जब तक हम सम्यग्दर्शन के बारे में नहीं जानेंगे तब तक हममें उसकी प्राप्ति का उपाय करने की रुचि कैसे उत्पन्न हो सकती है। अत: हम सबसे पहले सम्यग्दर्शन के बारे में यहाँ विचार करते हैं –

१. सम्यग्दर्शन क्या है?
२. सम्यग्दर्शन किसको होता है?
३. सम्यग्दर्शन कहाँ होता है?
४. सम्यग्दर्शन के कितने भेद हैं?
५. सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साधन क्या हैं?
६. सम्यग्दर्शन के क्या चिह्न हैं?
७. मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की क्या आवश्यकता है?

सम्यग्दर्शन क्या है?

१. सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।
२. तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना अथवा तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।
३. स्व-पर का विवेक होना सम्यग्दर्शन है।
४. अरिहंत से बढ़कर कोई देव नहीं है, दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और निर्ग्रन्थता से बढ़ कर कोई तप नहीं है। यही सम्यग्दर्शन का लक्षण है। **(स.कौ.)**
५. नि:शंकितत्वादि गुणों से युक्त सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व ही मोक्ष रूप स्थान की प्राप्ति के लिए निमित्तभूत है। ज्ञान सहित इसका जो आचरण है, वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। **(चा.पा. ८)**
६. अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त देव-शास्त्र और पदार्थों का तीनमूढ़ता रहित, आठ अंग सहित जो श्रद्धान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशमादि गुण वाला होता है। **(य.ति.च.)**

७. अचल मेरु भी कदाचित् चलायमान हो जावे, अग्नि कदाचित् शीत (ठण्डी) बन जावे तथा चंद्र में भी कदाचित् उष्णता प्रकट होने लगे परन्तु जिनेन्द्र भगवान के वचन कदापि अन्यथा नहीं हो सकते। ऐसी अचल श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है।

८. संसार में कोई भी देव या मनुष्य उत्कृष्ट (सर्वोच्च) नहीं है, क्योंकि सभी एक दूसरे से बढ़ कर पाये जाते हैं इसलिए उनका बड़प्पन अस्थिर है। वीतराग अर्हंत भगवान ही सबसे उत्कृष्ट हैं अत: वे ही पूज्य देव हैं। ऐसी अचल श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है।

९. शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल जिनेन्द्र भगवान हैं और मैं कालिमा मिश्रित अशुद्ध सुवर्ण के समान हूँ। जब मेरी कर्मकालिमा दूर हो जायेगी तब मैं जिनेन्द्र भगवान के समान शुद्ध निर्मल बन जाऊँगा। ऐसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सर्वप्रथम श्रावक धर्म का वर्णन करने वाले ग्रन्थराज श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्यप्रवर श्री समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन को सद्दृष्टि, श्रद्धान, रुचि, श्रद्धा, गुणप्रीति, दृष्टि, दर्शन, धर्म, निर्मोह, जिनेन्द्रभक्त, स्पष्टदृश आदि अनेक नामों से कहा है।

इस संसार में प्रत्येक आस्तिक व्यक्ति की किसी-न-किसी देव के प्रति आस्था अवश्य होती है। उसके भी अपने धार्मिक शास्त्र/ग्रंथ होते हें तथा उन शास्त्रों में कहे गये सिद्धान्तों के अनुसार चलने वाले गुरु होते हैं। लेकिन देव, शास्त्र, गुरु मात्र के श्रद्धान से तो सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान से होता है। कई भगवान/देव सच्चे देव जैसे लगते हैं लेकिन सच्चे देव नहीं होते, वे देवाभास होते हैं। कई शास्त्र-ग्रंथ जिनवाणी जैसे लगते हैं लेकिन वे जिनवाणी अर्थात् सच्चे शास्त्र नहीं होते, वे शास्त्राभास होते हैं। इसी प्रकार कई साधु भी गुरु जैसे होते हैं लेकिन वे सच्चे गुरु नहीं होते, वे गुर्वाभास होते हैं। इसलिए इनके श्रद्धान से सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

सच्चे देव तो वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी होते हैं। वीतरागता आये बिना देवत्व नहीं आ सकता क्योंकि जिनके राग-द्वेष होते हैं उनके कर्मों का बन्ध अवश्य होता है, कर्मबन्ध से संसार में पुन: पुन: जन्म-मरण होता है, जन्म-मरण के दु:ख होते हैं, संसार में परिभ्रमण होता है। संसार में परिभ्रमण करने वाले सच्चे देव कैसे हो सकते हैं? ऐसे देवों का श्रद्धान करने से अनन्त संसार को चुल्लू भर कर देने में समर्थ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? तीन लोक, तीन काल की बातों को प्रत्यक्ष जानने वाला सर्वज्ञ होता है। मोहनीय कर्म का नाश हुए बिना ज्ञानावरण कर्म का नाश नहीं होता और ज्ञानावरण कर्म का नाश हुए बिना सर्वज्ञता प्रकट नहीं होती। सर्वज्ञता प्रकट हुए बिना वस्तु के स्वरूप को पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता। वस्तुस्वरूप का उपदेश नहीं दिया जा सकता, आत्मकल्याण का मार्ग नहीं बताया जा सकता है। जो सर्वज्ञ होता है, वही संसार के प्रत्येक प्राणी के हित का उपदेश दे सकता है। जो स्वयं राग-द्वेष से रहित है वही राग-द्वेष को नष्ट करने की विधि बताने का अधिकारी है। जो विषय-कषायों से दूर हो गया है वही पञ्चेन्द्रियों को वश में करने, पञ्चेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने का उपाय बता सकता है। यही सच्चे भगवान जिनेन्द्रदेव का लक्षण है। इन्हीं के मुखारविन्द से निकली हुई ज्ञान गङ्गा है। वही सच्चा शास्त्र कहलाती है। इसी शास्त्र

का श्रद्धान संसार भ्रमण को समाप्त करने में समर्थ हो सकता है। अन्य किसी शास्त्र का श्रद्धान नहीं। विषय-कषायों में लिप्त जिह्वालोलुपी, अपना उल्लू सीधा करने वाले और समय देखकर गिरगिट के समान रंग बदलने वालों के द्वारा कहा गया आगम/तत्त्व सच्चा शास्त्र नहीं हो सकता है, वही शास्त्राभास की कोटि में आता है।

जिस प्रकार कनक धतूरे को भी कहते हैं और कनक स्वर्ण को भी कहते हैं पर इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। इसी प्रकार धर्म-अधर्म में मौलिक अन्तर है। गाय भी दूध देती है और मदार वृक्ष से भी दूध निकलता है। दूध रूप दोनों में समान है किन्तु गाय का दूध पीने में स्वादिष्ट और गुणकारी होता है और मदार का दूध प्राणनाशक। इसी प्रकार संसार के अनेक धर्म धर्म के समान दिखाई पड़ते हैं पर उनमें बड़ा अन्तर होता है। वे धर्म न होकर धर्माभास हैं। गाय के घृत और भेलमा के घृत में भी पर्याप्त भेद है। गाय के घृत को खाने से स्वास्थ्य में वृद्धि और भेलमा के घृत को खाने से पेट में दर्द, जलन, घाव आदि हो जाते हैं। इसी प्रकार सत्य धर्म प्राणिमात्र का उत्थान करता है, लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को व्यवस्थित करता है तथा आत्मा को अल्पकाल में निर्वाण पद भी मिल जाता है। अन्य धर्म धर्म जैसे लगते हैं पर वे धर्म सुख शांति नहीं दे सकते हैं। वे धर्म नहीं धर्माभास हैं। **(धर्मा.)**

जहाँ तक रंग का सम्बन्ध है संसार के सभी दूध एक श्वेत रंग के ही होते हैं। लेकिन उनकी रासायनिक शक्तियों का विचार करने पर प्रत्येक में अलग-अलग अनेक गुण पाये जाते हैं। कारण कुछ ऐसे दूध होते हैं जिन्हें पीते ही जीव और पुद्गल का सम्बन्ध टूट जाता है और दूसरे ऐसे होते हैं जिनके उपयोग से मृततुल्य शरीर भी लहलहा उठते हैं। संसार में प्रचलित नाना प्रकार के धर्मों की भी यही अवस्था है, नाम के लिए सभी धर्म हैं, पर उनके तत्त्व, आचरण, ज्ञान आदि गुणों में बड़ा अन्तर है। जबकि कुछ धर्मों को अंगीकार करने से जीव अथाह दु:खसागर में डूब जाते हैं तो दूसरे धर्म का सहारा पाते ही प्राणी आनन्द के साथ सुखसागर में गोते लगाते हैं। किन्हीं धार्मिक सिद्धान्तों से जुड़े आचरण जीव को नरक में धकेल देते हैं, दूसरी धार्मिक मान्यताएँ प्राणियों को तिर्यञ्च गति की वेदनाएँ सहन करवाती हैं, अन्य धार्मिक तत्त्वों का श्रद्धान और आचरण जीवों को मनुष्यगति में आने का अवसर देता है तथा शेष शुभ और शुद्ध उपयोग की प्रेरणा देने वाले धर्म इस जीव को क्रमश: स्वर्ग और अपवर्ग पदों पर स्थापित करते हैं। **(व.चा.)** ज्ञानी जीव अथवा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को इन सबमें से सच्चे धर्म को समझ कर श्रद्धा-आचरण करना चाहिए।

इसी प्रकार जो विषय-कषायों से विरक्त हैं, आरम्भ-परिग्रह से रहित हैं तथा ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं। गृहस्थों के समान षट्काय के जीवों की हिंसा में लिप्त रहने वाले, पत्नी, बच्चे, घर आदि परिग्रह के भार से दबे हुए, गांजा, चिलम आदि अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करने वाले गुरु नहीं हो सकते हैं, वे गुर्वाभास होते हैं उनकी श्रद्धा से सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो सकता है कदापि नहीं।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु का श्रद्धान करने से होती है अत: हम सबसे पहले उनके लक्षण समझने का प्रयास करते हैं –

सच्चे देव का लक्षण

जो क्षुधादि दोषों से रहित हैं, परमौदारिक शरीर से सहित हैं, तत्त्वों का उपदेश करते हैं, समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जानते हैं तथा समस्त सत्पुरुषों के स्वामी हैं वे आप्त हैं अर्थात् जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हों वे ही सच्चे देव आप्त हैं। **(आ.सा. ३/४)**

जिनके आत्मा सम्यग्दर्शन तथा ज्ञान रूपी सूर्य के आलोक से प्रकाशित हो रहे हैं, निर्दोष उग्र तपस्या के प्रभाव से जिनकी देह से एक अलौकिक कान्ति बिखर पड़ती है, इन्द्रिय रूप घोड़े जिनके संकेत पर चलते हैं, जो मन तथा इन्द्रियों का परिपूर्ण दमन करने वाले हैं, जो आठों प्रकार के मद से अति दूर हैं, जिनके अंतरंग भाव अत्यन्त निर्मल हो चुके हैं ऐसे अनेक गुणों के भंडार महर्षि ही सत्य आप्त हो सकते हैं। दैहिक परिश्रम, निद्रा तथा क्लेश को जिन्होंने जीत लिया हो; विषाद, चिंता तथा आश्चर्य जिनके हार कर शांत हो गये हैं, भूख-प्यास, रोग तथा व्याधि जिनको छू भी नहीं सकती है, पसीना, मूत्र आदि मल जिनकी दिव्य देह को दूषित नहीं करते हैं। वे ही महापुरुष सत्य आप्त/सच्चे देव कहलाते हैं। उनके स्वभाव तथा अन्य गुणों के उपमान वे ही हो सकते हैं, कोई दूसरा नहीं। अर्थात् संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिससे भगवान के गुणों की तुलना की जा सके या उपमा दी जा सके। विश्व में कोई भी आत्मा ऐसी नहीं है जो राग-द्वेष के रंग में न रंगी हो, यहाँ मूर्खता तथा दोष करने की प्रवृत्ति सब जीवों में है, किन्तु संसार भर में व्याप्त वे सब दोष उन अर्हन्त केवली में नहीं होते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी समस्त पापरूपी कालिमा को धो डाला है। यही कारण है कि आचार्यों ने उन्हें ही सत्य आप्त माना है। **(वरांग चरित)**

जो क्षुधा, प्यास, वृद्धावस्था, रोग आदि अठारह दोषों से सर्वथा रहित हैं, जो कर्मों का नाश कर मुक्तिपति हुए हैं, जो सर्वोत्कृष्ट, अप्रतिहत, केवलज्ञानरूप प्रकाश के धारक हैं ऐसे जिनेश्वर परमार्थ अर्थात् सच्चे देव कहलाते हैं। **(सि.सा. १/३४)**

सच्चे गुरु का लक्षण

जो धन्य, धान्यादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह तथा क्रोधादि चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों के त्यागी हैं और निर्ग्रन्थ हैं तथा जो ग्रन्थ शास्त्र से युक्त हैं अर्थात् स्व-पर के ज्ञाता हैं, जो कर्म भार के नष्ट होने से लघु हुए हैं तथा सम्यग्ज्ञानादि गुणों से जो उच्च भारी हुए हैं उनको गणधर देव गुरु कहते हैं। **(सि.सा. १/३७)**

जो दिगम्बर हैं, निरारम्भ (आरम्भ रहित) हैं, नित्यानन्द पद के इच्छुक हैं, जो धर्म को बढ़ाने वाले हैं, जो कर्मों को जलाने वाले हैं, वे साधु हैं। ऐसा बुधजनों ने कहा है।

शरीर में निर्ममता, गुरु में विनय, नित्य श्रुत का अभ्यास, चारित्र में निर्मलता, महान् उपशम भाव, संसार से विरक्ति, अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग, धर्म के स्वरूप का ज्ञान आदि संसार का विनाश करने वाले साधुओं के लक्षण हैं। **(सज्जनचित वल्लभ)** । चारित्र के धारक जो मुनिराज तृण और रत्नों में समान बुद्धि रखते हैं, जो राग-द्वेष से रहित होते हुए शत्रु और मित्र को समान समझते हैं और अधिक कहने से

क्या, किन्तु जो अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते हैं वे ही त्रिलोक पूज्य उत्तम पात्र अर्थात् सच्चे गुरु होते हैं। जो सुन्दर युवतिसमूह को घास के समान व सुवर्ण को मिट्टी के ढेले के समान भी नहीं मानते हैं। जो हिमालय पर्वत के समान उन्नत सुन्दर प्रासाद को घास की झोंपड़ी के समान मानते हैं वे उत्तम पात्र होते हैं। **(धर्म. रत्ना.)**

जो पाप से रहित तथा नि:स्पृह हैं और जो हेय-उपादेय को समझने वाली विशाल बुद्धि के धारक हैं, ऐसे गुरुओं के विचार चतुर (कुशलतर) उपदेशों से बुधजन धर्म को अर्थात् आत्महितकर धर्म को ग्रहण करते हैं। सत्य पदार्थ स्वरूप जानने वाले गुरुओं का दुर्लभ उपदेश सुनने वाले संसारी जीवों को इस जगत में सम्पूर्ण वैभव सुलभता से प्राप्त होता है। अज्ञान रूप अंधकार समूह से वस्तुओं को अवलोकन करने की जिनकी शक्ति नष्ट हुई है ऐसे भव्य जीव गुरु रूपी सूर्य की वचनरूपी किरणों से सूक्ष्म पदार्थों को देखते हैं। गुरूपदेश के प्रयोग से सभी मनुष्य मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान रूपी सन्निपात ज्वर की पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं। संसार समुद्र में डूबे हुए तथा कर्मरूपी मगर मत्स्यादिकों से पीड़ित हुए भव्य जीव जो भव्यचित्त रत्नत्रय प्राप्ति के योग्य मन के धारक हैं उनके लिए गुरु नौका के समान संसार तारक होते हैं। सद्गुरु के बिना भी जो संसार समुद्र से तैर जाने की इच्छा करते हैं वे मूढ़ जीव आयुकर्म से रहित होकर भी जीने की इच्छा करते हैं। जिन्होंने गुरु उपदेश का उल्लंघन किया है वे लोग अन्तर्मुहूर्त काल में भी सतत अनेक योनियों में क्षुद्रभव धारण करके भ्रमण करते हैं।

क्षुद्रभव एक अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ होते हैं। **(गो.जी. १२३)**

जो सद्गुरु तत्त्व और अर्थ को भली भाँति जानते हैं वे संसार समुद्र के मोहरूपी तूफान के थपेड़े खाकर लहरों में डूबते हुए प्राणियों को सरलता से उबार लेते हैं और सम्यग्ज्ञान रूपी नाव पर चढ़ाकर अनन्त सुखों के भण्डार जिनधर्मरूपी नगर में पहुँचा देते हैं। भाई-बन्धु और हितैषियों का लेखा करने पर इस संसार में उनसे बढ़कर हितैषी और प्रेमी-बन्धु दूसरा और कौन हो सकता है, जो जन्म-मरण रूपी घने जंगलों की टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों में रास्ता भूले हुए संसारी प्राणियों को पूर्ण वैराग्य और शांतिरूपी कल्याणकारी मार्ग को पूर्ण रूप से दिखा देते हैं।

सच्चा शास्त्र

इस संसार में उपलब्ध शास्त्र भी तीन प्रकार के हैं – कुछ शास्त्र ऐसे हैं जिनका श्रवण और मनन धार्मिक प्रवृत्ति को बढ़ाता है, दूसरे कुछ शास्त्रों पर आस्था करने से आत्मा की पाप प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन मिलता है और कुछ अन्य शास्त्रों के पठन-पाठन से मनुष्य को पाप-पुण्यमय मिश्र चेष्टाएँ करने का चाव होता है। फलत: क्रमश: इनके फल भी सुख, दु:ख और सुख-दु:ख होते हैं। संक्षेप में यों समझिये कि धर्मानुबन्धी शास्त्रों के श्रवण और पठन से शुद्ध सुख की ही प्राप्ति होती है, पापानुबन्धी शास्त्रों के पठन-पाठन का फल केवल दुख संगम ही होता है, और मिश्रानुबन्धी शास्त्रों के अभ्यास करने से मनुष्य मिले हुए सुख और दु:ख दोनों को भरता है। थोड़े में शास्त्रों का यही वर्गीकरण है। **(व.चा.)**

सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए **आचार्य विद्यानन्द स्वामी श्लोकवार्तिकालंकार ग्रन्थ** में कहते हैं कि सम्यक् का अर्थ है समीचीन, प्रशंसनीय अर्थात् स्वर्ग और मोक्ष सुख जो लोक में प्रशंसनीय माने गये हैं। ऐसे प्रशंसनीय सुख को देने वाला दर्शन अर्थात् श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यहाँ दृश् धातु देखने/अवलोकन करने आदि अर्थ में होने पर भी श्रद्धा अर्थ में लेना चाहिए क्योंकि देखना चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से जुड़ा होता है, चक्षु इन्द्रिय का विषय ही पदार्थ को देखकर जानना है और श्रद्धा आत्मा के साथ जुड़ी होती है, क्योंकि उसके फलरूप स्वर्ग-मोक्ष के सुखों की प्राप्ति आत्मा को ही होती है। आत्मा में ही रत्नत्रय धारण करने की योग्यता होती है, आत्मा ही संवेदन शक्ति से युक्त होता है।

अथवा, आत्मतत्त्व का श्रद्धान या सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है आदि अनेक प्रकार के लक्षण आगम ग्रन्थों में बताये गये हैं। वे सब एक-दूसरे में गर्भित हो जाते हैं। कहीं आत्मा को प्रधान करके तो कहीं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को प्रधान करके कथन किया जाता है। कहीं तत्त्वार्थ को मुख्य करके तो कहीं स्व-पर विवेक को मुख्य करके वर्णन किया जाता है। चारों अनुयोगों की भाषा अपनी-अपनी मुख्यता से होती है और कहीं-कहीं श्रोता की रुचि एवं वक्ता के अभिप्राय से भी भिन्न-भिन्न वचनों में सम्यग्दर्शन का विवेचन होता है अर्थात् यदि श्रोता महापुरुषों के जीवन से प्रभावित है तो उसे प्रथमानुयोग का, जिसको त्याग-तपस्या के प्रति आकर्षण है तो उसे चरणानुयोग का, जिसको गणित के विषय में रुचि है उसे करणानुयोग का एवं जिसको जीवादि पदार्थों/तत्त्वों को जानने की विशेष इच्छा है उसे द्रव्यानुयोग का एवं जिसे स्व-पर विवेक रूप अध्यात्म सुनने का भाव है उसे अध्यात्म को मुख्य बनाकर उपदेश दिया जाता है। जैसे म्लेच्छ लोगों को समझाने के लिए उनकी भाषा का ही प्रयोग आवश्यक होता है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण बताते समय प्रथमानुयोग में भाव साधन, करणानुयोग में करण साधन, चरणानुयोग में कर्म (चर्या) साधन तथा द्रव्यानुयोग में कर्तृसाधन मुख्य रहता है।

घने जंगलों में भटकते हुए अथवा किसी छोटे-मोटे गाँव में पापी जीवों को भी भाग्य से कभी निर्ग्रन्थ गुरुओं के दर्शन हो जाने पर और उनके द्वारा पापों के फलों को सुनकर धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होकर पाप के त्याग रूप बुद्धि उत्पन्न होती है वही **प्रथमानुयोग** का सम्यग्दर्शन है। जैसे – मृगसेन धीवर ने अहिंसा की महिमा एवं हिंसा के दुष्फल को सुनकर पहली मछली को जीवनदान देने का नियम लिया था। यमपाल चाण्डाल ने चतुर्दशी के दिन हिंसा का त्याग किया था। पुरुरवा भील ने कौए के माँस का त्याग किया था, आदि आदि। ये तत्त्वों के स्वरूप को नहीं जानते हुए भी गुरु वचनों पर श्रद्धा करने से मोक्षगामी हुए।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों में यथायोग्य प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के कथन से **करणानुयोग** की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानी जाती है।

छह द्रव्य, सात तत्त्व, पंचास्तिकाय आदि का यथार्थ श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ऐसा कहना **द्रव्यानुयोग** की अपेक्षा सम्यग्दर्शन है।

जीवों पर दया करना, जिनेन्द्र भगवान की आराधना करना, अभक्ष्य पदार्थों से दूर रहना, विषयों में आसक्ति नहीं होना, एक-दूसरे से वैर भाव नहीं रखना, किसी से लड़ाई-झगड़ा हो जाने पर बोल-चाल, आना-जाना बंद नहीं करना आदि, यह सम्यग्दर्शन है इस प्रकार कहना **चरणानुयोग** की अपेक्षा सम्यग्दर्शन है।

जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान में/स्वरूप को जानने में होने वाली भूल के समाप्त होने पर अपनी आत्मा और शरीर की भिन्नता का ज्ञान होने पर या स्व-पर का विवेक होने पर सम्यग्दर्शन होना **अध्यात्म भाषा** में सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

जिस प्रकार जिसको मीठा पसन्द होता है वह भोजन में मीठे को प्रधानता देता है। जिसको नमकीन पसंद होता है वह नमकीन को तथा जिसको खटाई में रुचि होती है वह भोजन का मुख्य अंग खटाई को बनाता है। लेकिन भोजन करने का सभी का उद्देश्य भूख मिटाना ही होता है। उसी प्रकार किसी को किसी भी अनुयोग की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, सबका उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति, आत्मिक सुख प्राप्त करना ही होता है। संसार-समुद्र को पार करना है। क्षुधा मिटाने का उद्देश्य बना कर कोई समझदार व्यक्ति जहर का भक्षण नहीं करता है अथवा जहर खाने से कभी क्षुधा शान्त नहीं होती है। उसी प्रकार आत्मिक सुख प्राप्त करने के लिए कोई सरागी देवों की आराधना श्रद्धा नहीं करता अथवा सरागी मिथ्या देवों की आराधना से कभी आत्मिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जिसके पास जो होता है वह वही दूसरे को दे सकता है, इसलिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण कहा गया है। मिथ्यादेवादि की चाहे अचल/दृढ़ श्रद्धा भी कर ली जावे तो भी आत्मिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी श्रद्धा अटल होने पर भी प्रशंसनीय नहीं होने से मोक्षमार्ग में कारण/साधन नहीं हो सकती। अत: सम्यग्दर्शन ही मोक्ष, आत्मिक, शाश्वतसुख का मूल कारण है, वह सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ की श्रद्धा रूप या सच्चे देवादि की श्रद्धा रूप कहा गया है। इसलिए जिन्हें आत्मिक सुख प्राप्त करने की इच्छा है, उन्हें सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के साधन जुटाना चाहिए अर्थात् उन्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करना चाहिए।

कोई कहे कि क्या सच्चे देव का श्रद्धान करने मात्र से या जीव तत्त्व के श्रद्धान मात्र से सम्यग्दर्शन हो सकता है? हाँ, किसी अपेक्षा केवल सच्चे देव का श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन हो जायेगा, क्योंकि जिसको सच्चे देव का श्रद्धान हो गया तो उसे सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र का श्रद्धान भी अवश्य हो ही जायेगा। उसका भी कारण यह है कि सच्चे देव के द्वारा कहा हुआ ही शास्त्र सच्चा होता है और जिनेन्द्र देव के द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलने वाले ही गुरु सच्चे होते हैं। इसी प्रकार जिसको जीव तत्त्व का सही श्रद्धान हो गया उसको अजीवादि सभी तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान हो जायेगा क्योंकि चैतन्य स्वभाव से भिन्न संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे अजीव, जड़ द्रव्य हैं, अचेतन हैं अर्थात् सामान्य रूप से दो ही द्रव्य हैं - १. जीवद्रव्य २. अजीवद्रव्य।

आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने **द्रव्य संग्रह** में इसी बात को कहा है –

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिदिट्ठम् ।

अर्थात् जीव और अजीव ये द्रव्य हैं, आस्रवादि शेष भी इन्हीं के विस्तार हैं।

जिस प्रकार एक घड़ा यदि उल्टा रख दिया है तो उस पर रखे जाने वाले सभी घड़े उल्टे ही रखे जायेंगे। और यदि एक घड़ा सीधा रखा गया है तो उसके ऊपर रखे जाने वाले सभी घड़े सीधे ही रखे जायेंगे। कभी सीधे घड़े पर उल्टा और उल्टे घड़े पर सीधा घड़ा नहीं रखा जा सकता है। उसी प्रकार एक तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान होने पर शेष तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान हो ही जाता है और एक तत्त्व का विपरीत श्रद्धान होने पर सभी तत्त्वों का श्रद्धान विपरीत हो जाता है। इसी प्रकार यदि अपनी आत्मा का जिसे यथार्थ श्रद्धान हो गया वह कभी पर-पदार्थों को आत्मस्वरूप नहीं मान सकता, आत्मा रूप से श्रद्धान नहीं कर सकता है। यही स्व-पर विवेक कहलाता है। ऐसे स्व-पर विवेक से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यह भी तत्त्वार्थ श्रद्धान, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान में ही गर्भित हो जाता है।

सम्यग्दर्शन के विषय में विचार

कई लोग कहते हैं कि जब कोई एक स्थान पर बैठकर अपनी आत्मा का ध्यान करता है तब उसे चिच्चमत्कार ज्योति स्वरूप एक अद्‌भुत प्रकाश दिखाई देता है, वही सम्यग्दर्शन है। ऐसी परिभाषा सुनकर सामान्य व्यक्ति को ऐसा लगता है कि हमें तो आज तक ऐसा प्रकाश पुंज दिखाई ही नहीं दिया। इसलिए हम तो मिथ्यादृष्टि ही हैं और कई लोग ध्यान में बैठकर इस प्रकार के प्रकाश को देखने की कोशिश करते हैं। उन्हें कभी-कभी भ्रम से ऐसा प्रकाश दिख भी जाता है। अथवा यह भ्रम हो जाता है कि मुझे आत्मा का दर्शन हो गया है इसलिए सम्यग्दर्शन हो गया। ऐसा कहने वाले सोचें कि क्या आत्मा कोई मूर्तिक पदार्थ है कि जिसमें से वर्ण रूप प्रकाश निकलता हो, जो सम्यग्दर्शन होते समय दिखता हो। आत्मा तो अमूर्तिक है वह चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से नहीं दिख सकता है अत: इस प्रकार का लक्षण बनाना उचित नहीं है। इसे सुनकर कोई कहता है, आखिर आत्म-साक्षात्कार हुए बिना सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है? इसलिए सम्यग्दर्शन होते समय कुछ-न-कुछ दिखता तो अवश्य ही होगा। ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आत्मा दिखता नहीं है आत्मा की अनुभूति होती है। सामान्य से आत्मा की अनुभूति सभी जीवों को होती है और शुद्धात्मा की अनुभूति जब आत्मा में सभी विकार नष्ट हो जाते हैं तब होती है। सम्यग्दर्शन- प्राप्ति के समय शरीर, कुटुम्ब, परिवार, धन, वैभव आदि शेष सभी द्रव्य भिन्न हैं; मुझे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही शरणरूप हैं इनका आश्रय लेने से ही मुझे सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है; इस प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न होती है।

कोई कहता है कि भगवान के दर्शन-पूजन, अभिषेक आदि करते रहना सम्यग्दर्शन है, कोई कहता है कि नियमों को नहीं तोड़ना सम्यग्दर्शन है, कोई कहता है कि संक्लेश, कषाय आदि खोटे भाव नहीं करना सम्यग्दर्शन है, कोई कहता है जिनेन्द्र भगवान को छोड़कर अन्य किसी देव की आराधना नहीं करना सम्यग्दर्शन है, कोई कहता है सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के चरणों में समर्पित रहना सम्यग्दर्शन है आदि-आदि। अनेक प्रकार के विकल्प रूप सम्यग्दर्शन के लक्षण माने गये हैं लेकिन ये कोई सम्यग्दर्शन के लक्षण नहीं हैं। ये तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए परिकर स्वरूप हैं। जिस प्रकार खाद, पानी, भूमि, मिट्टी आदि बीज को अंकुरित करने में सहायक कारण हैं लेकिन यदि बीज अच्छा नहीं है तो खाद, पानी आदि कुछ भी नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार यदि श्रद्धा रूपी बीज नहीं हो तो मंदिर जाना, स्वाध्याय करना आदि कुछ भी

कार्यकारी नहीं बनते हैं फिर भी इनका होना आवश्यक तो है। इन सबके अर्थात् जैसे खाद, पानी, उपजाऊ भूमि आदि के बिना बीज अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के लिए भी इन बाह्य परिकरों की यथायोग्य आवश्यकता रहती है।

दूसरी बात श्रद्धा तो आत्मा के सम्यक्त्व गुण की पर्याय है जो अमूर्तिक है इसलिए वह कभी दिखाई नहीं देती है। उसकी अनुभूति होती है कि मुझे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु अथवा अपनी आत्मा पर कितना विश्वास उत्पन्न हुआ है और इन्हें छोड़कर अन्य सरागी देवों के प्रति मेरे अन्दर कितना आकर्षण है, उनमें (सरागी देवों में) मेरे से कुछ तो बड़े हैं ही अथवा मेरे कार्य की सिद्धि में ये कुछ सहयोग तो कर ही सकते हैं आदि-आदि कैसे भाव उत्पन्न होते हैं या हो रहे हैं। अथवा जिनेन्द्र देव को छोड़कर और किसी से मेरे कार्य की सिद्धि तीन काल में नहीं हो सकती है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति जिनेन्द्रदेव के बिना और किसी से नहीं हो सकती। आज तक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं उन्होंने इन्हीं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान किया था, भविष्य में जो भी मोक्ष जायेंगे वे इन्हीं की श्रद्धा से जायेंगे तथा वर्तमान में भी जो मोक्ष जा रहे हैं वे इनकी श्रद्धा से जा रहे हैं, यदि ऐसी श्रद्धा है तो समझना चाहिए कि मुझे सम्यग्दर्शन हुआ है या मुझे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है।

सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है - १. सराग सम्यग्दर्शन २. वीतराग सम्यग्दर्शन ।

सराग सम्यग्दर्शन - जो सम्यक्त्व प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चिह्नों से पहचाना जाता है वह सराग सम्यग्दर्शन है। **(ध.र. १०/२०)** अथवा राग सहित जीवों के जो सम्यक्त्व होता है वह सराग सम्यक्त्व है।

वीतराग सम्यग्दर्शन - आत्मशुद्धि मात्र को करने वाला सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है जो उपशान्त मोहादि गुणस्थानवर्ती जीवों के होता है उसे वीतराग सम्यग्दर्शन जानना चाहिए। **(स.कौ.)**

अथवा – १. निसर्गजसम्यक्त्व २. अधिगमजसम्यक्त्व

निसर्गजसम्यक्त्व-बाह्य में किसी के उपदेश के बिना जो श्रद्धा होती है वह निसर्गज सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के अंतरंग कारण निकट भव्यता, ज्ञानावरणादिक कर्मों की हानि, संज्ञीपना और शुद्ध परिणाम हैं तथा बाह्य कारण उपदेश आदिक हैं। आशय यह है कि जो कोई निकट भव्य हो जिसे सम्यग्दर्शन के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्ति प्राप्त हो गयी है; उसमें किसी तरह की रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहा है। भिक्षा, क्रिया, बातचीत को ग्रहण करने में निपुण पाँचों इन्द्रियों और मन से जो युक्त है। नये बर्तन की तरह जिसमें दुर्वासना की गंध नहीं है, वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शन के लिए स्फटिक मणि के दर्पण के समान स्वच्छ है। ऐसे जीव के पूर्वभव के स्मरण से, कष्टों के अनुभव से, धर्मश्रवण से, जिनबिम्ब के दर्शन से, महामहोत्सवों के अवलोकन से, ऋद्धिधारी आचार्यों के दर्शन से, मनुष्यों और देवों में सम्यक्त्व के माहात्म्य से उत्पन्न हुए वैभव को देखने से या अन्य किसी

कारण से विचार रूपी वन में मन को न भटकाकर जब जीवादिक पदार्थों में ज्यों-का-त्यों श्रद्धान होता है तो उस सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं, क्योंकि जैसे धान्य कृषक द्वारा सुलभता से स्वयं कट जाते हैं अथवा सदाशयी स्वयं ही विनीत हो जाते हैं। उसी तरह उसमें कर्त्ता को श्रम नहीं करना पड़ता है। **(य.ति.च. २०९-१०)**

अधिगमजसम्यक्त्व : जब संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से युक्त ज्ञान वाले मनुष्य के श्रद्धा, युक्ति और आगम के निकट होकर प्रमाण-नय-निक्षेप और अनुयोग के द्वारा अवगाहन करने के योग्य समस्त शास्त्रों की परीक्षा करने का कष्ट उठाकर चिरकाल के पश्चात् समस्त दुराशा रूपी रात्रि के विनाश के लिए सूर्य की किरणों के समान जो तत्त्व रुचि उत्पन्न होती है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं, क्योंकि जैसे - मैंने यह हार बनाया है या मैंने यह रत्नजटित आभरण बनाया है वैसे ही कर्त्ता के द्वारा विहित परिश्रम से उत्पन्न हुए अधिगम ज्ञान से वह प्रकट होता है। **(य.ति.च. २०९-१०)**

बाह्य में उपदेश को सुनकर जो श्रद्धा होती है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है - १. उपशम सम्यक्त्व २. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ३. क्षायिक सम्यक्त्व।

१. उपशम सम्यक्त्व : दर्शन मोहनीय की तीन मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति तथा चारित्रमोहनीय की ४ अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, इन सात प्रकृतियों का उपशम होने पर आत्मा में जो निर्मलता आती है वह उपशमसम्यक्त्व है।

२. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व : उपर्युक्त सात प्रकृतियों का क्षयोपशम होने पर जो श्रद्धा होती है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

३. क्षायिक सम्यक्त्व : उपर्युक्त सात प्रकृतियों का क्षय होने पर जो श्रद्धा होती है वह क्षायिक सम्यक्त्व है।

सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है - १. आज्ञा सम्यक्त्व २. मार्ग सम्यक्त्व ३. उपदेश सम्यक्त्व ४. सूत्र सम्यक्त्व ५. बीज सम्यक्त्व ६. संक्षेप सम्यक्त्व ७. विस्तार सम्यक्त्व ८. अर्थोत्पन्न सम्यक्त्व ९. अवगाढ़ सम्यक्त्व १०. परमावगाढ़ सम्यक्त्व।

आज्ञा सम्यक्त्व : सर्वज्ञदेव की आज्ञा के निमित्त से जीवादि द्रव्यों में जो दृढ़ रुचि/श्रद्धा होती है वह उत्तम आज्ञा सम्यक्त्व है। भगवान अर्हन्त के द्वारा उपदिष्ट आगम की अनुमोदना करने का नाम आज्ञा है। इस आज्ञा के निमित्त से जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं।

मार्ग सम्यक्त्व : परिग्रह रहित और पाणिपात्र भोजी साधु आदि के लक्षण वाले निर्ग्रन्थ धर्म को सुनकर दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है वह मार्ग सम्यक्त्व है। रत्नत्रय विषयक विचार की उत्पत्ति का नाम मार्ग और उसमें होने वाली तत्त्वरुचि मार्ग सम्यग्दर्शन है।

उपदेशसम्यक्त्व : तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराणों के सुनने से जो आत्म निश्चय या धर्म श्रद्धान उत्पन्न होता है वह उपदेशसम्यक्त्व है। शलाका पुरुषों के चारित्र के सुनने का अभिप्राय उपदेश है और उससे होने वाली तत्त्व रुचि का नाम उपदेश सम्यक्त्व है।

सूत्र सम्यक्त्व : आचारादि अंगों में कही गयी तपश्चरण क्रिया के सुनने से ज्ञानियों को उसमें रुचि उत्पन्न होती है वह सूत्र सम्यक्त्व है। जो मुनिधर्म के निरूपण का पात्र है उसे सूत्र कहते हैं और उस सूत्र के आश्रय से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा सूत्र सम्यक्त्व है।

बीजसम्यक्त्व : बीज पदों को ग्रहण करने से और उनके सूक्ष्म अर्थ के सुनने से भव्य जीवों के जो तत्त्वार्थ में रुचि उत्पन्न होती है वह बीज सम्यक्त्व है। समस्त आगमांशों का सूचक जो पद है उसका नाम बीज है और उसके आश्रय से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह बीज सम्यक्त्व है।

संक्षेपसम्यक्त्व : जीवादि पदार्थों के संक्षेप कथन को सुनकर ही जो बुद्धिमानों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सुख का कारण संक्षेप सम्यक्त्व कहा जाता है। आप्त, श्रुत, व्रत और पदार्थ के संक्षेप रूप कथन के प्रयत्न का नाम संक्षेप व उसमें होने वाले तत्त्व श्रद्धान का नाम संक्षेप सम्यक्त्व है।

विस्तारसम्यक्त्व : जीवादि पदार्थों के विस्तारयुक्त कथन को सुनकर प्रमाण और नयों के विस्तार द्वारा जो धर्म में निश्चय उत्पन्न होता है वह विस्तार सम्यक्त्व है। बारह अंग, चौदह पूर्व और प्रकीर्णक इन भेदों के विस्तीर्ण श्रुत के अर्थ के समर्थक प्रस्तार का नाम विस्तार है तथा उससे जो तत्त्व रुचि उत्पन्न होती है वह विस्तार सम्यग्दर्शन है।

अर्थ सम्यक्त्व : द्वादशांग श्रुत रूप समुद्र का अवगाहन कर कथन विस्तार को छोड़कर और अर्थ मात्र का अवधारण करके जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अर्थ सम्यक्त्व है। जो प्रवचन के विषय में अपने को ज्ञान कराने में समर्थ अर्थ है उसके आश्रय से उत्पन्न होने वाली तत्त्व रुचि को अर्थ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अवगाढ़ सम्यक्त्व : अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य श्रुत के रहस्य चिन्तन से क्षीणकषायी योगी के जो दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है वह अंग बाह्य सम्यक्त्व है। केवली, श्रुतकेवली तथा आरातीय आचार्य विरचित तीन प्रकार के आगम में पूर्णतया किसी एक का परिशीलन करने से जो तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न होती है वह अवगाढ़ सम्यग्दर्शन है।

परमावगाढ़ सम्यक्त्व : केवलज्ञान के द्वारा अवलोकित समस्त पदार्थों पर चरम सीमा को प्राप्त जो अत्यन्त दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है वह परमावगाढ़ सम्यक्त्व है। अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान एवं केवल-ज्ञान से अधिक पुरुष के प्रत्यय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह परमावगाढ़ सम्यक्त्व है। **(वी.व.चा. १९/१४१-४२, धर्म रत्ना. १०/२१, ५)**

प्रश्न : इन दस सम्यक्त्वों में से वर्तमान में कौनसा सम्यक्त्व हो सकता है?

उत्तर : उपर्युक्त दस प्रकार के सम्यक्त्वों में से वर्तमान में द्वादशांग श्रुत उपलब्ध न होने से विस्तार

सम्यक्त्व, अर्थ सम्यक्त्व, अवगाढ़ सम्यक्त्व तथा परमावगाढ़ सम्यक्त्व नहीं हो सकता है अर्थात् आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व और संक्षेपसम्यक्त्व हो सकते हैं। इसी प्रकार इस पंचमकाल में केवली, श्रुतकेवली का अभाव होने से क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता है।

श्रद्धा करने वाले के परिणाम और उस श्रद्धा के विषयभूत जीव अजीवादि तत्त्व, उनके भेदों से उस सम्यक्त्व के असंख्यात और अनन्त भेद भी होते हैं। ऐसा मुनिजनों ने कहा है। उस सम्यक्त्व के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद रह सकते हैं क्योंकि उसके विषयभूत तीन प्रकार के द्रव्य अनन्त आकाश में निश्चय से रहते हैं। **(धर्म रत्ना. १०/२२-५३)**

शब्दों की अपेक्षा सम्यक्त्व संख्यात प्रकार का, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का तथा श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है। **(सर्वा. १/७)**

प्रश्न : कौनसे अनुयोग के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है?

उत्तर : चारों अनुयोगों का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है।

उपर्युक्त दस प्रकार के सम्यक्त्वों में से उपदेश सम्यक्त्व त्रेशठ शलाका पुरुषों के पुराणों को सुनकर उत्पन्न हुई श्रद्धा से होता है। पुराण पुरुषों के जीवन का वर्णन, उनकी कथा प्रथमानुयोग में कही गयी है इसलिए यह सम्यक्त्व प्रथमानुयोग का आश्रय लेकर उत्पन्न हुआ कहलाता है अर्थात् हरिवंशपुराण, महापुराण, पद्मपुराण, श्रेणिक चरित्र, महावीर पुराण, प्रद्युम्न चरित्र आदि प्रथमानुयोग का अध्ययन, अध्यापन, श्रवण आदि से यह सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

बीज पदों को ग्रहण करना और उनके सूक्ष्म अर्थ को सुनना बीज सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है। इन बीज पदों का वर्णन करणानुयोग के गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, षट्खण्डागम, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में किया गया है इसलिए यह सम्यक्त्व करणानुयोग के आश्रय अर्थात् श्रवण, पठन, पाठन आदि से उत्पन्न हुआ कहलाता है।

मार्ग सम्यक्त्व परिग्रह रहित और पाणिपात्रभोजी आदि लक्षण वाले निर्ग्रन्थ धर्म को सुनकर उत्पन्न होता है। आचारांगादि अंगों में कही गयी तपश्चरणादि प्रक्रिया के सुनने से सूत्र सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इनका वर्णन चरणानुयोग के मूलाचार, आचारसार, आराधनासार, रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में किया गया है इसलिए ये दोनों सम्यक्त्व चरणानुयोग के ग्रन्थों का आश्रय लेकर अर्थात् इनके पढ़ने, सुनने, मनन-चिन्तन करने से उत्पन्न हुए कहलाते हैं।

आज्ञा, संक्षेप, विस्तार आदि शेष सम्यक्त्व जीवादि तत्त्वों का स्वरूप सुनकर उत्पन्न होते हैं। उनका वर्णन द्रव्यानुयोग के समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, परमात्मप्रकाश आदि ग्रन्थों में किया गया है इसलिए यह सम्यग्दर्शन द्रव्यानुयोग के आश्रय से उत्पन्न हुए कहलाते हैं।

मोक्षमार्ग में श्रद्धा की क्या आवश्यता है ?

मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपना मोक्षमार्ग को प्रारम्भ करने के लिए श्रद्धा/सम्यग्दर्शन की कितनी और क्या आवश्यकता है, इसको बताते हुए सन्त शिरोमणि आचार्य गुरुवर विद्यासागर जी महाराज समयसार की ९०वीं गाथा की व्याख्या करते हुए कहते हैं – श्रद्धा ज्ञान और चारित्र की प्रकृति को एक दृष्टान्त से हम समझ सकते हैं। श्रद्धा एक बहिन की भाँति है और ज्ञान चारित्र दोनों उसके भाई हैं। घर में बहिन का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है, उसी प्रकार श्रद्धा वह बहिन है जो हमेशा मांगलिक मानी जाती है। उसके कारणज्ञान, चारित्र दोनों भाई भी मांगलिक माने जाते हैं। सम्यक्श्रद्धा होने के कारण ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं। बहिन के माध्यम से भाई का महत्त्व बढ़ जाता है।

जिस प्रकार बहिन के कहने पर भाई की उछल-कूद कम हो जाती है, उसी प्रकार आप लोग अपने ज्ञान की उछल-कूद कम करना चाहते हो तो श्रद्धा की ओर देखो। बहिन भी घर की एक सदस्य है। उसकी क्षमता तो देखो, कितनी शान्त है। उभय कुलबर्धिनी है। इसकी श्रद्धा बहिन भी उभयकुल अर्थात् ज्ञान और चारित्र दोनों कुलों की मंगलवर्धिनी हैं। श्रद्धा कहती है- ज्ञान भैया! मेरी बात मान लो और अपनी उछल-कूद कम कर दो। ज्ञान कहता है – बहिन आकुलता होती है, कैसे मान लूँ। तब श्रद्धा कहती है आँख बन्द करके ''मैं अनन्त चतुष्टय वाला हूँ'' इस ओर देखो। जब श्रद्धा बार-बार कहती है तो ज्ञान कहता है – मैं कैसे अपने आपको समझाऊँ। आप समझाओ। श्रद्धा कहती है कि मैं समझाती नहीं हूँ, मेरी बात मानना हो तो बस मान लो। मानने में समझने की आवश्यकता नहीं होती है। ज्ञान कहता है, कि कैसे मानें ? वह कहती है – मेरे कहने से मान लो बस। गुरु की देशना से मानलो। मानते समय अपनी आँखों को बन्द रखना पड़ता है। तभी देशना लब्धि होती है। देशनालब्धि के पूर्व ज्ञान क्रूरता रहता है, अर्थात् विकल्प करता रहता है। श्रद्धा के माध्यम से वीतराग प्रभु को देखने पर हे प्रभो! आप सबसे बड़े हैं, अपने को छोटा नहीं मान सकता है। श्रद्धा के साथ ज्ञान की आँखें भी खुल जाती हैं, तब ज्ञान श्रद्धा का अनुसरण करने लगता है। अपनी उछल कूद कम कर देता है। जब श्रद्धा नहीं थी उस समय रावण की क्या दशा थी ? इन्द्रभूति की क्या दशा थी ? हाँ, ज्ञान का मद अपने ऊपर छत्र लगवाता है, दूसरा नहीं लगाए तो अपने हाथ से लगा लेता है। भइया- जो अपने ऊपर स्वयं छत्र लगाता है वह स्वयं सेवक माना जाता है, और कोई दूसरा लगाए तो छत्रपति माना जाता है। श्रद्धा के बल पर मोक्षमार्ग की यात्रा का शुभारम्भ होता है और आगे भी यदि सम्यक्श्रद्धा है तो मोक्षमार्ग की यात्रा का विकास होता चला जाता है। रत्नत्रय है, लेकिन श्रद्धा सम्यक् नहीं है, तो वह यात्रा विराम को प्राप्त हो जाती है। श्रद्धा के बिना किसी भी गुण का समीचीन रूप से विकास सम्भव नहीं है। श्रद्धा क्या है ? उसका स्वभाव क्या है ? उसका योगदान क्या है ? यह अपने आप में गम्भीर विषय है। इसका अध्ययन आवश्यक है। **(समयोपदेश ८३-८४ पृ.)**

सम्यग्दर्शन कहाँ होता है

सामान्य रूप से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति त्रसनाली में रहने वाले जीवों को ही होती है लेकिन सम्यग्दृष्टि

जीव केवली समुद्घात की अपेक्षा सर्वलोक में अर्थात् ३४३ घन राजू प्रमाण क्षेत्र में रहते हैं, रह सकते हैं। विशेष रूप से –

१. अधोलोक में स्थित रत्नप्रभादि अथवा घम्मादि सातों नरक पृथिवियों में,
२. मध्यलोक में ढाई द्वीप - जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, आधे पुष्कर में तथा दो समुद्र-लवणसमुद्र, कालोदधि समुद्र में,
३. ढाई द्वीप के आगे और आधे स्वयंभूरमण द्वीप से अर्थात् स्वयंप्रभाचल पर्वत के पहले स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रों में,
४. आधे स्वयंभूरमण द्वीप एवं स्वयंभूरमण समुद्र में (जहाँ शाश्वत कर्मभूमि की रचना है),
५. १७० विजयार्द्ध क्षेत्र की १८७०० नगरियों में (जहाँ विद्याधर रहते हैं),
६. ५ विदेह क्षेत्रों के १६० आर्य खण्डों में,
७. ३० भोगभूमियों में (१० उत्तमभोगभूमि-५ देवकुरु, ५ उत्तर कुरु, १० मध्यम भोगभूमि-५ हैमवत, ५ हैरण्यवत, १० जघन्य भोगभूमि-५ हरि, ५ रम्यक क्षेत्र,
८. ९६ अंतरद्वीपों में (जहाँ कुभोग भूमि हैं)
९. ऊर्ध्वलोक में स्थित १६ स्वर्ग, ९ ग्रैवेयकों में (जहाँ मिथ्यादृष्टि भी रह सकते हैं)
१०. भवनवासी के सभी भवनों में, व्यंतरों के आवासों में तथा ज्योतिष्क देवों के विमानों में सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है।

नोट : ९ अनुदिश तथा ५ अनुत्तरों में सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

सम्यग्दर्शन किसको होता है

कई लोग कहते हैं कि भाई अपन तो बहुत छोटे लोग हैं सम्यग्दर्शन तो बड़े-बड़े मुनि महाराज या साधु-सन्तों को होता है। अथवा बड़े-बड़े विद्वान, शास्त्र पढ़ने-सुनने, सुनाने वालों को होता है। हमें तो तत्त्वों के नाम तक नहीं आते हैं। जिसको तत्त्वों का स्वरूप ही ज्ञात नहीं है उसे सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है। कई लोग कहते हैं सम्यग्दर्शन तो लाखों-करोड़ों का दान करने वालों को या महाविधान, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाने वालों को होता है अथवा बड़े-बड़े मंदिर बनवाने वालों को या जिनबिम्ब स्थापित करने-करवाने वालों को होता है। हम तो गरीब लोग हैं, हम न तो दान दे सकते हैं और न ही महाविधान तथा पंचकल्याणक आदि करवा सकते हैं अत: हमें सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो सकता है आदि-आदि। अनेक विकल्प संसार में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वालों की योग्यता के बारे में किये जाते हैं लेकिन सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए इन ऊपर कही गई बाह्य योग्यताओं की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि ये सब पूर्वोपार्जित कर्मों के आधीन हैं। पुण्योदय से ही सम्पदा आदि की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता बताते हुए कहा है– जो ज्ञानावरणीय कर्म का प्रबल उदय होने से जिन भगवान के द्वारा कहे हुए जीवादि

तत्त्वों को जानता तो नहीं है किन्तु उन पर श्रद्धान करता है कि जिन भगवान के द्वारा कहा गया तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, युक्तियों से उसका खण्डन नहीं किया जा सकता है अत: जिन भगवान की आज्ञा रूप होने से वह ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि वीतरागी जिन भगवान अन्यथा वादी अर्थात् गलत कहने वाले नहीं होते हैं ऐसा मनुष्य भी आज्ञा सम्यक्त्वी होता है। **(का.अ.टी. ३१३-२४)**

यह सम्यग्दर्शन अभव्य की तो बात ही क्या दूरभव्य को भी दुर्लभ है। यह तो निकट भव्य प्राणी को ही प्राप्त होता है जैसे कितना भी प्रकाश क्यों न हो अंधे मनुष्य को कुछ दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार अभव्य को कितना भी उपदेश दिया जावे, व्रताचरण कराया जावे किन्तु उसे सम्यक्त्व नहीं होता है। नेत्र रोग वाले मनुष्यों को नेत्र ठीक हो जाने पर दिखाई देने लगता है उसी प्रकार दूरभव्य को दीर्घ समय पीछे मिथ्यात्व हटने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है किन्तु ठीक नेत्र वाले मनुष्य को प्रकाश होने पर तत्काल दिखाई देने लगता है उसी प्रकार निकट भव्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

सम्यग्दर्शन की पात्रता बताते हुए आचार्य महाराज कहते हैं – सर्व नरकों में रहने वाले नारकियों में, सब भवनों में रहने वाले भवनवासी देवों में, सब द्वीपों और समुद्रों में विद्यमान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यञ्चों में, ढाई द्वीप-समुद्रों में रहने वाले मनुष्यों में, सब व्यंतरावासों में रहनेवाले व्यंतर देवों में, सब ज्योतिष्क देवों में, विमानों में रहनेवाले नव ग्रैवेयक तक के देवों में तथा आभियोग्य और अनभियोग्य देवों में दर्शन मोहनीय का उपशम होता है। **(ज.ध. १२/२९८)**

दर्शन मोहनीय को उपशमाता हुआ यह जीव कहाँ उपशमाता है? चारों गतियों में उपशमाता है। चारों ही गतियों में उपशमाता हुआ पंचेन्द्रियों में उपशमाता है, एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय में नहीं। पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियों में उपशमाता है असंज्ञियों में नहीं। संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता है, सम्मूर्च्छिमों में नहीं। गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता हुआ पर्याप्तकों में उपशमाता है, अपर्याप्तकों में नहीं। पर्याप्तकों में उपशमाता हुआ संख्यात वर्ष की आयु वाले एवं असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों में उपशमाता है। **(ध. ६/२३८)** यह लक्षण तिर्यञ्चों और मनुष्यों को प्रधान करके कहा गया है इसलिए यहाँ गर्भज होना कहा है। उपपाद जन्म वाले देव नारकियों को भी यह सम्यग्दर्शन हो सकता है। मनुष्यों में सम्मूर्च्छन जन्म वाले तथा तिर्यञ्चों में एकेन्द्रियादि लब्ध्यपर्याप्तक तथा सम्मूर्च्छन जन्म वाले पञ्चेन्द्रिय भी होते हैं इसलिए यहाँ गर्भज विशेषण दिया है। दूसरी बात यह कथन प्रथमोपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा किया गया है। क्षयोपशम तथा क्षायिक सम्यक्त्व की व्यवस्था अन्य प्रकार से कही गयी है।

प्रथम सम्यक्त्व को प्रारम्भ करने वाला जीव शुभ परिणाम के अभिमुख होता है। अन्तर्मुहूर्त में अनन्तगुण वृद्धि के द्वारा वर्धमान विशुद्धि वाला होता है। अन्यतममनोयोग वाला या अन्यतमवचनयोग वाला या अन्यतमकाययोग वाला होता है अर्थात् सत्यादि चार मनोयोग, सत्यादि चार वचन योग, औदारिककाययोग तथा वैक्रियिक काययोग में से किसी योग वाला होता है। हीयमान (घटती हुई) अन्यतम कषायवाला अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ में से कोई कषाय वाला होता है। साकारोपयोगी अर्थात्

ज्ञानोपयोगी होता है। तीनों वेदों में से अन्यतम वेदवाला अर्थात् स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में से किसी भी वेदवाला होता है और संक्लेश से रहित होता है। **(रा.वा. ९/१)**

साकार उपयोग वाले को ही यह सम्यक्त्व होता है क्योंकि अनाकार/दर्शनोपयोग की बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति का अभाव है। कृष्णादि छहों लेश्याओं में से किसी एक लेश्या वाला हो किन्तु यदि अशुभ लेश्या हो तो हीयमान होना चाहिए और यदि शुभ लेश्या हो तो वर्धमान होना चाहिए। **(ध.६/२०६)**

तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त जीव दर्शनमोह का उपशमन करता है **(ज.ध. १२/३०४)** जीव आठों कर्मों की जब अन्त:कोड़ाकोड़ी स्थिति को बाँधता है, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। जिस समय इन ही सर्व कर्मों की संख्यात हजार सागरोपम से हीन (कम) अन्त:कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति को स्थापित करता है अर्थात् सत्ता में इतनी स्थिति शेष बचती है उस समय जीव प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है **(ध.६/२०३-२२)।**

नोट : यहाँ अशुभ लेश्याओं का कथन नरकगति की अपेक्षा जानना चाहिए क्योंकि वहाँ अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं।

जैसे नीले कपड़े पर केसर का रंग नहीं चढ़ सकता है, वैसे ही क्रोधादि कषायों से रंजायमान हुए मनुष्य का चित्त भी वस्तु के असली स्वरूप को नहीं पहिचान सकता है। **(स्व.सं. १७)**

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में भेद राग भी एक कारण है, क्योंकि तीव्र राग (कषाय) के होने पर जीव पर जीव के तत्त्वरुचि उत्पन्न नहीं होती है अथवा रुचि होना असम्भव है। कहा भी है- उत्कृष्ट स्थिति एवं उत्कृष्ट अनुभाग सत्त्व के होने पर यह उत्कृष्ट स्थिति और अनुभाग के बंधने पर सम्यक्त्व, संयम एवं संयमासंयम नहीं होता है। **(ध. १२/३०६)**

कषाय का अभाव हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है, क्योंकि कषाय का अभाव दसवें गुणस्थान में होता है अर्थात् दसवें गुणस्थान तक कषायें रहती हैं, दसवें गुणस्थान तक सम्यग्दृष्टि ही पहुँच सकता है अत: सिद्ध है कि मंद कषाय होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

प्रथमोपशम और क्षयोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति तो सातवें नरक में रहने वाले नारकी, जो चौबीस घण्टे मार-काट, छेदन-भेदन आदि क्लेशों को भोगते रहते हैं जिनके शरीर में ५ करोड़ ६८ लाख ९६ हजार ५ सौ ८४ रोग हमेशा उदित रहते हैं अर्थात् वे इतने रोगों का प्रतिपल अनुभव करते रहते हैं। जहाँ भगवान के दर्शन, पूजन की बात तो बहुत दूर भगवान का नाम भी सुनने को नहीं मिल सकता। जहाँ गुरुओं की वाणी सुनने को मिलना अमावस्या के दिन चन्द्रमा दिखने के समान असंभव है। जहाँ व्रत, उपवास आदि धर्माचरण करने के भाव उत्पन्न होना बालू में से तेल निकालने के समान असाध्य है। अथवा यों समझना चाहिए कि जहाँ धर्म के नाम से कोई भी बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सामग्री उपलब्ध नहीं है। वहाँ वे नारकी भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान कर सकते हैं, वहाँ पर भी स्व और पर के भेद को भावात्मक रूप से जीव समझ सकते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं कि कोई महापापी मनुष्य - तिर्यञ्च सातवें नरक

में जाकर अन्तर्मुहूर्त्त मात्र काल में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर सकता है और उस सम्यग्दर्शन (क्षायोपशमिक) को लेकर कुछ कम ३३ सागर तक रह सकता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि बना रह सकता है। कहा भी है - कृष्ण लेश्या के साथ सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल कुछ कम ३३ सागर प्रमाण है। **(सर्वा. १/८)** जबकि उनके पास सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की कोई विशेष सामग्रियाँ नहीं हैं और न ही बनाये रखने का वातावरण ही है फिर भी वे सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं और बनाये भी रखते हैं अर्थात् इतने काल तक मिथ्यादृष्टि नहीं बनते हैं। आप और हमारे पास तो बाह्य में सम्यग्दर्शन- प्राप्ति की सभी अनुकूल सामग्रियाँ विद्यमान हैं फिर हम सम्यग्दर्शन प्राप्त क्यों नहीं कर सकते हैं, अवश्य कर सकते हैं। हमें भी अपने परिणामों को निर्मल बनाना चाहिए और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए।

नोट : वहाँ उनके हीयमान कृष्ण लेश्या में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार जिस तिर्यञ्च ने कभी तत्त्व का नाम ही नहीं सुना है, जो हमेशा जीवों को मार करके ही अपनी क्षुधा शांत करता है, जिसके परिणाम हमेशा क्रूर ही रहते हैं, जो छोटे-मोटे जीवों को देखते ही मारने-काटने (डंक मारने) के लिए लपकता है, जिसका नाम सुनने से ही आदमी भय से काँप उठता है ऐसे शेर, साँप, अजगर, कुत्ता-बिल्ली आदि क्रूर तिर्यञ्चों को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। महावीर पुराण में भगवान महावीर स्वामी के पूर्व भवों का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि महावीर स्वामी का जीव जब शेर की पर्याय में एक हिरण को अपने पंजों में पकड़ कर मार चुका था, खाने के लिए मुँह में रखे हुए था उस समय भी वह चारणऋद्धिधारी मुनिराज से धर्म का स्वरूप सुनकर सम्यग्दृष्टि बन गया। भगवान पार्श्वनाथ का जीव जो हाथी की पर्याय में बड़े-बड़े वृक्ष उखाड़कर फेंक रहा था, पूरे वन में उथल-पुथल मचा रहा था उसने भी श्री अरविन्द मुनिराज की वाणी सुनकर व्रत ग्रहण किये और सम्यग्दृष्टि श्रावक बन गया। इसी प्रकार से चण्डकौशिक जैसे सर्प ने भी सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। ऐसे हजारों-लाखों तिर्यञ्चों ने अपने पापात्मक जीवन में भी जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा करके संसार-समुद्र को सुखा लिया था अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए कोई सज्जन मनुष्य ही हो अथवा कोई उत्तम देव ही हो ऐसा कोई जरूरी नहीं है। अंजन चोर जैसे दुर्जन पापी जीव भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं यदि वे सही दिशा में पुरुषार्थ करें तो।

इसी प्रकार कोई भूत-पिशाच, जिन्न, डाकिन-चुड़ैल, वर्षों-वर्षों तक लोगों से वैर लेने में तत्पर रहनेवाले कमठ जैसे दुष्ट देव, महामुनिराजों पर उपसर्ग करके दुर्गति के द्वार खोलने वाले, नरकों में जाकर नारकियों को भिड़ाकर दु:ख देने वाले असुर, अम्बावरीष आदि जाति के दुष्ट देव भी तत्त्व श्रद्धान करके सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को प्राप्त कर सकते हैं और अहो-रात भोगों में झूलते रहने वाले जिनको सागरों की आयु भी पलक मात्र जैसी लगती है; नव ग्रैवेयक के देव, वैमानिक देव जिनके जीवन में दु:ख की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है, जिनकी आज्ञा का पालन करने के लिए प्रतिपल लाखों देव-देवांगनाएँ हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं, जो अपनी इच्छा के अनुसार सर्वत्र गमन करने में समर्थ हैं, जो एक क्षण में अच्छे से अच्छा, हल्के से हल्का एवं भारी से भारी अनेक प्रकार के शरीर बना सकते हैं, जिनके शरीर में असंख्यात वर्षों तक छोटे से छोटा रोग भी नहीं हो अर्थात् जिनको

खाँसी-जुकाम, सिर, पेट-दर्द आदि जैसा छोटा रोग तक नहीं होता। यहाँ तक कि जिन्हें कभी छींक और उबासी तक नहीं आ सकती हो ऐसे परम पुण्यशाली देवों को भी तत्त्वों का सही स्वरूप समझ में आने पर श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है, होती है; अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए किसी संस्थान का भी नियम नहीं है। सम्यग्दर्शन तो काले-कुबड़े, लूले-लंगड़े, अंधे-गूंगे, काणे-बहरे किसी को भी हो सकता है, बस इतना आवश्यक है कि वह संज्ञी पंचेन्द्रिय हो, पर्याप्त हो, गर्भज (तिर्यंच मनुष्य की अपेक्षा) हो, जागृत हो अर्थात् सोया हुआ नहीं हो। सोते समय सम्यग्दर्शन रह सकता है लेकिन उत्पन्न नहीं हो सकता है और साकार उपयोग वाला अर्थात् चिंतनशील हो उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। यह बात अलग है कि सम्यग्दृष्टि मरकर काणा-कुबड़ा, लूला-लंगड़ा, दरिद्र और कुरूप आदि नहीं बनता। लेकिन इन सब अवस्थाओं में स्थित उपर्युक्त लक्षणों से युक्त जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है।

संज्ञी का अर्थ मन सहित अर्थात् जो संकेत को समझता है जैसे - घोड़े की लगाम खींचने पर घोड़ा समझ जाता है कि मुझे जल्दी चलना है या धीरे, मुड़ना है या एक तरफ होना है यह सब मन का काम है, मन वाले ही संकेत को समझ सकते हैं। शिक्षा को ग्रहण कर सकते हैं जैसे तोते को पढ़ाया जाता है तो वह पढ़ लेता है। जो बुलाने पर आ जाता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य को, हेय-उपादेय को समझ कर कर्त्तव्य को करता है, उपादेय को ग्रहण करता है, वह संज्ञी है। ऐसा संज्ञी जीव ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखता है।

गति और शारीरिक स्थिति के समान सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में जाति एवं कुल का भी कोई बंधन नहीं है। कोई हरिजन, चमार या कसाई कुल में भी उत्पन्न हुआ हो, चाहे वह गाँव के घर-घर का मैला साफ करता हो, सड़कों पर झाड़ू लगाता हो, जिसको छू जाने पर लोग स्नान करके वस्त्र बदलते हों, जिसको उच्च कुलीन लोग अपने घर में, धार्मिक स्थलों में आने का निषेध करते हों, ऐसे चाण्डाल आदि भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। चाण्डाल के सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए **आचार्य समन्तभद्र स्वामी** कहते हैं -

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म, गूढांगारान्तरौजसम् ।। (र.क.श्रा. २८)

अर्थ : सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल को भी गणधर भगवान पूज्य पुरुष कहते हैं। जिस प्रकार अंगारे के ऊपर राख आ जाने पर भी अंगारा अन्तर में तेज से सहित होता है, उसी प्रकार यह चाण्डाल शरीर रूपी राख से ढका होने पर भी अंतरंग में सम्यग्दर्शन रूप तेज/ओज से युक्त होता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में आयु का कुछ प्रतिबंध कहा गया है। सम्यग्दर्शन को लेकर जाने वालों के तो सम्यग्दर्शन रहता ही है लेकिन जो सम्यग्दर्शन को लेकर नहीं गया है उसको सम्यग्दृष्टि बनने के लिए आयु का कथन चारों गतियों में भिन्न-भिन्न कहा गया है –

कर्मभूमिया मनुष्य - ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त

कर्मभूमिया तिर्यञ्च - दिवस पृथक्त्व (३ से ९ के बीच की संख्या)

नारकियों के - जन्म के अन्तर्मुहूर्त के बाद

देवों के - जन्म के अन्तर्मुहूर्त के बाद **(ध.६/४३१)**

उत्तम भोगभूमिया जीवों के - २१ दिन-रात

मध्यम भोगभूमिया जीवों के - ३५ दिन-रात

जघन्य भोगभूमिया जीवों के - ४९ दिन-रात **(ति.प.)**

यह आयु प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में मुख्य रूप से बताई गयी है।

विशेष : सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यञ्च को प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व गर्भजों को ही होता है। सम्मूर्च्छन तिर्यञ्च क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। वह जन्म के अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्वप्राप्ति के योग्य हो जाता है। **(ध. ६/२३८)**

क्षायिक सम्यक्त्व कर्मभूमिया मनुष्य को केवली श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है। यह सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को ही होता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व सादि मिथ्यादृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि को ही होता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि को ही होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को ही होता है।

प्रश्न : ढाई द्वीप के बाहर समुद्रों में जलचर जीव नहीं होते हैं फिर वहाँ किन तिर्यञ्चों को सम्यक्त्व होता है?

उत्तर : ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात समुद्रों में तिर्यञ्च (जलचर) जीव नहीं होते हैं फिर भी किसी वैरी देव के प्रयोग से (अर्थात् यहाँ से किसी तिर्यञ्च को ले जाकर समुद्र में पटक दे) वहाँ उस तिर्यञ्च को प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। अथवा अन्तिम आधे स्वयंभूरमण द्वीप एवं स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर जीव पाये जाते हैं, उनमें स्थित गर्भज तिर्यंचों को प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो सकता है। **(ज.ध. १२/१९९ आधार से)**

किसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं हो सकता :

१. जिसके उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् जो ७० कोड़ाकोड़ी सागर (मोहनीय कर्म की) अथवा २०, ३० या ४० कोड़ाकोड़ी सागर (शेष कर्मों की) प्रमाण स्थिति बाँध रहा हो। **(ल.सा. ८-९)**

२. जो कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वाला हो (जहाँ शुभ लेश्याएँ होती है वहाँ)।

३. संक्लेश परिणाम वाला हो (अर्थात् विषय-कषायों में आसक्त हो)।

४. स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला के उदय से युक्त हो।

५. जिसके कर्मों का जघन्य स्थिति-बन्ध हो रहा हो (जघन्य स्थिति बन्ध क्षपक श्रेणी में होता है)

६. जिसके सत्ता में अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक स्थिति वाले कर्म विद्यमान हों, (क्योंकि प्रायोग्य लब्धि से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति अंत:कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हो जाती है)।

७. अभव्य हो, असंज्ञी हो, लब्ध्यपर्याप्त या सम्मूर्च्छन जन्म वाला हो।

८. सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होता है, इन जीवों के उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व रूप पर्याय के द्वारा परिणमन होने की शक्ति का अभाव है। उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले होते हैं किन्तु इस सम्यक्त्व का प्रथमोपशम सम्यक्त्व यह नाम नहीं है, क्योंकि उस उपशम श्रेणी वाले के उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति सम्यक्त्व से होती है। इसलिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला मिथ्यादृष्टि ही होना चाहिए। **(ध. ६/२०६)**

९. जिस व्यक्ति को भयकर्म की उत्कृष्ट उदीरणा हो रही है वह नियम से मिथ्यादृष्टि है।

१०. जिस व्यक्ति को विशेष रूप से लोभ रहेगा, बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह होगा, उसके नियम से मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा होगी। अर्थात् इन कार्यों को करते समय सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। **(जयधवल के आधार से)** सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए अति लोभ, बहुत आरम्भ तथा बहुत परिग्रह छोड़ना आवश्यक है।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति को तेज बुखार आ रहा हो, शरीर के रोम-रोम में दर्द हो रहा हो, शरीर आग की तरह जल रहा हो, जो पीड़ा से छटपटा रहा हो, उस समय उसका कोई हितैषी व्यक्ति उससे कहे कि ''ले भाई ! यह दूध पी ले, अंगूर खा ले, खिचड़ी खा ले,'' आदि-आदि उसे सुनकर वह बीमार व्यक्ति क्रोधित होते हुए कहता है- ''अरे ! क्यों दिमाग खराब करते हो? मेरे तो वेदना/बुखार के कारण प्राण निकले जा रहे हैं और तुझे खाने की पड़ी है। अभी खाने की बात तो बहुत दूर मुझे न बोलना अच्छा लग रहा है, न देखना अच्छा लग रहा है और न ही खाना अच्छा लग रहा है। तुम मुझे परेशान क्यों कर रहे हो, मुझे परेशान नहीं करो।'' तभी कोई मित्र कह दे- ''तुम्हें कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है फिर भी मेरे कहने से ही कुछ खा लो। शरीर में शक्ति आ जायेगी, तुम जल्दी ठीक हो जाओगे।'' तो इस बीमार को और ज्यादा गुस्सा आ जाता है। वह चिढ़कर कह देता है, ''मैं नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा।'' यद्यपि वे सब वस्तुएँ शरीर को पुष्ट करने वाली हैं, मन को प्रसन्नता देने वाली हैं, शक्तिप्रद हैं फिर भी बुखार, वेदना की तीव्रता होने के कारण वे सब अच्छी नहीं लगती हैं। उसी प्रकार जब अनन्तानुबंधी कषाय का तीव्र उदय रहता है, कषायों की उग्रता रहती है तब तक गुरु की देशना, गुरु का हितप्रद उपदेश अच्छा नहीं लगता है उस समय सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती है अपितु जब लेश्याएँ विशुद्ध होती हैं, कषायों की मंदता होती है उस समय सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता आती है। **(आ.विद्या.)**

२. सम्यग्दर्शन प्राप्ति के साधन

सामान्य से कारण दो प्रकार के होते हैं - १. उपादानकारण २. निमित्तकारण।

उपादानकारण : जो स्वयं कार्य रूप परिणत होता है वह उपादान कारण है। जैसे - घड़े का उपादान कारण काली-चिकनी मिट्टी है। यहाँ सम्यक्त्व की प्राप्ति में उपादान कारण आसन्नभव्यता आदि विशेषताओं से युक्त आत्मा है।

निमित्तकारण : जिसको पाकर द्रव्य की उपादान शक्ति को व्यक्त किया जाता है अथवा शक्ति व्यक्त होती है वह निमित्तकारण है। जैसे - मिट्टी को घड़ा बनाने में कुम्भकार चक्र, धीवर, डण्डा आदि निमित्तकारण हैं। निमित्तकारण दो प्रकार के होते हैं - १. अंतरंग निमित्तकारण २. बहिरंग निमित्तकारण।

जिस करण लब्धि को करके सम्यग्भाव को तथा प्रकृतियों के उपशम, क्षय व क्षयोपशम को ग्रहण करता है, वह करणलब्धि सम्यक्त्व में निज हेतु है। **(न.च.वृ. ३१५)**

सम्यग्दर्शन में अन्तरंग कारण दर्शनमोहनीय का (७ प्रकृतियों का) उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है तथा बाह्य निमित्त जाति-स्मरण आदि है। **(नि.सा. ५३)**

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाह्य निमित्त

जातिस्मरण, वेदनानुभव, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमादर्शन, देवऋद्धि दर्शन आदि के होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। **(सर्वा. १/७)** तीर्थंकर, केवली, श्रमण, भवस्मरण, शास्त्र, देवमहिमा आदि बहुत प्रकार के बाह्य हेतु मानने चाहिए। **(न.च.वृ. ३१६)**

सम्यग्दर्शन का निमित्त जिनसूत्र है अथवा जिनसूत्र के जानने वाले पुरुष हैं **(नि.सा. ५३)**

दैवात् कालादि सन्लब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा, जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥

अर्थ : १. भाग्य के अनुकूल होने पर २. कालादि लब्धियों की प्राप्ति होने पर ३. संसारसमुद्र का तट निकट आ जाने पर ४. भव्यत्व भाव के पक जाने पर जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण और करण लब्धि रूप अंतरंग सामग्री की प्राप्ति होती है तभी यह भव्य जीव विशुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक हो सकता है। **(म.पु. ९/११६)**

बाह्य निमित्तों का वर्णन करते हुए **आचार्य पूज्यपाद स्वामी** ने श्री **तत्त्वार्थ सूत्र** महाग्रन्थ की **सर्वार्थसिद्धि** नामक टीका करते हुए चारों गतियों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न कारण बतलाये हैं -

नरकगति में - प्रथम नरक से तीसरे नरक तक १. जातिस्मरण २. वेदनाभिभव ३. धर्मश्रवण
चौथे नरक से सातवें नरक तक १. जातिस्मरण २. वेदनाभिभव

चौथे आदि नरक में धर्मश्रवण कारण नहीं है, क्योंकि देव तीसरे नरक के आगे नहीं जाते हैं। कहा भी है -

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदु:खाश्च प्राक्चतुर्थ्या: ॥ (त.सू. ३/५)

प्रश्न : नरक में सभी नारकियों को जातिस्मरण होता है अत: सभी को सम्यग्दर्शन होना चाहिए?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सामान्य रूप से भवस्मरण के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु धर्म-बुद्धि से पूर्वभव में किये गये अनुष्ठानों की विफलता के दर्शन से ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारणत्व इष्ट है, जिससे पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता। और इस प्रकार की बुद्धि सब नारकी जीवों के होती नहीं है, क्योंकि तीव्र मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत नारकी जीवों के पूर्वभवों का स्मरण होते हुए भी उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव है। इस प्रकार जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है। **(ध. ६/४२२)**

इसका विस्तार इस प्रकार किया जा सकता है - वह नारकी विचार करता है कि मैंने मिथ्यादेवों की पूजा-आराधना में, पशुओं की बलि चढ़ाने में, पूर्वजों को देव मानकर उनको श्रद्धानपूर्वक नमस्कार, मिष्टान्न आदि चढ़ाकर प्रसन्न करने के विचारों में, सग्रन्थ, हुक्का-तम्बाकू, कंदमूल आदि खाकर पेट भरने वाले, हवा खाकर जीने वाले, पंचाग्नि तप करने वाले साधुओं की पूजा में, पूर्वापर विरोध को प्राप्त होने वाले, हिंसा में धर्म मानने वाले आदि भववर्धक क्रियाओं में, मिथ्या कार्यों में, इन कार्यों को करने से मुझे धर्म होगा, मुझे अगले भव में सुख मिलेगा आदि बुद्धि से मैंने उत्साह से भाग लिया था। तन-मन-धन से इन कार्यों को करने में लगा रहा था। लेकिन वे सब धर्म नहीं थे, उन्हीं मिथ्या कार्यों के फल में मुझे सुख के स्थान पर आज यह दु:ख का सागर मिला है व इन धर्माभास रूप अनुष्ठानों के फल में ही यह वचनातीत वेदना मिली है। अब मैं उन अधर्म रूप कार्यों को कभी नहीं करूँगा। मैं उन कार्यों का त्याग करता हूँ। अब मैं जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये धर्म की शरण लेता हूँ। अब मैं हिंसा आदि पाँच पापों को उत्पन्न करने वाले अधर्म की आस्था छोड़कर वीतराग सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्रणीत दयामय धर्म पर श्रद्धान करता हूँ, आदि-आदि विचार उत्पन्न होने से ऐसे विचार करने से वहाँ एक क्षण मात्र में नारकी को प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। **पूज्य गुरुवर आचार्यकल्प १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज** कई बार धर्मोपदेश में कहा करते थे कि हे भव्य जीवो ! तुम कुछ भी अर्थात् पाप का अंश भी नहीं छोड़ सकते हों, नहीं छोड़ पा रहे हो, व्यसनों से नहीं बच पा रहे हो, धर्म नहीं कर पा रहे हो, कोई बात नहीं, नहीं करो। लेकिन गुरु की वाणी, धर्मोपदेश, जिनवाणी सुन तो लो, जिनवाणी का पठन-पाठन तो कर लो। कर्मोदय से यदि तुम कभी नरक में भी पहुँच गये तो तुम्हें वहाँ भी यह सुना/पढ़ा हुआ धर्मोपदेश काम आयेगा। वहाँ भी तुम्हें यह जातिस्मरण से याद आ जायेगा। धर्म समझ में आ जायेगा और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण बन जायेगा। इस प्रकार कहकर सभी की जिनवाणी, गुरुवाणी और धर्मश्रवण/धर्मोपदेश के प्रति आकर्षण/आस्था जागृत करते थे।

संसार में कोई व्रत अनुष्ठान को पूरा करते समय विशेष लौकिक तीर्थ की वन्दना करके बकरा, ऊँट आदि की बलि चढ़ाते हैं। कोई अपने देवी-देवताओं की आराधना करके सुखप्राप्ति के लिए उनके चरणों में अपना सिर ही चढ़ा देते हैं। कोई धर्माभिलाषा से पर्वत से गिरकर मृत्यु का वरण करते हैं, कोई स्त्रियाँ अपने पतिव्रता रूप धर्म का पालन करने के लिए पति के मर जाने पर उसकी चिता में कूद कर मृत्यु के मुँह में प्रवेश कर जाती है। श्री सिद्धक्षेत्र भगवान नेमिनाथस्वामी की निर्वाणस्थली ऊर्जयन्त गिरनार पर्वत पर रहने वाले पण्डे धर्माभास को ही धर्म समझ कर उसकी रक्षा करने के लिए लोगों को चाकू मारकर भी धर्मस्थल की सुरक्षा करनेवालों में अग्रणी बनना चाहते हैं। वे गाली-गलौच, असभ्य वचन, सच्चे धर्म की निन्दा आदि पापात्मक कार्य करना भी धर्म समझते हैं। कोई धर्म के नाम पर अश्वमेध महायज्ञ करके सुख प्राप्ति की आशा लगाये रहते हैं। कोई हर जाति के पशु-पक्षियों की बलि देकर सुख-की कल्पना करते हैं वे इतना भी नहीं सोच पाते हैं कि किसी को दु:ख देकर, किसी के प्राणों का नाश करके सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? इस प्रकार के विपरीत कार्य करने से वे दु:ख के सागर रूप नरकों में प्रवेश करते हैं। वहाँ जब उन्हें जातिस्मरण से पूर्व भव में किये गये ये दुष्कर्म याद आ जाते हैं तब वे यदि यह विचार करें कि- अहो ! मैंने धर्म करने के लिए अधर्मपरक पापात्मक कार्य किये थे। मैंने देवी-देवता, पितर (पूर्वज) को प्रसन्न करने के लिए, औषधि और मंत्र की सिद्धि के लिए, भय और शारीरिक-मानसिक वेदनाओं से बचने के लिए निरीह मूक प्राणियों को मारा था, मैंने अपरिमित परिग्रह इकट्ठा किया था, जिह्वा की लोलुपता से मधु, मांस, मद्य और पंच उदम्बर फलों का सेवन किया था, मैंने असत्य भाषण किया था, चोरी की थी। तिल मात्र सुख के लिए परस्त्री का सेवन किया। कषायों के आवेश में और विषयासक्ति से जो पाप किया उसी के फल में मुझे ये दु:ख मिले हैं, उन्हीं के फल में मुझे इस श्वभ्रसागर में आना पड़ा है। अब मैं उन दु:खोत्पादक कार्यों को छोड़ता हूँ, उन सब पापों की मैं आलोचना करता हूँ, निन्दा-गर्हा करता हूँ। हे भगवन्! मेरे वे सभी दुष्कृत मिथ्या हो जावें, नष्ट हो जावें आदि विचार उत्पन्न हो जावें तो वहाँ उन्हें प्रथमोपशम सम्यक्त्व रूपी रत्न की प्राप्ति हो जाती है।

नोट : यह जातिस्मरण उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्तकाल के भीतर ही होता है। **(ध. के आधार से)**

वेदनाभिभव से :

प्रश्न : नरक में सभी नारकियों को वेदना की अनुभूति होती है अत: सभी को सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिए?

उत्तर : उपर्युक्त शंका का परिहार करते हैं। वेदनासामान्य सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण अथवा अमुक असंयम से उत्पन्न हुई है उन्हीं जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है। अन्य जीवों की वेदना नरकों में सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं होती, क्योंकि उसमें उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव होता है। **(ध. ६/४२३)**

अर्थात् पूर्वभव में गुरुओं के द्वारा बार-बार समझाये जाने पर भी मैंने सरागी, वस्त्राभूषणधारी जो गदा, त्रिशूल, स्त्री आदि से पहचाने जाते हैं, जो राग-द्वेष से मलिन चित्त वाले हैं ऐसे देवों की आराधना करना नहीं छोड़ा था इसीलिए मुझे यहाँ पर वेदना सहन करनी पड़ रही है। मैं जिह्वा की लोलुपता से मांस-मदिरा-मधु आदि असंख्यात त्रस जीवों के पिण्ड स्वरूप अभक्ष्य पदार्थों को खाकर आनन्द मानता रहा। मैंने दूसरों को भी ये पदार्थ खिलाए और नहीं खानेवालों को इन पदार्थों को खाने के लिए प्रेरित किया, उन्हीं असंयम रूप परिणामों के कारण आज ये नारकी मेरे ही शरीर के टुकड़े कर-कर के मेरे मुँह में ठूस रहे हैं, ये उबलता हुआ ताँबा मेरे मुँह में उड़ेल रहे हैं आदि विचार करते-करते यदि उनमें यह बुद्धि उत्पन्न हो कि मैं अब मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा। मैं भगवान के द्वारा बताये गये दु:खप्रद मिथ्यात्व और असंयम को छोड़कर मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने वाले इन्द्रियसंयम एवं प्राणीसंयम को ग्रहण करूँगा। जिनेन्द्र भगवान ने जो कहा है वही सत्य है इसीसे मेरा कल्याण होगा। इस प्रकार के विचार में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा के प्रति उसकी आस्था होने से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

अनेक प्रकार के दु:खों से भरे नरक में जन्म लेने पर वे विचार करते हैं कि हम दु:खों की खान स्वरूप रौद्रस्थान में किस पाप के द्वारा लाये गये हैं। इस प्रकार के चिंतन मात्र से उन नारकी जीवों को अपने पूर्व जन्म के वैर का सूचक और दु:ख उत्पत्ति का कारण कुअवधिज्ञान स्वयं प्रगट हो जाता है। जिसके द्वारा वे अपने पूर्व भव के अनाचारों और अपनी सम्पूर्ण दुष्ट क्रियाओं को शीघ्र ही जान लेते हैं। अत: पश्चाताप की अग्नि से संतप्त होते हुए इस प्रकार विचार करते हैं कि अहो ! पंचेन्द्रियों के विषयों से ठगे हुए एवं करोड़ों दुष्कर्मों के द्वारा हमने अपनी आत्मा के नाशक, अत्यन्त निन्द्य जो महान् पाप अर्जित किये हैं उनके द्वारा ही इस दुखदायी क्षेत्र में निन्दनीय और उपमा रहित करोड़ों दु:ख एवं क्लेश प्रगट हो रहे हैं। हा ! पूर्व जन्म में इन्द्रियलम्पट होकर मैंने सरसों के बराबर इन्द्रियसुखों के लिए जो पाप किये थे उनसे ये मेरु सदृश दु:ख मुझे प्राप्त हो रहे हैं। विषयासक्त होकर मैंने अखाद्य खाये और अपेय पदार्थ पीये थे। मैंने निर्दय होकर जबरन अनन्त जीवराशि को मारा है। असत्य, कटुक और निन्दा आदि के दुर्वचन कहे हैं। करोड़ों प्रकार की वञ्चना एवं कुटिलता द्वारा पर-वस्तुओं का हरण किया है। रागांध हो मैंने दुष्टतापूर्वक परस्त्री का सेवन किया है। अनेक परिग्रह एकत्र किये। धन, स्त्री, कुटुम्बादि के लिए नित्य ही भारी आरम्भ किया है। मैंने पूर्वभव में अल्प सुख के लिए पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन किया है। अज्ञानता से मैंने करोड़ों खोटे आचरण किये हैं। मिथ्या देव-शास्त्र-गुरुओं की सेवा की है। सात व्यसनों में आसक्त होकर मैंने व्रतों का पालन नहीं किया, दानादि देकर पुण्यार्जन नहीं किया। मैंने धर्मात्मा पुरुषों के उपदेश को नहीं सुना...। उन्हीं पापकार्यों के कारण मुझे यह दु:ख की राशि रूप नरक मिला है। मैंने कुटुम्ब के लिए बहुत पाप किये। लेकिन वे पाप का फल भोगने के लिए मेरे साथ यहाँ नहीं आये हैं। आदि पश्चाताप करते हैं। **(सि.सा.दी. ३४-५२)** अर्थात् इस प्रकार के विचारों से नारकी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

नोट - यह वेदनाभिभव उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही होता है।

कोई कहे कि सामान्य रूप से ऐसे विचार तो सबके उत्पन्न होते हैं। इसलिए सभी नारकियों को सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता, क्योंकि मिथ्यात्व का प्रबल उदय होने से यह प्राणी दु:खों से भयभीत होते हुए साक्षात् दु:खों के फलों को भोगते हुए भी उनके कारण रूप पापों को नहीं छोड़ना चाहते हैं। इसलिए वे नारकी पूर्वभवों के स्मरण से और अधिक संक्लेशित होकर विपरीत विचार करते हुए वैर परिणामों से उग्र हो जाते हैं और अपनी पूरी शक्ति दूसरों को दु:ख देने में, बदला लेने में लगा देते हैं। कोई विरले ही नारकी होते हैं जो जातिस्मरण से वेदनाभिभव को प्राप्त होकर सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर लेते हैं फिर भी वहाँ असंख्यात नारकी सम्यग्दृष्टि होते हैं।

तमिलनाडु की घटना

कुछ वर्ष पूर्व हम लोग तमिलनाडु की यात्रा करने गये थे। हमारे जाने के कुछ दिन पहले वहाँ सुनामी लहरें आयी थीं। इसके बारे में लोगों ने बताया–माताजी! उन लहरों से हजारों लोग मरण को प्राप्त हो गये। कुछ लोग ऐसे थे जो न मरे थे न अच्छी तरह जीवित रह पाये। वे समुद्र के बीच उठे हुए स्थानों पर अर्थात् समुद्र में स्थित टापुओं में फँस गये। जब वे भूख से तड़प रहे थे तब हम लोग उन्हें हवाई जहाज से भोजन देने गये तो कुछ लोगों ने हमारा भोजन प्रेम से स्वीकार कर लिया। लेकिन कुछ लोग हमारे द्वारा दिये गये भोजन को फेंककर मछली-मांस-शराब आदि माँग रहे थे। हमने उन्हें बहुत समझाया। परन्तु वे हमारे ऊपर ही क्रोधित हो उठे और कुछ समय पश्चात् पुन: तड़प-तड़प कर गिड़गिड़ाते हुए मांसादि हिंसात्मक वस्तुओं की याचना करने लगे। उनकी बातें सुनकर मुझे लगा कि वास्तव में व्यक्ति के ऊपर कितनी ही आपत्ति आ जावे, वह कितनी ही वेदनाओं/रोगों का शिकार बन जाये फिर भी पाप नहीं छोड़ सकता। पाप छोड़ना तो जल को मथकर घी निकालने जितना दुष्कर है। इसलिए लाखों नारकियों में से कोई एक दो नारकी होते होंगे जिनको जातिस्मरण और वेदनाभिभव से पापों के प्रति ग्लानि उत्पन्न होकर धर्मबुद्धि जागृत होती है। जिससे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आस्था उत्पन्न होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती होगी। शेष अर्थात् बहुसंख्यक नारकी तो जातिस्मरण से पूर्व के वैर को याद करके और वेदनाभिभव से मारने, काटने, दु:ख देने वाले नारकियों को देखकर उनके प्रति वैर लेने की, उन्हें इससे भी अधिक पीड़ा देने के विचार ही करते हैं, पीड़ा देते हैं। पीड़ा देकर खुश होते हैं और भविष्य के लिए पुन: ऐसे ही दुष्कर्मों का बंध कर लेते हैं। तभी तो नारकी मरकर एक अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में माँ के गर्भ में रहकर वापिस नरक में जा सकता है।

प्रथम नरक का नारकी लगातार (अन्तर्मुहूर्त्त मात्र मनुष्य-तिर्यञ्च बनकर) आठ बार, दूसरे नरक का ७ बार, तीसरे नरक का ६ बार, चौथे नरक का ५ बार, पाँचवें नरक का ४ बार, छठे नरक का ३ बार, सातवें नरक का २ बार पुन:पुन: नरक में जा सकता है। **(ति.प. २/२८६-८७)** फिर भी जो नारकी सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं वे धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं। हमें भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

धर्मश्रवण

कोई पूछे कि नरकों में तो गुरुओं का समागम है ही नहीं, हो भी नहीं सकता। वहाँ कोई शास्त्र आदि के माध्यम से भी तत्त्व का ज्ञाता नहीं बन सकता। वहाँ कोई किसी का मित्र या एक-दूसरे के प्रति सद्भावना रखने वाला भी नहीं होता है। सभी एक दूसरे के शत्रु होते हैं। निरन्तर एक-दूसरे को दु:ख देने में ही तत्पर रहते हैं फिर उन्हें धर्मश्रवण अर्थात् धर्म का स्वरूप सुनकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो सकती है? यह सत्य है कि नरकों में गुरुओं का समागम नहीं मिल सकता। नरकों में मनुष्य नहीं होते इसलिए वहाँ गुरुओं का समागम नहीं मिल सकता और न वहाँ कोई शास्त्रज्ञ प्राज्ञ विद्वान ही मिल सकता है। वास्तव में नरक जैसे क्रूर, क्लेशप्रद स्थान में परम सौभाग्य से प्राप्त होने वाले धर्मध्यान के कारणभूत देव-शास्त्र-गुरु का समागम कैसे मिल सकता है और यदि मिल जाये तो वहाँ के जीव पूर्वोपार्जित पापों के दुष्फल को कैसे भोगेंगे? भोग सकते हैं? वहाँ मिथ्यादृष्टि-नारकी की बात तो दूर रहे सम्यग्दृष्टि नारकी तक भी किसी नारकी को धर्म का उपदेश नहीं दे सकता है, क्योंकि वहाँ के क्षेत्र का ऐसा ही प्रभाव है एवं उन नारकियों के कर्मोदय ही ऐसा होता है कि उन्हें वहाँ हितकर बात, उपदेश सुनने को नहीं मिल सकता। **आचार्य अकलंक स्वामी तत्त्वार्थ राजवार्तिक ग्रन्थ** में कहते हैं कि – वे नारकी एक-दूसरे का 'मैं अच्छा करूँगा।' ऐसा सोचकर अच्छा करे तो भी बुरा ही होता है। फिर भी पूर्व भव का यदि किसी का मित्र/हितैषी स्वर्ग में गया हो और कोई अपने हितैषी की बात न मानकर पाप से लिप्त रहते हुए नरक में चला गया हो तो वह स्वर्ग का देव अपने मित्र को सुखी करने के लिए, धर्म समझाने के लिए (विक्रिया के माध्यम से) नरक में जाकर सम्बोधन करे अर्थात् पूर्वकृत पापों के फल रूप नरक दु:खों को बतावे, अपना हितैषी कोई करुणा बुद्धि से नरक में जाकर धर्मोपदेश देवे। जैसे- सीताजी के जीव ने नरक में जाकर रावण, लक्ष्मण आदि को सम्बोधित किया था। तो वे नारकी उस देव के उपदेश को सुनकर मिथ्यात्व को उगलकर सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं। इस अपेक्षा तीसरे नरक तक धर्मश्रवण को भी सम्यक्त्व उत्पत्ति का साधन कहा गया है। कहा भी है- अपने पूर्व भव के सम्बन्धी जीवों के धर्म उत्पन्न कराने में प्रवृत्त और समस्त बाधाओं से रहित सम्यक्त्वी देवों का नरकों में गमन देखा जाता है। **धवलाजी** ग्रन्थ में आचार्यमहाराज ने कहा है–

प्रश्न : नारकियों के धर्मश्रवण किस प्रकार सम्भव है, क्योंकि वहाँ तो ऋषियों के गमन का अभाव है।

उत्तर : नहीं, क्योंकि अपने पूर्वभव के सम्बन्धी जीवों के धर्म उत्पन्न कराने में प्रवृत्त और समस्त बाधाओं से रहित सम्यग्दृष्टि देवों का तीसरे नरक तक गमन देखा जाता है। कोई कहे चौथे आदि नरकों में वहीं के सम्यग्दृष्टि नारकियों के द्वारा धर्मश्रवण करके प्रथम सम्यक्त्व क्यों नहीं उत्पन्न होता? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं कि नहीं होता, क्योंकि भव सम्बन्ध से या पूर्व वैर के सम्बन्ध से परस्पर विरोधी हुए नारकी जीवों के अनुग्रह-अनुग्राहक भाव उत्पन्न होना असम्भव है। **(ध. ६/४२४)**

सीताजी के जीव ने रावण एवं लक्ष्मण को धर्मोपदेश दिया

सीताजी का जीव समाधिपूर्वक मरण करके सोलहवें स्वर्ग में सुरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ जाते ही वह अवधिज्ञान से देखता है कि रावण और लक्ष्मण नरक रूप दुर्गति के गर्त में गिरकर असह्य वेदना को भोग रहे हैं तो वह सुरेन्द्र नरक में जाकर उन्हें श्रीराम का तथा अपना (सीता की पर्याय) सब वृत्तान्त सुनाता है और साथ ही यह भी कहता है कि कर्मानुसार ये सब विचित्र कार्य संभव हो जाते हैं। तदनन्तर अपना वृत्तान्त सुनकर जो प्रतिबोध को प्राप्त हुए थे, जिनकी आत्मा शांत हो गई थी ऐसे वे दोनों दीनतापूर्वक इस प्रकार शोक करने लगे कि अहो! हम लोगों ने उस समय मनुष्य जन्म में धर्म में रुचि क्यों नहीं की? जिससे पापकर्मों के कारण इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं। हाय ! हाय !! आत्मा को दु:ख देने वाला यह विकट कार्य हम लोगों ने कर डाला। अहो, यह सब मोह की महिमा है कि जिसके कारण जीव आत्महित से भ्रष्ट हो जाता है। हे देवेन्द्र ! तुम ही धन्य हो जो विषयों की इच्छा छोड़कर तथा जिनवाणी रूपी अमृत का पानकर देवों की ईशता को प्राप्त हुए हो।

तदनन्तर अत्यधिक करुणा के धारण करने वाले देवेन्द्र ने कई बार कहा कि डरो मत, डरो मत, आओ, आओ मैं तुम लोगों को नरक से निकालकर स्वर्ग ले चलता हूँ। तत्पश्चात् वह सुरेन्द्र कमर कसकर उन्हें स्वयं ले जाने के लिए उद्यत हुआ परन्तु वे पकड़ में न आये। जिस प्रकार अग्नि के तपाने से नवनीत पिघलकर रह जाता है उसी प्रकार वे नारकी भी पिघलकर वहीं रह गये। इन्द्र ने उन्हें उठाने के लिए सभी प्रयत्न किये पर वे उठाये नहीं जा सके। जिस प्रकार दर्पण के प्रतिबिम्ब हस्तग्रहण में नहीं आते। उसी प्रकार वे भी ग्रहण में नहीं आ सके। तदनन्तर अत्यन्त दु:खी होते हुए उन नारकियों ने कहा कि देव! हम लोगों के जो पूर्वोपार्जित कर्म हैं वे नि:सन्देह भोगने के योग्य हैं। जो विषय रूपी आमिष (जहर) के लोभी होकर नरक के दु:ख प्राप्त हुए हैं। तथा जो अपने द्वारा किये हुए कर्मों के पराधीन हैं उनका देव लोग क्या कर सकते हैं। यतश्च अपने द्वारा किया हुआ कर्म नियम से भोगना पड़ता है। इसलिए हे देव ! तुम हम लोगों को दु:ख से छुड़ाने में समर्थ नहीं हो। हे सीतेन्द्र ! हमारी रक्षा करो, अब हम जिस कारण नरक को प्राप्त न हों, कृपाकर वह बात तुम हमें बताओ।

तदनन्तर देव ने कहा कि जो उत्कृष्ट है, नित्य है, आनन्द रूप है, मूढ मनुष्यों के लिए मानों रहस्यपूर्ण है, जगत्त्रय में प्रसिद्ध है, कर्मों को नष्ट करने वाला है, शुद्ध है, पवित्र है, परमार्थ को देने वाला है, जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है और यदि प्राप्त हुआ भी है तो प्रमादी मनुष्य जिसकी सुरक्षा नहीं कर सके हैं; जो अभव्य जीवों के लिए अजेय है और दीर्घ संसार को भय उत्पन्न करने वाला है ऐसा सबल एवं दुर्लभ सम्यग्दर्शन जैसा आत्मा का सबसे अधिक कल्याण करने वाला न है, न था और न होगा। इसके रहते ही महर्षि सिद्ध होंगे, अभी हो रहे हैं और पहले भी हुए थे। यहाँ उत्तम अरहंत जिनेन्द्र भगवान ने जीवादि पदार्थों का जैसा निरूपण किया है वह वैसा ही है। इस प्रकार भक्तिपूर्वक दृढ़ श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है। इत्यादि वचनों के द्वारा नरक में स्थित उन को सीतेन्द्र ने सम्यग्दर्शन प्राप्त करा दिया था। **(प.पु. १२३ सर्ग)**

इसी प्रकार महापुराणजी में आया है कि महाबल का जीव गुरु की आज्ञानुसार दूसरे नरक में जाकर शतबुद्धि को समझाने लगा कि ''हे भोले मूर्ख शतबुद्धि, क्या तू मुझ महाबल को जानता है? उस भव में अनेक मिथ्या नयों के आश्रय से तेरा मिथ्यात्व बहुत ही प्रबल हो रहा था। देख, उसी मिथ्यात्व का यह दु:ख देने वाला फल तेरे सामने है। इस प्रकार श्रीधर देव के द्वारा समझाते हुए शतबुद्धि के जीव ने सम्यग्दर्शन धारण किया और मिथ्यात्व रूपी मैल के नष्ट हो जाने से उत्कृष्ट विशुद्धि प्राप्त की। **(म.पु. १०/११३)**

इसी प्रकार और भी अनेक नारकी धर्मश्रवण करके सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं लेकिन धर्मश्रवण से सम्यक्त्व की प्राप्ति का नियम मात्र तीसरे नरक तक ही कहा गया है क्योंकि तीसरे नरक से आगे देवों का गमन नहीं होता है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने सूत्रराज महाग्रन्थ में 'संक्लिष्टाऽसुरोदीरित दु:खाश्च प्राक् चतुर्थ्या:। **(त.सू. ३/५)** संक्लिष्ट परिणाम वाले असरकुमार जाति के देव चौथे नरक के पहले अर्थात् तीसरे नरक तक के नारकियों को दु:ख देते हैं। जिस प्रकार दु:ख देने जाते हैं उसी प्रकार सम्बोधन करने भी जा सकते हैं। वे नारकी जन्म के अन्तर्मुहूर्त्त काल के बाद सम्यक्त्व प्राप्त करके अपनी-अपनी आयु पर्यन्त रह सकते हैं तथा छठे नरक तक के नारकी सम्यक्त्व को साथ लेकर मरण करके मनुष्य बनते हैं। सातवें नरक वाले मरण के अन्तर्मुहूर्त्त पहले सम्यक्त्व छोड़ देते हैं।

तिर्यञ्च गति में

तिर्यञ्चगति में प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के तीन कारण कहे गये हैं –

१. जातिस्मरण २. जिनबिम्बदर्शन ३. धर्मश्रवण **(सर्वा. १/७)**

कितने ही तिर्यञ्च गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोध से तथा कितने ही जीव स्वभाव से प्रथमोपशम अथवा वेदक सम्यक्त्व ग्रहण कर लेते हैं तथा कितने ही सुख-दु:ख को देखकर, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्र महिमा के दर्शन से और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। **(ति.प. के आधार से)**

जाति स्मरण

कोई तिर्यञ्च किसी तिर्यञ्च या मनुष्यों के सुख-दु:ख को देखकर जातिस्मरण को प्राप्त होकर सोचते हैं कि यह सुखी क्यों हुआ और मैं दु:खी क्यों हुआ? मैं इस तिर्यञ्च पर्याय में क्यों आया? हाय! मैंने ही पूर्व पर्याय में छल-कपट किया था, मैंने ही लोगों को आकर्षित करने के लिए तथा ख्याति-पूजा, नाम की आकांक्षा से मायाचारी पूर्वक तप-संयम धारण किया था। मैं अपने उस सभी अपराध को स्वीकार करता हूँ। आगे मैं इस प्रकार का छल कभी नहीं करूँगा। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताया गया निश्छल तप ही संसार-सागर से पार कर सकता है। मैं उस जिनेन्द्रवाणी की श्रद्धा करता हूँ। इस प्रकार के विचार करते हुए तिर्यञ्च सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है/कर सकता है। जैसे - राम का भाई ''भरत और त्रिलोकमण्डन हाथी का जीव पूर्व भव में अनेक भवों तक साथ रहे थे। परस्पर दोनों में

अत्यन्त प्रेम था। एक बार त्रिलोकमण्डन हाथी का जीव मृदुमति नाम के मुनिराज बनकर तपस्या कर रहे थे। तभी एक बार परम तपस्वी गुणनिधि नामक मुनिराज दुर्गगिरि पर्वत पर चार माह का योग धारण करके विराजमान हुए। निकटवर्ती आलोक नामक गाँव के श्रावकों ने चार माह तक मुनिराज के चरणों की आराधना की एवं योग (वर्षायोग) पूरा होने पर आहारदान, धर्मोपदेश आदि का लाभ प्राप्त करने का इंतजार करते रहे। चार माह पूरे होने पर गुणनिधि मुनिराज अपना योग पूरा करके आकाशमार्ग से गमन कर गये और योग से मृदुमति मुनि विहार करते हुए उसी पर्वत पर आकर विराजमान हो गये। जब वे आहार के लिए निकटवर्ती आलोक नगर में आये तो सभी लोगों ने यह समझकर कि ये वे ही महातपस्वी मुनिराज हैं जिन्होंने दुर्गगिरि पर्वत पर चार माह का योग धारण करके कठोर तपस्या की थी। अहो ! इन्हें धन्य हो, अहो ! ये कितने नि:स्पृह साधु हैं, इनको अपने शरीर से किंचित् मात्र भी प्रेम नहीं है। अहो ! ऐसे संत ही बहुत जल्दी शिवालय में जाकर अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख को भोगते हैं, आज इनके दर्शन करके हमारे नेत्र सफल हो गये हैं। आज हमारा जीवन धन्य हो गया है, आज इनके चरण पड़ने से हमारा नगर तीर्थ बन गया है आदि-आदि शिष्ट-मिष्ट वचनों से मुनिराज की भूरि-भूरि प्रशंसा की। विशिष्ट-विशिष्ट द्रव्यों से उनके चरणों की पूजा की और विशेष-विशेष द्रव्यों का आहार देकर अपने जीवन को सफल माना। यद्यपि मृदुमति मुनिराज उनकी भक्ति की विधि को देखकर समझ गये कि वे मुझे 'गुणनिधि' मुनि समझ कर ही भक्ति कर रहे हैं लेकिन वे मौन रहे। उन्होंने श्रावकों को यह नहीं बताया कि मैं वह तपस्वी 'गुणनिधि' मुनि नहीं हूँ, मैं तो सामान्य मुनि हूँ, विहार करता हुआ यहाँ आया हूँ। छलपूर्वक अपनी प्रतिष्ठा पूजा आराधना कराने के कारण मरकर वे हाथी की पर्याय को प्राप्त हुए जिनका नाम त्रिलोकमण्डल रखा गया था और भरत का जीव निश्छल भाव वाला था जिससे वह क्रमश: राजा दशरथ की पट्टरानी कैकेयी के भरत नामक राजकुमार हुआ। जब त्रिलोकमण्डन हाथी बन्धन तोड़कर भाग गया था, उसने जैसे ही भरत को देखा तो उसे जातिस्मरण हो गया। उसे अपने पूर्व भव में किये गये छल का पश्चाताप होने लगा। फलत: उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी। उसने खाना-पीना, दौड़ना-भागना आदि सभी कार्य बन्द कर दिये और भरत से सम्बोधन पाकर श्रावक के व्रतों को धारण करके पंचम गुणस्थानवर्ती बन गया।

हाथी को सम्यक्त्व हुआ

राजकुमार प्रीतिंकर एवं मंत्रीपुत्र विचित्रमति ने धर्मरुचि मुनिराज का धर्मोपदेश सुनकर मुनिदीक्षा ले ली। प्रीतिंकर मुनिराज ने घोर तपस्या की जिसके फल में उन्हें ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। एक दिन प्रीतिंकर मुनिराज वृत्तिपरिसंख्यान तप करते हुए आहारचर्या के लिए निकले। वे अपनी वृत्ति (विधि) को ढूंढ़ने के लिए गाँव-गाँव गली-गली में गमन कर रहे थे। अचानक वे एक वेश्या के घर के आगे से निकले। वह वेश्या बुद्धिसेना घर के बाहर उनका रास्ता रोककर कहने लगी- हे गुरुवर! हे तपोधन ! आप जैसे पात्र को/सत्पात्रों को दान देने के लिए हमें कौनसे व्रत-नियम धारण करने चाहिए? प्रीतिंकर मुनिराज ने अपना मौन खोलकर उस वेश्या को सत्पात्रों को दान देने योग्य कुल, चर्या, आचरण, नियम आदि

का उपदेश दिया। उनका उपदेश सुनकर वेश्या ने पाँच अणुव्रत धारण करने का मन बना लिया। मुनिराज पुन: मौन लेकर जंगल में चले गये। जब मुनिराज बहुत देर से वन में पहुँचे तो विचित्रमति मुनि ने विनयपूर्वक पूछा- हे मुनिवर ! आज आपको आहार में इतनी देर क्यों लगी? प्रीतिंकर मुनिराज ने वेश्या के साथ हुए प्रश्न-उत्तर, उपदेश आदि को यथावत् बता दिया। वेश्या के वृत्तान्त को सुनकर विचित्रमति मुनि के मन में विकार उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन विचित्रमति मुनि छलपूर्वक आहार करने गये। रास्ते में उसी वेश्या ने घर से निकलकर पूछा- हे गुरुवर ! मैंने कल आप जैसे ही मुनिराज के उपदेश से पाँच अणुव्रतों का स्वरूप सुना था। उन व्रतों के पालन का फल क्या होता है? आप यह बताकर हमें कृतार्थ कीजिए। वह वेश्या कुछ ही क्षणों में मुनिराज के हाव-भाव एवं वार्तालाप से समझ गई कि मुनिराज के मन में विकार उत्पन्न हो गया है। इसलिए उसने मुनि को सम्बोधित करते हुए संसार, शरीर, भोगों की क्षणभंगुरता एवं संयम की महिमा को बताते हुए संयम को त्यागने से होने वाले दुष्फलों को भी बताया। नारी की संगति करने से मुनिपने का नाश हो जाता है, यौवन वन के समान बन जाता है, नारी की संगति करोड़ों वर्षों तक किये गये तप को क्षण भर में नष्ट कर देती है, नारी की संगति से लोक में अपयश फैलता है। नारी आरी के समान साधु की त्याग-तपस्या को काट डालती है आदि-आदि। अनेक युक्तियों से उसने मुनिराज के काम-विकार को दूर करने की कोशिश की। उसकी धार्मिक बातों को सुनकर मुनिराज बोले- हे वेश्या! यदि मुर्दे के साथ भी विषय भोग किया जावे तो अधिक आनन्द आता है फिर जीवित तेरी जैसी सुन्दर नारी के साथ भोग करने से जो आनन्द मिलता है उसे वचनों से कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार की विकार विवर्द्धक बातों को सुनकर वेश्या ने अपना मुँह दूसरी तरफ फेर लिया। तो भी मुनि के मन का विकार समाप्त नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने अपनी वासनापूर्ति के लिए नयी युक्ति सोची। वे राजा के रसोइये से मिलकर राजा के यहाँ रहने लगे। वह राजा को प्रसन्न करने के लिए राजा की प्रिय वस्तु मांसाहार की नयी-नयी चीजें बनाकर खिलाने लगा। एक दिन राजा उसके भोजन से बहुत प्रसन्न हुआ। उसने प्रसन्न होकर विचित्रमति से इच्छित वर माँगने के लिए कहा। विचित्रमति तो इसी इंतजार में था। उसने तत्काल कहा- राजन् ! बुद्धिसेना नाम की वेश्या को मेरे साथ भोग करने की आज्ञा दो। राजा ने वेश्या को बुलाकर आदेश दिया। विचित्रमति ने वेश्या के साथ भोग भोगे एवं मांसभक्षण करते हुए कुछ समय के बाद मरण कर हाथी की पर्याय में जन्म लिया।

एक दिन उस हाथी पर बैठ कर हाथी का स्वामी मुनिराज के दर्शन करने गया। वह हाथी भी अपने स्वामी के साथ मुनिराज का उपदेश सुनकर जातिस्मरण को प्राप्त हुआ। उसने अपने पापों की आलोचना, निन्दा-गर्हा की। फलत: उसने सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया और पाँच अणुव्रतों का संकल्प लिया। जब उसे मांस मिश्रित घास रखी गयी तो उसने नहीं खायी। अनेक प्रकार की युक्तियों से उसे वही घास खिलाने का प्रयास किया लेकिन सब निष्फल रहा। जब उसे मांस से रहित घास रखी गयी तो उसने वह सहज रूप में खा ली।

अहो, आश्चर्य है कि वह मुनि बनकर भी मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो गया, दुर्गति को प्राप्त हुआ और

तिर्यञ्चगति रूप नीच पर्याय में जातिस्मरण होने से सम्यक्त्व को प्राप्त किया तथा अणुव्रत धारण करके अपना कल्याण किया। धन्य है उसे, वह निश्चित निर्वाण लक्ष्मी का वरण करेगा।

जिनबिम्बदर्शन से

कई तिर्यञ्चों को जिनबिम्ब के दर्शन अर्थात् श्रद्धा से सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है। हो सकता है किसी को जिनबिम्ब के दर्शनकर आत्मा का वास्तविक स्वरूप यही है, इस प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। जिनालयों में यद्यपि तिर्यञ्चों को आने नहीं दिया जाता है फिर भी कभी-कभी गाय, कुत्ता, सूअर आदि जबरन जिनालयों में घुसते हुए देखे जाते हैं। वे किस उद्देश्य से मंदिर में घुसते हैं, यह नहीं कहा जा सकता है, वे चाहे किसी उद्देश्य से मंदिर में जायें पर वहाँ भी जिनबिम्ब के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि वे भी मन वाले होते हैं, उनमें भी वैचारिक क्षमता होती है। कई तिर्यञ्च बिल्ली, चूहा, चिड़िया आदि मंदिर में ही रहते हैं, उन्हें भी सम्भव है कभी जिनबिम्बदर्शन से सम्यक्त्व हो जावे। इसीलिए तिर्यञ्चों में जिनबिम्ब दर्शन को सम्यक्त्व का कारण कहा गया है। शायद इसीलिए हमारे भारत में 'विमान महोत्सव' की परम्परा है। चाहे छोटा गाँव हो, बड़ा शहर हो या महानगर हो, अन्य किसी समय में विमान महोत्सव हो या नहीं दसलक्षण के बाद किसी एक निश्चित दिन में और महावीर जयन्ती के अवसर पर तो विमानोत्सव किया ही जाता है, अर्थात् जिनबिम्ब को विमान, पालकी, रथ आदि में विराजमान करके अनेकानेक स्थानों पर ले जाया जाता है। यह समवसरण सहित भगवान के विहार का प्रतीक माना जाता है। इसका कारण यही है कि नगर में कोई वृद्ध, बीमार, अशक्त, असमर्थ लोग जो मंदिर तक जाकर जिनेन्द्र भगवान के दर्शन नहीं कर पाते हैं अथवा कोई नास्तिक जिसने कभी भगवान के दर्शन नहीं किये हैं या नहीं करना चाहते हैं अथवा वे शूद्र लोग जिनको नीच कुल में उत्पन्न होने के कारण जिनालय में प्रवेश करने का अधिकार नहीं दिया जाता है और वे गाय-भैंस, पशु-पक्षी, सूअर-कुत्ता आदि जिनको मंदिर में घुसते ही लाठी मारकर भगा दिया जाता है, मंदिर के बाहर कर दिया जाता है ऐसे जीवों को जिनबिम्ब के दर्शन हमेशा नहीं सही वर्ष में एक-दो बार तो हो ही जावें ताकि उन्हें भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का बाह्य निमित्त मिल सके। यही सोचकर जिनबिम्ब को जैनकुल में उत्पन्न होने वालों के घर तक ले जाया जाता है। उसी के बीच में बाजों की ध्वनि, जयनाद आदि को सुनकर अन्य लोग भी उस महोत्सव को देखने आ जाते हैं और मार्ग में सूअर, कुत्ते-बिल्ली आदि भी जिनबिम्ब के दर्शन करते हैं, जिनबिम्ब की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं/कर सकते हैं। अथवा जिनबिम्ब की महिमा सुनकर भी कोई तिर्यञ्च-मनुष्य जिनबिम्ब की श्रद्धा कर सकते हैं, श्रद्धा के माध्यम से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

इसी प्रकार कभी जिनमंदिर में चिड़िया, कबूतर आदि पहुँच जाते हैं। वे भी जिनबिम्ब के दर्शन करके सम्यक् श्रद्धा को प्राप्त कर लेते हैं। राम के भाई भरत का जीव पूर्व भव में जब हिरण की पर्याय में था तब भगवान विमलनाथ स्वामी के समय में स्वयम्भू नारायण ने जिनमन्दिर में उसके पालन-पोषण की आज्ञा दी थी। वहाँ वह भगवान के दर्शन करता था। वहाँ होने वाले पूजा-विधान, गुरु का उपदेश

सुनना आदि धार्मिक कार्यों की अनुमोदना करता था। फलत: वह मरकर स्वर्ग में गया। वहाँ से आकर कुछ ही भवों में भरत बनकर निर्वाण को प्राप्त हुआ। इससे संभव है कि वहाँ जिनबिम्ब दर्शन से उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई हो। सेठ सुदर्शन स्वामी ने पूर्व भव में कुत्ते की पर्याय में जो जिनालय के बाहर रहता था उसे भी भगवान के दर्शन/श्रद्धा करने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई हो, क्योंकि उस भव के बाद वह कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ। ऐसे-ऐसे अनेक तिर्यञ्चों ने जिनबिम्बदर्शन से सम्यक्त्व को प्राप्त करके भव सुधारा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ऐसे भव्य जीवों को धन्य हो, जिन्होंने तिर्यञ्च जैसी निकृष्ट पर्याय प्राप्त करके भी सम्यक्त्व रूपी रत्न से अपने आपको सुसज्जित करके मोक्ष का टिकट प्राप्त कर लिया और कुछ भवों में अपनी यात्रा सफल करते हुए गन्तव्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया, उन सबको मेरा वन्दन है।

धर्मश्रवण से

कई तिर्यञ्चों को जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताये गये धर्म का श्रवण करके सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है। पुराण ग्रन्थों में अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे भगवान पार्श्वनाथ स्वामी के जीव ने हाथी की पर्याय में, चक्रवर्ती भरत के जीव ने शेर की पर्याय में मुनिराज के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुनकर जिनेन्द्र-प्रणीत धर्म पर मोक्षमार्ग का श्रद्धान करके सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को प्राप्त किया था। कई तिर्यञ्चों ने समवसरण में तीर्थंकर भगवान के साक्षात् दर्शन कर एवं देशना सुनकर अनादिकाल से चले आये मिथ्यात्व रूपी अंधकार को नष्टकर सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य को प्राप्त किया। जिस तिर्यञ्च पर्याय में प्राणी जीवादि तत्त्वों का नामोनिशान नहीं जान पाता है, जिन्हें ढोर कहा जाता है, जो मेरे अनुमान से मनुष्यों की भाषा तक नहीं समझते हैं, ऐसे शुक, मछली, मेंढक, छिपकली, साँप, शृगाल, खरगोश, बिल्ली, कुत्ता आदि जीव भी धर्म का अंश सुनकर सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त कर लेते हैं।

जब भगवान महावीर स्वामी का जीव सिंह की पर्याय में था तब वह एक मृग को मारकर ले जा रहा था। वह बार-बार माँस को नोचता था एवं उसका भक्षण करता जाता था। उसी समय 'ज्येष्ठ एवं अमित तेज' दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज आकाशमार्ग से कहीं जा रहे थे। उन्होंने उस क्रूर स्वभावी सिंह को देखा। उसे देखने से उन्हें तीर्थंकर भगवान के पूर्व वचनों का स्मरण हो गया। वे दोनों पृथ्वी पर उतर कर शिला पर बैठ गये। उन्हें देखकर सिंह भी क्रूरता को छोड़कर मुनिराज से कुछ दूर खड़ा हो गया। कुछ समय के बाद अमिततेज मुनिवर ने खड़े होकर कहा- अरे मृगराज ! तू मेरे वचनों को ध्यान देकर सुन। तूने अब तक श्रेष्ठ मार्ग को दोष लगाकर मिथ्यामार्ग में ही वृद्धि की है, भगवान वृषभदेव के वचनों का भरपूर अनादर किया है। उसी मिथ्यात्व से उत्पन्न पापोदय से पीड़ित होकर तुझे अनेक दु:ख उठाने पड़े हैं। केवल यही नहीं, इष्टवियोग तथा अनिष्टसंयोग से उत्पन्न अनेक वेदनाएँ सहन करनी पड़ी हैं। तुम एक बार राजकुमार बने, दीक्षा ली, तपस्या की लेकिन निदान के कारण त्रिपृष्ठ नारायण हुए। वहाँ भी तूने राज्यलाभ की आकांक्षा से हिंसादि कार्यों को किया था तथा धर्म, दान आदि धर्मकार्य की उपेक्षा की थी। आगे तू इसी भरत क्षेत्र में जन्म धारण कर संसार का हित करने वाला चौबीसवाँ

तीर्थंकर बनेगा यह सर्वथा सत्य है। कारण कि जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में एक बार किसी ने 'श्रीधर नामक तीर्थंकर' से पूछा - हे भगवन्! जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जो चौबीसवें तीर्थंकर होंगे वह जीव आजकल किस स्थान पर है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने जो कुछ कहा था, उसे मैंने तुम्हें सुना दिया। अतएव अब तुम संसारबंध के कारण ऐसे मिथ्यात्व को हलाहल समझकर त्याग दो तथा सम्यक्त्व को ग्रहण करो। सम्यक्त्व धर्मरूपी कल्पवृक्ष का बीज है वह मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है। ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करने से तुम्हें संसार की विभूति, तीनों जगत् में होने वाले चक्रवर्ती आदि के सुख तथा अर्हन्त जैसा सर्वोच्च पद उपलब्ध होकर अनन्त सुख की प्राप्ति होगी। वस्तुत: सम्यग्दर्शन के समान न तो कोई धर्म है, न होगा। यह सम्यक्त्व ही कल्याण-साधक है और मिथ्यात्व के समान तीनों लोकों में दूसरा पाप नहीं है अतएव यह मिथ्यात्व ही सारे अनर्थों की जड़ है। उस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही ज्ञान और चारित्र को सत्य कहा जा सकता है। यह कथन भगवान श्री जिनेन्द्र देव का है। अतएव तुम सम्यक्त्व के साथ उत्कृष्ट श्रावक के बारह व्रतों को धारण करो एवं अंत में संन्यास व्रत ग्रहण करो।

सिद्ध योगी के मुखकमल से प्रगट हुए धर्मरूपी अमृत का पान कर सिंह ने मिथ्यात्व रूपी विष को उगल दिया। इस प्रकार वह शुद्ध चित्त हो गया। तत्पश्चात् उसने दोनों मुनियों की परिक्रमा की तथा उनके चरणों में मस्तक झुकाकर देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धान रूप सम्यक्त्व ग्रहण किया। इस प्रकार वह सिंह धर्म श्रवण रूप बाह्य निमित्त से सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। **(महा.पु. ४ सर्ग)**

इस प्रकार तिर्यञ्चों ने जातिस्मरण आदि से सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया।

मनुष्यगति में

कर्मभूमिया मनुष्यों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के चार कारण कहे गये हैं –

१. जिनबिम्ब दर्शन २. जिनमहिमा दर्शन ३. जातिस्मरण ४. धर्मश्रवण **(ति.प. ४/३०००)**

कर्मभूमियों में कितने ही मनुष्य प्रतिबोधन से, कितने ही स्वभाव से, कितने ही बहुत प्रकार के सुख-दु:ख को देखकर उत्पन्न हुए जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्र भवान के कल्याणक आदि रूप महिमा-दर्शन से और कितने ही जिनबिम्ब दर्शन से औपशमिकादि सम्यग्दर्शनों को ग्रहण करते हैं। **(ति.प. ४/३०००-३००१)**

भोगभूमि में कोई जीव जातिस्मरण से, कोई देवों के प्रतिबोधन करने से और कोई चारणमुनि के सदुपदेश से सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं। **(ति.प. ४/३८५)**

मनुष्यों में वेदनाभिभव कारण क्यों नहीं बनता, यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि मनुष्यों के वेदना का अतिरेक नहीं हो सकता। वेदना की अतितीव्रता होने पर उनका मरण हो जाता है अथवा वेदना के प्रतिकार का कोई-न-कोई छोटा-मोटा साधन अवश्य मिल जाता है, जैसे अतिवेदना में भले ही कोई सेवा करने वाला न हो ठण्डी हवा का झोंका लगना, क्षण भर के लिए भी नींद आ जाना, दिन का ढल जाना आदि से भी कुछ शांति मिल ही जाती है। नारकियों के न अकाल में मरण होता है और न ही

वेदना शांति के कोई बाह्य निमित्त ही मिलते हैं अपितु वहाँ वेदना की वृद्धि के कारण ही मिलते रहते हैं इसलिए उनके वेदनाभिभव सम्यक्त्वोत्पत्ति में कारण कहा और मनुष्य-तिर्यञ्चों के नहीं, ऐसा मेरा विचार है।

जिनबिम्बदर्शन से

किसी मनुष्य को जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने अर्थात् श्रद्धान करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तो किसी को जिनेन्द्र भगवान की महिमा गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान एवं मोक्ष प्राप्ति के समय होने वाले अतिशयों को तथा तीर्थंकर भगवान के विशेष पुण्य के फल को देखकर धर्म के प्रति आस्था जागृत हो जाती है तो किसी को पूर्व भव का जातिस्मरण होकर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। जिनबिम्बदर्शन सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होने से ही शायद जैनकुल में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति को जिनेन्द्रदर्शन आवश्यक बताया गया है। किसी को जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा नहीं भी हो तो भी यदि वह प्रतिदिन जिनबिम्ब के दर्शन के लिए जावे, वह भगवान को आँखों से देखकर आवे या मात्र दर्शन की औपचारिकता से भी जबरदस्ती मंदिर ले जावे या भेजे अथवा दर्शन के बिना भोजन नहीं करने का नियम है इसलिए जावे तो भी भविष्य में उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के अवसर बने रहते हैं। **धनञ्जय कवि** ने **विषापहार स्तोत्र** में इसी बात को बताते हुए कहा है -

अजानतस्त्वां नमत: फलं यत् तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधियादधानस्तं तस्य बुद्धसा वहतो न रिक्त:।।२७।।

आपको बिना जाने ही नमस्कार करने वाले पुरुष को जो पुण्यरूप फल होता है वह फल दूसरे को 'देवता है' इस तरह जानने वाले पुरुष को नहीं होता क्योंकि हरितमणि को काच की बुद्धि से धारण करने वाला पुरुष कांच को हरे मणि (हरितमणि) की बुद्धि से धारण करने वाले पुरुष की अपेक्षा दरिद्र नहीं है।

यही कारण है कि मंदिर में जितने भी जिनबिम्ब हैं चाहे छोटे हों या बड़े प्रत्येक बिम्ब के अलग-अलग दर्शन करने, द्रव्य चढ़ाने, नमस्कार करने आदि की परम्परा बनायी गयी है या बनी हुई है। किस जिनबिम्ब के दर्शन करते समय जिनेन्द्र भगवान के प्रति आस्था जागृत हो जावे। मिथ्यात्व रूपी अन्धकार नष्ट होकर सम्यक्त्व रूपी दीपक जल जावे, और शायद इसी उद्देश्य से तीर्थयात्रा करना, सिद्धक्षेत्रों की वन्दना करना, विशेष तपस्वी, ऋद्धिधारी आदि साधुओं के चरणों में जाना आदि धार्मिक कार्य करने की परम्परा है अर्थात् जैन श्रावक अपने जीवन में सम्मेदशिखर, पावापुर, चम्पापुर, अष्टापद, ऊर्जयन्त (गिरनार) आदि तीर्थक्षेत्र, सोनागिरि, द्रोणगिरि, नैनागिरि (रेशन्दीगिरि) आदि सिद्धक्षेत्रों की वन्दना के लिए कम-से-कम जीवन में एक बार तो जाते ही हैं। इसका कारण भी यही लगता है कि अलग-अलग अनेक स्थानों पर अपूर्व-अपूर्व (जिनके दर्शन पहले नहीं किये हैं) चैत्य (जिनबिम्ब) के दर्शन होते हैं। उन अपूर्व जिनबिम्बों के दर्शन से अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि बढ़ती है, परिणाम निर्मल होते हैं। जिससे पूर्वोपार्जित पापों का क्षय हो जाता है। उदय में आने वाले कर्मों का अनुभाग तीव्र (बहुत दु:खप्रद) नहीं

होता है और आगे बँधने वाले कर्मों में भी तीव्र स्थिति-अनुभाग नहीं बँधता है। ऐसे ही समयों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्ति के अवसर रहते हैं, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए सिद्धक्षेत्र, तीर्थक्षेत्र, पंचकल्याणक के स्थान, ऋद्धिधारी मुनिराज, महामुनिराजों की तपस्थली आदि स्थानों को जिनबिम्बदर्शन में ही अर्थात् सम्यक्त्व के कारणों में कहे गये जिनबिम्बदर्शन रूप कारण में संगृहीत किया गया है। मुनिराज के दर्शन भी इसी में आ जाते हैं, क्योंकि मुनिमुद्रा और जिनमुद्रा में कोई अन्तर नहीं होता है। जिस प्रकार भोगों की नयी-नयी सामग्रियों का भोग करते समय भोगी जीवों को नया-नया आनन्द आता है उसी प्रकार निकट भव्य जीव को भी नये-नये जिनबिम्बों के दर्शन से नया-नया आनन्द आता है, नयी-नयी विशुद्धि बढ़ती है। जिस प्रकार नयी भोग सामग्री को भोगते समय भोगी जीव सब कुछ भूल जाता है। उसे अपने परिजन, पुत्र, पौत्र, पत्नी आदि की याद नहीं आती है। श्रीपालजी को जब रयणमंजूषा आदि रानियाँ मिल गईं तो १२ वर्ष तक उन्हें मैनासुन्दरी की याद ही नहीं आई थी। फिर एक दिन अचानक आधी रात में मैनासुन्दरी के साथ किये गये वादे की याद आयी थी। उसी प्रकार अनेक महापुरुष, जो धन अर्जन करने गये थे, वहीं धन अर्जन के चक्कर में अपनी पूर्व की प्राणप्यारी पत्नियों को, माता-पिता, कुटुम्ब-परिवार आदि को भूल गये थे। कहा भी है– ''सुखसागर में रमत निरन्तर जात न जान्यो कालो'' (वैराग्य भावना) इन्द्रियसुख में गोते लगाने वाले को सागरोपर्यन्त का काल समाप्त हो जाने पर भी समझ नहीं आता है अर्थात् बहुत लम्बा काल भी क्षण भर के समान ही लगता है। उसी प्रकार भव्य जीव भी जब अपूर्व जिनबिम्ब के दर्शन करता है उस समय वह सब कुछ भूल जाता है उसे परिजन, पुरजन, रिश्तेदार, भाई आदि इष्टजनों की बात तो बहुत दूर अपने शरीर का भी भान नहीं रहता है। वह वहाँ (जिनबिम्ब के सामने) से उठना ही नहीं चाहता है। ऐसे समय में ही एक अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए श्रद्धा उत्पन्न होती है वही जिनबिम्बदर्शन से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन है। इसलिए हमें प्रतिदिन और प्रतिपल अर्थात् जब भी जहाँ भी मौका मिले जिनबिम्बों के दर्शन करना चाहिए और पुरुषार्थ पूर्वक अपूर्व-अपूर्व जिनबिम्बों की खोज करके दर्शन करते रहना चाहिए ताकि हमें भी मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी स्वरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावे। हमारा मनुष्यपर्याय प्राप्त करना सार्थक हो जावे।

वास्तव में अपूर्व-अपूर्व जिनबिम्बों के दर्शन करते समय जो आनन्द आता है वह तो मात्र अनुभवगम्य होता है। गूंगे व्यक्ति के गुड़ खाने के समान कहने के योग्य नहीं होता है। हम लोग भी जब कर्नाटक में भगवान बाहुबली स्वामी के दर्शन करके तामिलनाडु में ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों में उकेरित आठ महाप्रातिहार्य से युक्त जिनबिम्ब जहाँ शायद कभी (वर्तमान में) अभिषेक भी नहीं होता होगा, क्योंकि उन जिनबिम्बों के दर्शन तो भगवान के भक्तों में भी विरले ही भाग्यशाली लोग कर पाते हैं। ऐसे जिनबिम्ब जो कृत्रिम (बनाये गये) होकर भी बिना अभिषेक, बिना सफाई, बिना सुरक्षा के अपनी वीतरागता से साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समान ही आकर्षित करते हैं। ऐसे अलौकिक जिनबिम्ब के दर्शन पापी से पापी जीवों के भी मिथ्यात्व का नाश करने में निमित्त बनते हैं अथवा इनके दर्शन/श्रद्धा से मिथ्यात्व का नाश हो जाता है; सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। कहा भी है- जो भव्य जीव संसार में भक्तिपूर्वक यदि छोटे-से-छोटे बिम्बा (कुन्दुक) पत्ते के समान जिनमन्दिर तथा यव के समान जिनप्रतिमा को बनावे

तो भी उन मनुष्यों को इतने पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिसका वर्णन और की क्या बात साक्षात् सरस्वती भी नहीं कर सकती है। **(प.पं. ७/२२)**

जिनबिम्ब की महिमा बताते हुए **श्री वरांग चरित्र** में कहा है - यदि किसी कारण से सूर्य का उदय होना रुक जावे तो सारा संसार अंधकार के गर्त में समा जावेगा। इसी प्रकार यदि जिनेन्द्र बिम्ब रूपी सूर्य का उदय इस पृथ्वी पर न होता तो इस जगत् के सभी प्राणी अज्ञानरूपी अन्धकार के गर्त में पड़कर कभी के नष्ट हो गये होते। क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों, क्रोध आदि चार कषायों, जन्म, पराधीनतामय जरा तथा अकथनीय यातनामय मरण को समूल नष्ट करके जो महान् आत्मा पुनरागमनहीन शाश्वत स्थान मोक्ष को चली गयी है उनकी पूजा करने की अपेक्षा संसार का कोई भी दूसरा कार्य ऐसा नहीं है जिसे करके जीव अधिक पुण्य कमा सकता है। वीतराग प्रभु की पूजा करके जीव इस भव में ही अपने मनचाहे फलों को प्राप्त करते हैं तथा इष्टजनों या वस्तुओं से उनका समागम होता है। यहाँ से मरने के बाद दूसरे जन्मों में वे अपने को स्वर्गलोक में पाते हैं जहाँ पर उनको अलौकिक भोग तथा विषयों की मन-माफिक प्राप्ति होती है। **(वरांग चरित्र)**

प्रश्न : जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा (जिनबिम्ब) तो जड़ है अत: उसकी श्रद्धा से सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है?

उत्तर : जिस प्रकार चिंतामणि रत्न, कल्पवृक्ष, पारस पत्थर आदि अचेतन होकर भी फलदायी हैं वैसे ही जिनेन्द्र देव की कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं के दर्शन से निकाचित मिथ्यात्व आदि कर्मों के सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं। जैसे अर्हदादि भव्यों को शुभोपयोग उत्पन्न करने में कारण हो जाते हैं, वैसे उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं। जैसे- अपने पुत्र के समान ही दूसरे के सुन्दर पुत्र को देखने से अपने पुत्र की याद आती है इसी प्रकार अर्हदादि के प्रतिबिम्ब देखने से अर्हदादि के गुणों का स्मरण हो जाता है, इसी स्मरण से नवीन अशुभ का संवरण होता है। इसलिए समस्त इष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि करने में जिन प्रतिबिम्ब हेतु होते हैं, अत: उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिए। **(भ.आ.वि. ४७)**

हे मुनिगण ! आप अर्हन्त और सिद्ध की अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओं की भक्ति करो। शत्रुओं अथवा मित्रों की प्रतिकृति (चित्र, फोटो) अथवा प्रतिमा दिख पड़ने पर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है। यद्यपि इस प्रतिकृति ने अनुपकार अथवा उपकार कुछ भी नहीं किया है, परन्तु वह मित्रकृत उपकार और शत्रुकृत अनुपकार का स्मरण होने में कारण है। जिनेश्वर और सिद्धों के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागता आदि गुण यद्यपि अर्हत्प्रतिमा और सिद्ध प्रतिमा में नहीं हैं तथापि उन गुणों का स्मरण होने में वे कारण अवश्य होती हैं, क्योंकि अर्हत् और सिद्धों का उन प्रतिमाओं में सादृश्य है, यह गुणस्मरण अनुराग स्वरूप होने से ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इनसे नवीन कर्मों का अपरिमित संवर और पूर्व से बँधे हुए कर्मों की महानिर्जरा होती है इसलिए आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने में सहायक चैत्यभक्ति हमेशा करो। **(भ.आ.वि. ३१०) (ध.९/८)**

दूसरी बात जिसको जिनबिम्ब जड़ या पाषाण, अष्टधातु, हीरा-पन्ना आदि का दिखता है उसको कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है क्योंकि वह तो मात्र उस आकृति अथवा उसके मूल्य को देख रहा है, आकृति वाले को नहीं। स्थापना निक्षेप में 'यह वही है,' इस प्रकार की आस्था होती है। दर्शन करने वाले के मन में जिनबिम्ब को देखकर यह भाव उत्पन्न होता है कि ये वे ही जिनेन्द्र भगवान हैं, जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं। जो अष्ट महाप्रातिहार्यों से युक्त समवसरण में विराजमान थे। जिनकी दिव्य देशना सुनकर असंख्यात जीव संसार-सागर से पार हुए हैं। भव्य जीवों को तो जिन बिम्ब में जिनेन्द्र के ही दर्शन होते हैं उन्हें वह जड़ दिखती ही नहीं है।

मंत्रशास्त्र और प्रतिष्ठाशास्त्र में कहा है कि गरुड़ की मूर्ति रखने से नाग का जहर उतर जाता है। वह कोई असली गरुड़ नहीं है उसकी प्रतिकृति है। इसी प्रकार जिनप्रतिमा-जिनबिम्ब की श्रद्धा से मिथ्यात्व रूपी जहर उतर जावे तो कौनसे आश्चर्य की बात है !

एक बार एक बहू ने अपनी सासु माँ से कहा – माँ ! मुझे ये मंदिर जाने, भगवान के दर्शन, पूजा-आराधना करने के ढोंग अच्छे नहीं लगते। भगवान तो अपने अंदर हैं। उसकी सासु माँ ने कहा – कुछ नहीं बेटी, तुझे भगवान के दर्शन-पूजन ढोंग लगते हैं तो मेरे कहने से, अपनी कुल परम्परा से ही तू मंदिर चल। बहू को सासु माँ की बात माननी पड़ी पर उसके मन में एक ही विकल्प चलता रहा कि मैं क्या बहाना बना कर मंदिर जाना छोडूँ। वह जैसे ही मंदिर पहुँची तो मंदिर के द्वार पर बने सिंहों को देखकर चिल्लाई – माँ! माँ ! तुम मुझे कहाँ लेकर आ गयी। माँ ने कहा – बेटी क्या हो गया? वह बोली – माँ, यहाँ तो सिंह बैठे हैं। माँ बोली – नहीं बेटी! ये सिंह थोड़े ही हैं ये तो पत्थर हैं, इनसे डरने की क्या बात है? बहू बोली– माँ ये भले ही पत्थर हों, इनमें आकृति तो सिंह की है न। इसलिए मुझे इनसे डर लग रहा है। माँ बोली– बेटी, जब सिंह की आकृति देखकर डर लग सकता है तो जिनबिम्ब में भगवान के दर्शन क्यों नहीं हो सकते हैं, उनकी श्रद्धा से सम्यग्दर्शन प्राप्त क्यों नहीं हो सकता? अत: जिनबिम्ब पाषाण निर्मित होकर भी हमारे मिथ्यात्व को नष्ट करने में समर्थ हैं।

श्री विपुलमती नाम के मुनिराज राजा के (उपर्युक्त) प्रश्न का उत्तर देने के लिए हेतु सहित इस प्रकार बोले - हे राजन् ! सुन, यद्यपि जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा और जिनमन्दिर अचेतन हैं तथापि भव्य जीवों के पुण्यबंध के ही कारण हैं। यथार्थ में पुण्यबंध परिणामों से होता है और उन परिणामों की उत्पत्ति में जिनेन्द्र की प्रतिमा और मंदिर कारण पड़ते हैं। जिनेन्द्र भगवान रागादि दोषों से रहित हैं, शस्त्र तथा आभूषण आदि से विमुख हैं, उनके मुख की शोभा प्रसन्न चन्द्रमा के समान निर्मल है, वे लोक अलोक के जानने वाले हैं, कृतकृत्य हैं, जटा आदि से रहित हैं तथा परमात्मा हैं इसलिए उनके मंदिरों और उनकी प्रतिमाओं का दर्शन करने वाले लोगों के शुभ परिणामों में जैसी प्रकर्षता होती है वैसी अन्य कारणों से नहीं हो सकती क्योंकि समस्त कार्यों की उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणों से होती है इसलिए जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा पुण्य-बंध के कारणभूत शुभ परिणामों का कारण है। यह बात अच्छी तरह जान लेने योग्य है। **(उ.पु. ७३/४१-५३)**

वास्तव में यदि वह जिनबिम्ब जड़ होता तो स्वल्पकाल मात्र अपमान करने में सती अंजना को इतना भारी पाप का बंध क्यों हुआ? किसी सामान्य पत्थर को उठाकर कुए में डालने वाले को तो ऐसा फल कभी नहीं मिलता। क्यों अकलंक स्वामी को जिनबिम्ब पर एक धागा मात्र डाल देने से सरागी बनाकर लाँघ लेने पर भी पाप का बंध नहीं हुआ बल्कि लोक में आज तक भी उनकी जिनेन्द्र भगवान के प्रति श्रद्धा का यश फैला हुआ है। इसका अर्थ वह जड़-पत्थर नहीं, जिनबिम्ब जिनेन्द्र भगवान हैं। तीसरी बात यदि जिनबिम्ब सर्वथा जड़ है तो जब तक प्राणप्रतिष्ठा नहीं हो जाती तब तक क्यों लोगों की दृष्टि से अर्थात् दृष्टिदोष से प्रतिमा के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, क्यों प्रतिमा खण्डित हो जाती है? क्यों प्राणप्रतिष्ठा के पूर्व तक उसको कोई काला धागा आदि बाँध कर रखा जाता है और प्राणप्रतिष्ठा होने के बाद लाखों लोग उस बिम्ब के दर्शन करते हैं, देखकर आश्चर्य भी करते हैं। और अनेक प्रकार से प्रशंसा भी करते हैं फिर भी प्रतिमा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रतिमा खण्डित नहीं होती है। उसका कारण प्रतिमा में जिन अर्थात् जिनेन्द्रत्व-भगवद्पने की स्थापना ही है। स्थापना होते ही वह प्रतिमा भगवान बन जाती है। जिनबिम्ब बन जाती है। चौथी बात जब प्रतिमा की गढ़ाई अर्थात् पाषाण में प्रतिमा को प्रगट किया जाता है तब कलाकार उसके सीने पर बैठकर टाँची-हथौड़ा लेकर उसको छीलता है, फोड़ता है तो भी उसे पाप का बंध (भगवान के अपमान से होने वाला) नहीं होता है क्योंकि वह भगवान पर हथौड़ा नहीं मार रहा है वह तो पत्थर में से प्रतिमा बना रहा है और प्रतिष्ठित होने के बाद यदि कोई भगवान (द्वेषवश) पर जोर से हाथ भी रख दे या भगवान को पकड़कर वेदी पर चढ़ जावे, उतर जावे या किसी के हाथ से प्रतिमा गिर जावे तो उसे पाप का बंध होता है अत: जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा जड़ नहीं, स्थापना जिन है, पूज्य है, इसलिए उनकी श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसमें कोई संशय नहीं है। भगवान गौतम स्वामी गृहीत मिथ्यादृष्टि थे, हठी थे, गर्वोन्मत्त थे फिर भी मात्र मानस्तम्भ में स्थित जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यग्दृष्टि बन गये। उसी भव में निर्वाण को प्राप्त हो गये। अत: जिनबिम्ब की श्रद्धा करके संसार-समुद्र से पार होने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रश्न : जिनबिम्बदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण किस प्रकार से है?

उत्तर : जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है। **(ध. ६/४२७)** कहा भी है -

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, पापसंघातकुंजरम्।
शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा ॥

अर्थ - जिनेन्द्रों के दर्शन से पापसंघात रूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं। **(ध. ६/४२७)**

प्रश्न : आपने ऊपर तामिलनाडु के बिम्बों की इतनी महिमा बताई तो क्या पुरातन प्रतिमाओं में कुछ ज्यादा विशेषताएँ होती हैं?

उत्तर : सामान्य से कोई भी जिनबिम्ब जो चाहे नया हो या पुराना, छोटा हो या बड़ा, सम्यग्दर्शन का कारण होता है लेकिन फिर भी पुरातन जिनबिम्ब के दर्शन में विशेष आह्लाद आता है, क्योंकि वर्षों-वर्षों से उस जिनबिम्ब के सामने, उस जिनबिम्ब को लक्ष्य बनाकर, हजारों-लाखों लोग धर्म की आराधना कर चुके हैं, करोड़ों-करोड़ों जाप विधान, पूजन आदि धार्मिक अनुष्ठान हो जाने के कारण वहाँ का वातावरण इतना निर्मल हो जाता है कि वहाँ पहुँचते ही सहज रूप से पापों का नाश होता है, कषायों की मंदता हो जाती है, आनन्द की अनुभूति होती है। दूसरी बात प्रतिष्ठाशास्त्रों में लिखा है कि कोई बिम्ब अर्थात् प्रतिमा जिसकी अभी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा नहीं हुई है मात्र शिल्पी ने प्रतिमा/ भगवान का आकार बनाया है ऐसी प्रतिमा के सामने भी यदि कोई सौ वर्ष तक पूजा, पाठ, जाप आदि करे तो वह प्रतिमा बिना प्रतिष्ठा के ही जिनबिम्बत्व को प्राप्त हो जाती है अर्थात् प्रतिष्ठा नहीं होने पर फिर भी प्रतिष्ठित हो जाती है, पूज्य हो जाती है। सम्यग्दर्शन का कारण बन सकती है/ जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो वहाँ धर्मानुष्ठान एवं सद्भावनाओं के कारण नकारात्मक ऊर्जा समाप्त हो जाती है। इससे व्यक्ति के मन में सकारात्मक अर्थात् अपने और दूसरे के हित करने की भावना उत्पन्न होती है इसलिए पुरातन प्रतिमाओं का विशेष महत्त्व माना गया है। अत: हमें पुरुषार्थपूर्वक तन मन धन लगाकर जिनबिम्ब दर्शन करके सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना चाहिए।

तीसरी बात, पुरातन प्रतिमाओं के दर्शन दुर्लभता से मिलते हैं क्योंकि पाषाण की भी अपनी एक उम्र होती है। वह भी एक पुद्गल होने के कारण काल के साथ जीर्ण-शीर्ण होता ही है इसलिए पुरातन प्रतिमाएँ कम मिल पाती हैं। उसके साथ ही समय-समय पर जैनधर्म के विरोधी लोगों के द्वारा कई प्रतिमाएँ खण्डित कर दी गयी थीं, कई प्रतिमाएँ द्वेष के कारण कुए, नदी, नाले आदि में फेंक दी गयीं। कई प्रतिमाओं को दीवाल आदि में चुनवाकर समाप्त कर दिया गया। जिससे लाखों प्रतिमाओं में से १००-५० प्रतिमाएँ मुश्किल से सुरक्षित जिनबिम्बत्व के साथ अर्थात् भगवान के रूप में रह पायीं। उन प्रतिमाओं को भी कहीं जमीन में गाड़कर तो कहीं मंदिर को ही मिट्टी आदि डालकर ढक दिया गया। जिसका वर्तमान में हमें पता ही नहीं है कि हमारे पूर्वजों के द्वारा बनाए गये जिनमन्दिर एवं जिनबिम्ब कहाँ हैं जिनके दर्शन करके हम अपने परिणामों को निर्मल करें, आदि-आदि अनेक कारणों से पुरातन प्रतिमाओं के दर्शन दुर्लभ हैं। जो वस्तु दुर्लभ होती है उसको प्राप्त करने के लिए मन लालायित रहता है। जो वस्तु राजा-महाराजा बड़े-बड़े धर्मात्मा, धनाढ्य आदि समर्थ व्यक्तियों को भी नहीं मिल रही है वह वस्तु यदि हमें प्राप्त हो जावे तो हमारी खुशी का पारावार नहीं रहता है। यही कारण है कि पुरातन प्रतिमाओं में विशेष आकर्षण रहता है और उनके दर्शन से विशेष श्रद्धा जागृत होकर देव-शास्त्र-गुरु के बारे में डाँवाडोल होने वाला चित्त स्थिर/विश्वस्त होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

जिनमहिमा दर्शन से

जब तीर्थंकर भगवान गर्भ में आते हैं तब गर्भ में आने के ६ माह पहले से ही रत्नों की वृष्टि होना, माँ की सेवा के लिए ५६ कुमारी देवियों का आना, सौधर्म इन्द्र आदि के द्वारा धरती पर आकर

गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाना, तीर्थंकर के पिता के द्वारा किमिच्छिक दान देना आदि गर्भ कल्याणक की महिमा को देखकर भी हजारों जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर बालक के जन्म लेते ही जम्बूद्वीप के बराबर अर्थात् १ लाख योजन विस्तार वाले विशाल एवं स्थूल ऐरावत हाथी **(आ.पु. २२/५०)** पर बैठाकर सुमेरु पर्वत पर एक योजन मुख वाले ४ योजन चौड़े और ८ योजन गहराई वाले १००८ कलशों से एकसाथ जन्मजात बालक का न्हवन होने पर अर्थात् इतने बड़े-बड़े कलशों के द्वारा इतना सारा पानी बालक के सिर के ऊपर गिरने पर भी बालक का बाल भी बाँका नहीं होना, इन्द्र के द्वारा ताण्डव-आनन्द नृत्य करके अन्तरंग की खुशियाँ प्रकट करना आदि जन्मकल्याणक की विभूति को देखकर पापी जीवों के भी मिथ्यात्व के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। यह सब इनके द्वारा पूर्व भव में किये गये धर्म का फल है, यह धर्म ही सर्वोत्तम है, शरणभूत है, आत्मिक सुख देने वाला है, इस प्रकार के विचारों से उनमें जिनधर्म के प्रति आस्था उत्पन्न हो जाती है। यह भी नहीं कहना चाहिए कि भगवान का अभिषेक तो सुमेरु पर्वत पर होता है वहाँ पर मानव का पहुँचना कैसे सम्भव है? ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सामान्य मनुष्य भले ही वहाँ नहीं पहुँच पाते हों लेकिन विद्याधर आदि सक्षम व्यक्ति तो वहाँ पहुँचकर अभिषेक देखकर पापों का क्षय करते ही हैं, सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अनन्त संसार समुद्र को सुखाकर चुल्लू भर मात्र कर लेते हैं। ऋद्धिधारी मुनिराज भी वहाँ पहुँच सकते हैं, लेकिन वे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। इसलिए उनका प्रसंग यहाँ नहीं लिया गया है। इसी प्रकार तप कल्याणक के समय लौकान्तिक देवों के द्वारा स्तुति करना, उनके वैराग्य की अनुमोदना करना, भगवान का पालकी में बैठकर वन में जाना, अनेक उपायों से रोके जाने पर भी भगवान का वन में चले जाना, असंख्यात देवों का आकर दीक्षा कल्याणक मनाना, भगवान के आहार के समय सुगन्धित जल की वृष्टि, रत्नवृष्टि, दुन्दुभि बाजों का बजना, धन्य दाता-धन्य पात्र, सुगन्धित मंद-मंद वायु का बहना, ऐसे पंचाश्चर्यों को देखकर यह धर्म का ही फल है। धर्मात्मा के बिना संसार में और किसी को ऐसा वैभव नहीं मिल सकता, मैं भी ऐसे ही धर्म की शरण ग्रहण करता हूँ। मैं भी उसी धर्म का पालन करूँगा। जिस धर्म का इन्होंने पालन किया था। अब मैं कभी भी उस धर्म को छोड़कर अन्य किसी धर्म की और उनके धर्मानुयायियों की संगति नहीं करूँगा। इस प्रकार के विचारों से सत्य, धर्म और जिनेन्द्र भगवान के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जब भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्काल सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवसरण की रचना करता है। उस समवसरण के अलौकिक वैभव से भी निर्लिप्त सिंहासन से चार अंगुल अधर विराजमान भगवान को देखकर भगवान के ऊपर लगे हुए छत्र, चामर, भामण्डल, पुष्पवृष्टि आदि आठ प्रातिहार्य को देखकर, विहार काल में जहाँ-जहाँ तीर्थंकर भगवान चरण रखते हैं, वहाँ-वहाँ सहस्र पांखुरी के नूतन स्वर्ण से निर्मित २२५ कमलों की रचना को, आकाश में गमन आदि ज्ञान कल्याणक के वैभव और ओष्ठ-जीभ आदि के बिना हिले ही अपने आप बादलों की गर्जना के समान बिना किसी पुरुषार्थ के, बिना आकांक्षा और निरीह वृत्ति से अपने आप दिव्य ध्वनि खिरना, जिसको सुनकर सभी जीवों का अपनी-अपनी भाषा में समझ जाना आदि-आदि ज्ञानकल्याणक की विशेषताओं को देखकर भव्य जीवों को धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। भव्य और धर्मात्मा, मंदकषायी जीवों

की बात तो बहुत दूर रहे कमठ जैसे महापापी, तीव्र कषायी भवों-भवों तक वैर रखने/लेने वाले जीव भी केवलज्ञान की महिमा देखकर प्रभु के चरणों में प्रणिपात हो जाते हैं। भगवान पार्श्वनाथ स्वामी को जब पंचम ज्ञान की उत्पत्ति हुई थी, तब उनके समवसरण के वैभव को देखकर हजारों रक्ताम्बर, पीताम्बर आदि साधु उनके चरणों में समर्पित हो गये थे। इसी प्रकार सभी तीर्थंकर के चरणों में गृहीत-अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव भी समर्पित हो जाते हैं। इसी प्रकार निर्वाण के समय भी कई जीवों को सम्यग्दर्शन रूपी मणि की प्राप्ति हो जाती है।

जातिस्मरण से

कभी किसी घटना विशेष को, वस्तु विशेष को, स्थान विशेष को देखकर और गुरुवर के उपदेश को सुनकर अथवा गुरुवर के दर्शन मात्र से, किसी को जातिस्मरण से किसी को अपने द्वारा अज्ञानता से, ईर्ष्या से, उद्वेग से अथवा कषाय के वश में होकर किये गये पापों के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होने से भी सम्यक्त्व रूपी रत्न की प्राप्ति होती है। जैसे- इन्द्रभूति (गौतमस्वामी), अग्निभूति एवं वायुभूति के जीवों ने पूर्व भव में निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज पर भयंकर उपसर्ग करके नरकगति को प्राप्त किया था। वहाँ से आकर संसार में भ्रमण करते हुए एक दिन मुनिराज के दर्शन मात्र से जातिस्मरण को प्राप्त होकर अपने पापों का पश्चाताप किया। मुनिराज पर उपसर्ग करने के भावों को हेय स्वीकार किया और गुरुराज पर श्रद्धा करके सम्यक्त्व को प्राप्त किया। एक राजा ने मुनिराज की करुणाबुद्धि और समता भाव को देखकर जातिस्मरण से पूर्व भवों को जानकर गुरु के प्रति आस्था धारण कर भव सुधारा था। इसी प्रकार कई मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की साक्षात् दिव्य देशना को सुनकर अथवा गुरुवर के उपदेश को सुनकर, जिनवाणी का अध्ययन करके तत्त्वार्थ के स्वरूप को समझ लेते हैं। हम भी सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति आस्था करके अपना मनुष्य भव सार्थक करें। यही तत्त्वों को जानने का फल है।

एक दिन सोमदत्त नाम का विद्वान ब्राह्मण अपनी पत्नी का दोहला पूरा करने के लिए रसीला आम ढूंढ रहा था। तभी उसे एक वृक्ष दिखा। जिस पर भरपूर मात्रा में आम लगे थे। लेकिन शेष किसी भी वृक्ष पर एक भी आम नहीं लगा था। वह जब आम के वृक्ष के निकट पहुँचा तो उस वृक्ष के नीचे एक सुमति नाम के मुनिराज विराजमान थे। उन्हें देखकर वह समझ गया कि इन मुनिराज की तपस्या के फल में ही इस वृक्ष पर आम लगे हैं अन्यथा सभी वृक्षों पर आम लगते। वह मुनिराज को नमस्कार करके बैठ गया। उसने मन ही मन में मुनिराज के गुणों की स्तुति करके नमस्कार किया। मुनिराज ने उसको आशीर्वाद दिया और तिलोयपण्णत्ति नाम के ग्रन्थ का स्वाध्याय करने लगे। उन्होंने मध्यलोक का वर्णन करके ऊर्ध्वलोक का वर्णन करते हुए क्रमश: सहस्रार स्वर्ग का वर्णन करने वाली गाथाएँ पढ़ीं। जिन्हें सुनकर सोमदत्त विस्मित हो गया। उसके पश्चात् मुनिराज ने सूर्याभ नामक विमान का वर्णन किया। जिसे सुनकर सोमदत्त को जातिस्मरण होने लगा। जैसे-जैसे वह विमान का वर्णन सुनता गया वैसे-वैसे उसका जातिस्मरण स्फुरायमान होने लगा वह सोचने लगा मैंने ब्राह्मण कुल में कैसे जन्म लिया? वह ऐसा विचार

करते-करते मूर्च्छित हो गया। जब कुछ उपचारों से उसकी मूर्च्छा दूर हुई तो वह विचार करने लगा कि मैंने कभी स्वप्न में भी जैन धर्म को स्मरण करके ग्रहण नहीं किया। इसलिए मैं पाप-पंक में फँसकर संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ। कई नास्तिक लोग कहते हैं कि कौन कहाँ पैदा होता है? स्वर्ग-नरक कहाँ हैं? ऐसा कहकर वे परलोक एवं पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं किन्तु मैं तो साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ कि मैं पूर्व भव में १२वें स्वर्ग में देव हुआ था। फिर कैसे ब्राह्मण हुआ और यहाँ पर मैंने जन्म लिया। मैंने अब तक समझा था कि जीव नहीं है। मरने के साथ ही जीव भी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार की मेरी कुबुद्धि अब नष्ट हो गई है। इस प्रकार अपनी निन्दा-गर्हा करते हुए उसको गाथाओं में प्रतिपादित 'जीव है' इस प्रकार जीव तत्त्व के प्रति उसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सोमदत्त ब्राह्मण, जो गृहीत मिथ्यादृष्टि था, तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ की गाथाएँ सुनकर उसे जातिस्मरण हुआ और जातिस्मरण से ही तत्त्वों के स्वरूप को समझकर उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। उसी समय वह मुनि बन गया। मुनि बनने पर कुटुम्ब-परिवार वाले ब्राह्मण थे इसलिए उन्होंने उन मुनिराज पर बहुत उपसर्ग किया फिर भी वे धर्म से च्युत नहीं हुए। उन्हीं सोमदत्त मुनिवर के आशीर्वाद एवं वज्रकुमार मुनिराज के पुरुषार्थ से जैनधर्म की प्रभावना हुई थी अर्थात् जैनधर्म का रथ बौद्धधर्म के रथ से आगे निकला था। **(धर्मामृत)**

धर्मश्रवण से

नारकी, तिर्यञ्च आदि के समान मनुष्य भी धर्मश्रवण कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यद्यपि मनुष्यों में धर्मश्रवण सुलभ लगता है लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि बहुत विरले लोग होते हैं जिन्हें धर्मश्रवण का अवसर मिल पाता है। पहले तो धर्म को जानने वाले जीव ही नहीं हैं यदि कोई कुछ धर्म जानने वाले हैं तो उनका समागम बहुत कम लोगों को मिल पाता है। बड़े पुण्य से कभी उनका समागम मिल जावे तो उनका धर्मोपदेश नहीं हो पाता है। कभी पुण्य योग से धर्मोपदेश होवे तो बहुत कम लोगों के भाव धर्मोपदेश सुनने के लिए वक्ता के पास जाने के होते हैं। कभी भाव बन जावे तो घर रूपी कारागृह से निकल कर जाना बड़ा कठिन होता है क्योंकि घर की व्यवस्थाएँ, व्यवहार और काम-काज इतने उलझे रहते हैं कि घर से निकलने के लिए तैयार होकर भी अर्थात् उपदेश सुनने के लिए निकलकर भी वापस लौट जाना पड़ता है। कभी प्रवचनस्थल पर पहुँच गये तो वहाँ की व्यवस्था में लग जाते हैं। कभी व्यवस्था में नहीं लग पावे तो प्रवचन सुनने के लिए बैठ गये तो आस-पास में कोई बातें करने के लिए बैठ गया अथवा नींद आने लगी तो धर्म सुनकर भी नहीं सुनने के बराबर ही रह जाते हैं। इस प्रकार धर्म का श्रवण ही दुर्लभ है। फिर धर्मश्रवण के उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। मात्र आत्मकल्याण का उद्देश्य बनाकर धर्म सुनने वाले बहुत कम होते हैं उनमें भी करणलब्धि को प्राप्त करना कठिन है फिर भी मनुष्यों को धर्मश्रवण से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता ही है। इसका उदाहरण –

ब्रह्मरुचि नामक एक ब्राह्मण अपनी कुर्मी नाम की स्त्री के साथ तापस बनकर वन में आश्रम बनाकर रहने लगा। एक बार ब्राह्मणी ने गर्भ धारण किया। तभी दो निर्ग्रन्थ मुनिराज कुछ देर विश्राम करने के लिए रुके। वहाँ उन्होंने जब ब्राह्मण को देखा और वहीं उन्होंने जब दुर्बल और गर्भ के भार

से म्लान ब्राह्मण की पत्नी/ब्राह्मणी को देखा तो उनके मन में दयावश धर्मोपदेश देने के भाव उत्पन्न हुए। तब बड़े मुनिराज ने मधुर स्वरों में कहा - हे तापस ! तूने संसार-सागर से पार होने की आशा से धर्म समझकर भाई-बन्धुओं का त्याग कर स्वयं अपने आपको इस वन के कष्ट में क्यों डाला है? अरे भले मानुष! तूने प्रव्रज्या धारण की है पर तुझमें और गृहस्थ में भेद ही क्या है? तूने जो चारित्र धारण किया था उसके तू प्रतिकूल चल रहा है। केवल वेष ही तेरा दूसरा है पर चारित्र तो गृहस्थ जैसा ही है। जिस प्रकार मनुष्य वमन किये हुए अन्न को पुन: कभी नहीं खाते हैं उसी प्रकार विज्ञजन जिन विषयों का परित्याग कर चुकते हैं फिर उनकी इच्छा नहीं करते हैं। जो लिङ्गधारी साधु एक बार स्त्री का त्याग कर पुन: उसका सेवन करता है वह पापी है और मरकर भयंकर अटवी में भेड़िया होता है। जो सब प्रकार के आरम्भ में स्थित रहता हुआ, अब्रह्म का सेवन करता हुआ और नशे में निमग्न रहता हुआ भी ''मैं दीक्षित हूँ'' ऐसा अपने आपको मानता है वह अत्यन्त मोही है। जो ईर्ष्या और काम से जल रहा है, जिसकी दृष्टि दुष्ट है, जिसकी आस्था दूषित है तथा जो आरम्भ में वर्तमान है उसकी प्रव्रज्या कैसी? तुम्हीं कहो, जो कुदृष्टि से गर्वित है, मिथ्या वेशधारी है और जिसका मन विषयों के आधीन है फिर भी अपने आपको तपस्वी कहता है वह झूठ बोलने वाला व्रती कैसे हो सकता है? जिस प्रकार जलते हुए मकान में से कोई किसी तरह बाहर निकले और फिर से अपने आपको उसी मकान में फेंक दे तो वह मूर्ख ही समझा जाता है। जिनका चित्त एकाग्र है ऐसे सर्व परिग्रह का त्याग करने वाले मुनि ही ध्यान करने योग्य तत्त्व का ध्यान कर सकते हैं, तुम्हारे जैसे आरम्भी मनुष्य नहीं। परिग्रह की संगति से प्राणी के राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग से काम उत्पन्न होता है और द्वेष से जीवों का विघात होता है।

इस प्रकार परमार्थ का उपदेश देने वाले वचनों से सम्बोधन सुनकर ब्रह्मरुचि ब्राह्मण ने मिथ्यात्व से च्युत होकर अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करके दीक्षा धारण कर ली। कुर्मी भी मिथ्यामार्गियों के संसर्ग को छोड़कर जिनभक्ति में तत्पर रहने लगी। **(प.पु. १९/११७-४२)** इस प्रकार ब्रह्मरुचि ब्राह्मण मुनिराज से धर्मश्रवण करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया।

इसी प्रकार भगवान आदिनाथ स्वामी का जीव जब भोगभूमि में था, एक दिन वह अपनी भार्या के साथ अर्थात् युगल दम्पती बैठे थे। उसी समय आकाशमार्ग से एक युगल मुनिमहाराज उतरे। उस दम्पती ने मुनियुगल को नमस्कार करके पूछा– भगवन् ! आप कहाँ से आये हैं? मेरे हृदय में आपके प्रति अपनेपन का भाव क्यों उमड़ रहा है? मुनिराज बोले – आर्य ! तुम्हारी महाबल की पर्याय में मैं तुम्हारा स्वयंवर नाम का मंत्री था। मैंने वहाँ से आकर विदेह क्षेत्र में प्रीतिंकर राजपुत्र होकर दीक्षा ले ली है। मुझे अवधिज्ञान तथा चारणऋद्धि प्राप्त हो गयी है। यह मुनि मेरा छोटा भाई है। चूँकि आप पर मेरा उस समय भी अधिक स्नेह था। अत: इस समय उसी स्नेह से खिंचकर अर्थात् स्नेह के वशीभूत होकर मैं तुम्हें सम्बोधन करने यहाँ आया हूँ। हे भव्य ! निर्मल सम्यक्त्व के बिना तुम केवल आहारदान के प्रभाव से यहाँ उत्पन्न हुए हो सो मैं तुम्हें सम्यक्त्व रूपी अमूल्य निधि देने के लिए यहाँ आया हूँ। अनन्तर श्रीमती के जीव आर्या को सम्बोधित करते हुए बोले - हे मात! सम्यग्दर्शन के बिना यह स्त्री

पर्याय प्राप्त होती है अत: तू भी सम्यक्त्व को ग्रहण करके स्त्री पर्याय से छूटकर सप्त परम स्थान को प्राप्त कर। इस प्रकार युगल दम्पती अर्थात् पति-पत्नी ने मुनिराज से धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण किया। **(म.पु.)**

इसी प्रकार दयामित्र सेठ के उपदेश से वसुभूति ब्राह्मण ने सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया। इसकी कथा **धर्मामृत ग्रन्थ** में पढ़ना चाहिए। कपिल ब्राह्मण ने मुनिराज का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया इसकी, कथा पद्मपुराण से पढ़ लेना चाहिए। इसी प्रकार से अनेक व्यक्तियों ने धर्मोपदेश रूप बाह्य निमित्त से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अपना कल्याण किया वे प्रशंसनीय है। हमें भी पुरुषार्थपूर्वक धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए।

देवगति में

देवों में सम्यक्त्व उत्पत्ति के चार कारण कहे गये हैं -

१. जिनमहिमादर्शन २. धर्मश्रवण ३. जातिस्मरण ४. देवऋद्धिदर्शन

आनतादि चार स्वर्गों में अर्थात् तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें स्वर्ग में देवऋद्धिदर्शन को छोड़कर शेष तीन कारण हैं - १. जिनमहिमादर्शन २. धर्मश्रवण ३. जातिस्मरण।

नवग्रैवेयक में मात्र दो कारण हैं - १. धर्मश्रवण २. जातिस्मरण।

नव अनुदिश तथा पाँच अनुत्तर विमानों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कोई भी कारण नहीं है, क्योंकि वहाँ सभी सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं। **(ध. ६/४३३)**

प्रश्न : देवों में जिनबिम्बदर्शन सम्यक्त्व का कारण क्यों नहीं कहा गया है?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिनबिम्बदर्शन का जिनमहिमादर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है, कारण जिनबिम्ब के बिना जिनमहिमा की उपपत्ति बनती नहीं है। स्वर्गावतरण (गर्भ) जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमणरूप जिनमहिमाएँ जिनबिम्ब के बिना होती हैं ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि स्वर्गावतरण आदि रूप जिनमहिमाओं में भी भावी जिनबिम्ब का दर्शन पाया जाता है। अथवा इन महिमाओं में उत्पन्न होने वाला प्रथम सम्यक्त्व जिनबिम्बदर्शन निमित्तक नहीं है, किन्तु जिनगुणश्रवण निमित्तक है। **(ध. ६/४३२)**

प्रश्न : आनतादि स्वर्गों में देवऋद्धि-दर्शन को सम्यक्त्व का कारण क्यों नहीं कहा है?

उत्तर : आनतादि स्वर्गों में महाऋद्धि से युक्त ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता है इसलिए वहाँ महर्द्धि (महा ऋद्धि, देव ऋद्धि) दर्शन रूप प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं पाया जाता है। उन्हीं कल्पों में स्थित देवों की महाऋद्धि का दर्शन प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त नहीं हो सकता है, क्योंकि उसी ऋद्धि को बार-बार देखने से विस्मय हो नहीं सकता/अथवा उक्त कल्पों में शुक्ल लेश्या के सहभाव के कारण महर्द्धि के दर्शन से उन्हें कोई संक्लेश भाव नहीं होता है। अत: आनतादि चार स्वर्गों में देवऋद्धि-दर्शन कारण नहीं कहा गया है। **(ध. ६/४३५)**

इसी प्रकार नव ग्रैवेयक में जिनमहिमादर्शन को सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण नहीं कहा, क्योंकि ग्रैवेयक विमानवासी देव नन्दीश्वर आदि के महोत्सव देखने नहीं आते। वीतरागी होने के कारण अवधिज्ञान से जिनमहिमा को देखते हुए भी उन्हें विस्मय उत्पन्न नहीं होता है।

नोट : जातिस्मरण, उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त काल के भीतर ही होता है। किन्तु देवर्द्धिदर्शन उत्पन्न होने समय से अन्तर्मुहूर्त्त काल के पश्चात् ही होता है।

अनीक (सेना के सदस्य) आभियोग्य - जिन देवों को इन्द्र की आज्ञा से तत्काल हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि बनना पड़ता है। किल्विषक - जो इन्द्र की सभा में नहीं बैठ सकते हैं अर्थात् उन्हें सभा के बाहर बैठना पड़ता है तथा वाहनादि जाति के देव जहाँ पर सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न हो ही नहीं सकते हैं। ऐसे नीच जाति के देव जिनका हमेशा तिरस्कार ही होता रहता है वे देव भी जातिस्मरणादि बाह्य निमित्त पाकर मिथ्यात्व के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। इसी प्रकार उनकी देवांगनाएँ भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकती हैं।

नोट : वैमानिक देवों में भी अनीक आदि जाति के देव होते हैं। सम्यग्दृष्टि वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है लेकिन वहाँ के अनीकादि नीच जाति के देवों में उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न : देवऋद्धि दर्शन और जातिस्मरण रूप निमित्त में क्या अन्तर है?

उत्तर : कई देवों को अपनी अणिमादि ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई हैं, तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति जातिस्मरण निमित्तक होती है। किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्य संयम के फल से वाहनादि नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ तब प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण देवर्द्धिदर्शन निमित्तक होता है। **(ध. ६/४३३)**

कोई देव दूसरे देवों की महाऋद्धियों, दीप्तिमान-तेजस्वी रूप लावण्य व आरोग्यता को देखकर अपना अपमान हुआ जानकर अथवा अपमानित होकर मन में दु:ख को प्राप्त होता है। मानसिक रोग से पीड़ित वह कुछ एक क्षण के लिए विचार करता है। ओह ! तीन लोक में सब जीवों के लिए शरणभूत एकमात्र धर्म ही है। वह धर्म भगवान सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया निर्मल, पवित्र तथा अहिंसामय है। इस संसार से तारने में महान् महात्तारक है। इस धर्म को मुझे आगम से ग्रहण करना चाहिए। (इस प्रकार विचार करते हुए उन्हें सम्यक्त्व उत्पन्न होता है) **(धम्म रसायण आ. पद्मनन्दि ८८-८९)**

कई देव अपने बड़े देवों की ऋद्धियों को देखकर विचार करते हैं कि इसको इतनी सामग्रियाँ, इतने भोगों की साधन सुविधाएँ क्यों मिलीं और मुझे इतना वैभव, इतनी आज्ञापालक देवांगनाएँ, सेवा में तत्पर रहने वाले देव क्यों नहीं मिले? क्योंकि मैंने पूर्व भव में धर्म नहीं किया था, इसने धर्म किया था। इसने जिनेन्द्र भगवान के प्रति जीवन को समर्पित किया था। उनकी आज्ञा का पालन किया था, संयम का पालन किया था, कठोर-कठोर तपस्या की थी, उसी के पुण्य में इसको इतना वैभव मिला है, मैं भी उसी धर्म को स्वीकार करता हूँ, श्रद्धा करता हूँ। इस प्रकार के विचारों से मिथ्यात्व रूप विष को उगलकर धर्मरसायन का पान करके सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं।

कई देवों को दूसरे देवों के द्वारा धर्म के स्वरूप को समझाए जाने पर भी धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है। **मेरु-मंदर पुराण में आचार्य वामदेव स्वामी** कहते हैं कि रामदत्ता का जीव भास्करप्रभ देव की जब स्वर्ग में १५ दिन की आयु शेष रह गई थी तो वहाँ उसके स्वर्ग (विमान) के कल्पवृक्ष चलायमान होने लगे। उसके पारिवारिक देवताओं को देखकर वहाँ के सामान्य देव इसे समझाते हैं कि हे महर्द्धिक देव! आपने अपने पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से यह देव पद पाया था। अब आपकी आयु पूर्ण हो गई है। आयु पूर्ण होते समय स्वाभाविक रूप से सबके साथ ऐसा ही होता है अत: आप घबराओ मत। यह शरीर क्षणिक और अनित्य है, इस प्रकार शरीर आदि के स्वरूप को समझ लेना ही सम्यक्त्व है। शरीर को छोड़ते समय जो दु:ख करता है वह मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार सामान्य देवों के द्वारा कहने के बाद शीघ्र ही जिस प्रकार लाख को अग्नि के सामने रखते ही वह पिघल जाती है और अग्नि से अलग करने के बाद पुन: वह लाख जम जाती है। उसी प्रकार भास्कर देव का मन दृढ़ हो गया और धर्म में रुचि हो गयी। वह भगवान की पूजा, स्तुति, स्तोत्र, भक्तिपूर्वक धर्मध्यान में समय व्यतीत करने लगा। उपर्युक्त कथानक से समझ में आता है कि एक देव के समझाने से भी दूसरा देव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है। **(मेरु मंदर पु.)**

स्वर्गों में उत्पन्न होने वाले मिथ्यादृष्टि देव को अन्य सम्यग्दृष्टि देव सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के हेतुभूत तत्त्व आदि के प्रतिपादन रूप धर्मोपदेश देते हैं। उनमें से कितने ही देव देशना प्राप्त करते ही काललब्धि से प्रेरित होकर शुद्ध चित्त होते हुए तीन लोक में सारभूत सम्यक्त्व को भक्तिपूर्वक शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं। **(सि.सा.दी. ३४३-४४)**

ये सब बाह्य निमित्त कहे गये हैं, इनके होने पर सम्यग्दर्शन हो सकता है लेकिन हो ही जावे ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ये निमित्त हमें अनेक बार मिले हैं। ऐसे निमित्त अभव्य जीवों को भी मिल जाते हैं लेकिन उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है। कहा भी है एक स्त्री जिसकी शंखावर्त्त योनि है उसको अनेक बार पति का संयोग मिलने पर भी उसके गर्भ नहीं ठहरता अर्थात् उसे संतान की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उसके अन्तरंग कारण रूप वंशपत्र और कूर्मोन्नत्त योनि का अभाव है। इस अन्तरंग कारण रूप शक्ति का अभाव होने से वह 'बांझ' संज्ञा को प्राप्त होती है और एक नवयौवना कुमारी कन्या है उसे पति का संयोग मिलने पर वह संतान को जन्म देगी। जब तक पति का संयोग नहीं मिला अर्थात् बहिरंग कारण नहीं मिलता तब तक अन्तरंग गर्भधारण की क्षमता होने पर भी वह संतान को जन्म नहीं दे सकती है इसी प्रकार बाह्य में केवली, श्रुतकेवली, जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण आदि कारण और अन्तरंग में दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय, उपशम और क्षयोपशम नहीं होता है तब तक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

प्रश्न : क्या इनके अलावा और भी कोई सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाह्य निमित्त हैं?

उत्तर : हाँ, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भी निमित्त बनते हैं। जिस

प्रकार विष के विकार को दूर करने के लिए बाह्य में द्रव्य क्षेत्रादि निमित्त बनते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व की उत्पत्ति में भी द्रव्य आदि निमित्त बनते हैं।

द्रव्य - जिनबिम्ब,चारणऋद्धिधारी मुनीन्द्र, सच्चे गुरु आदि।

क्षेत्र - समवसरण, निर्वाणभूमियाँ, सिद्धक्षेत्र, तीर्थक्षेत्र तथा जहाँ सुकुमाल आदि मुनिराजों ने उपसर्गों को सहन करके आत्मशुद्धि प्राप्त की थी आदि क्षेत्र।

काल - अर्द्धपुद्गल परावर्तन शेष रहने पर अथवा अवसर्पिणी के दुषमा-दुषमा को तथा उत्सर्पिणी के दुषमा-दुषमा और दुषमा काल को छोड़कर शेष काल में।

भाव - अध:प्रवृत्तादि परिणाम (अन्तरंग कारण) तथा पीत लेश्यादि शुभ लेश्या रूप, तीव्र कषायों के अभाव रूप तथा विषयासक्ति से रहित आदि भाव (बहिरंग कारण)।

सम्यक्त्व उत्पत्ति के अन्तरंग साधन

आसन्न भव्यता, कर्महानि (उपशम आदि भाव), संज्ञीपना और परिणामों की विशुद्धि ये चार सम्यक्त्व की उत्पत्ति के अंतरंग कारण हैं।

सम्यग्दर्शन का अंतरंग साधन सभी जीवों के एक समान ही होता है, चाहे वह नारकियों के हो या नव ग्रैवेयक के देवों के हो, चाहे तीर्थंकर भगवान बनने वाले के हो, अथवा किसी दरिद्र व्यक्ति के हो, सबको अंतरंग में दर्शनमोह की तीन मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक् प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों का अथवा सम्यक् प्रकृति को छोड़कर शेष छह प्रकृतियों का अथवा सम्यग्मिथ्यात्व को भी छोड़कर शेष पाँच प्रकृतियों के उपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। **(ज.ध. ८/३२)**

ऊपर जितने भी बहिरंग कारण कहे गये हैं वे सब प्रथमोपशम सम्यक्त्व की मुख्यता से कहे गये हैं। इसलिए यहाँ केवल प्रथमोपशम सम्यक्त्व का ही अंतरंग कारण बताया गया है।

उपर्युक्त सात प्रकृतियों में से सम्यक् प्रकृति एवं सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति ये दो उद्वेलन प्रकृतियाँ हैं। इनमें से जब सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना हो जाती है तो सत्ता में छह और जब सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की भी उद्वेलना हो जाती है तब सत्ता में पाँच प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें से अनादि मिथ्यादृष्टि (जिसने आज तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया है) जीव के पाँच प्रकृतियों का उपशम तथा सादि मिथ्यादृष्टि (जिसने एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है) छह अथवा सात प्रकृतियों का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि एवं सादि मिथ्यादृष्टि (जिसके सम्यक् प्रकृति एवं सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना हो गई है) के २६ प्रकृति की सत्ता रहती है अर्थात् उसके अनन्तानुबन्धी चतुष्क एवं मिथ्यात्व इन पाँच के उपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। अथवा सादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति के

बिना मोहनीय की २७ प्रकृतियाँ सत्कर्म रूप से होती हैं, क्योंकि सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना करके उपशम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए जीव के उनके होने में कोई विरोध नहीं है। अथवा २८ प्रकृतियाँ सत्कर्म रूप से होती हैं, क्योंकि वेदक सम्यक्त्व के योग्य काल का उल्लंघन करके जिसने सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना नहीं की है ऐसे उपशम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए जीव के २८ प्रकृतियों का सद्भाव देखा जाता है। **(ज.ध. २/२०८)** अर्थात् जिसने सम्यक्त्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनों प्रकृतियों की उद्वेलना नहीं की है उसके ७ प्रकृतियों के उपशम से जिसने सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना कर दी है वह सम्यक्त्व बिना छह प्रकृतियों के उपशम से तथा जिसने सम्यग्मिथ्यात्व की भी उद्वेलना कर दी है वह ५ प्रकृतियों के उपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। अनादि मिथ्यादृष्टि के सत्ता में सम्यक्त्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता नहीं होने से वह भी ५ प्रकृतियों के उपशम से ही उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

नोट : सम्यक् प्रकृति एवं सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना हो जाने पर सादि मिथ्यादृष्टि भी अनादि मिथ्यादृष्टि के समान हो जाता है। इसलिए वह भी पाँच प्रकृतियों का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

प्रश्न : अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व प्रकृति एवं सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता कैसे बनती है?

उत्तर : जिस प्रकार यंत्र से कोदों के दलने पर उसके चाँवल, कण और तुष ऐसे ३ भाग हो जाते हैं उसी प्रकार अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों से मिथ्यात्व को नि:शक्त करके जिस समय यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उसी समय मिथ्यात्व के ३ टुकड़े हो जाते हैं अर्थात् दलित किये गये दर्शन मोहनीय के ३ भेद उत्पन्न हो जाते हैं। **(ज.ध. १२/२८१)**

जिस प्रकार धान्य (कोदों, मूंग आदि) को चक्की में पीसने (दलने) पर उसके तीन भाग हो जाते हैं। चाँवल अलग, भूसी अलग और कण अलग हो जाते हैं। उसी प्रकार उपशम सम्यग्दर्शन रूपी चक्की के द्वारा पीसे जाने पर मिथ्यात्व कर्म भी तीन भागों में बँट जाता है। पहले भाग को मिथ्यात्व कर्म कहते हैं। यह सबसे अधिक बलवान और अधिक होता है। दूसरा सम्यग्मिथ्यात्व है यह उससे कम बलवान है और इसकी द्रव्य संख्या भी उससे कम होती है। तीसरी सम्यक् प्रकृति यह दूसरे से भी कम बलवान है और इसमें द्रव्य भी कम होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब उसके मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। जिस प्रकार मूंग आदि को दलते हैं उस समय तीन प्रकार के टुकड़े होते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व के टुकड़े होते हैं। उनमें मिथ्यात्व प्रकृति से असंख्यातगुणी हीन शक्ति वाली सम्यग्मिथ्यात्व और उससे भी असंख्यात गुणी हीन शक्ति वाली सम्यक् प्रकृति उत्पन्न होती है। इसलिए अनादि मिथ्यादृष्टि के भी सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति की सत्ता बन जाती है।

प्रश्न : क्या अंतरंग बहिरंग निमित्तों के मिलने पर कपड़े धोना, झाड़ू लगाना, व्यापार-व्यवसाय करना, भोजन बनाना, गाड़ी में सफर करना, टी.वी. देखना आदि पंचेन्द्रिय के विषयभोग को भोगते समय अथवा लड़ना-झगड़ना, झूठ बोलना आदि कषाय पाप आदि करते समय सम्यग्दर्शन हो सकता है?

उत्तर : नहीं, नहीं हो सकता, क्योंकि इन कार्यों को करते समय न बाह्य निमित्त रूप जिनबिम्ब दर्शन, जातिस्मरण आदि होते हैं और न ही अन्तरंग निमित्त रूप तीन लब्धियाँ ही होती हैं क्योंकि पंचेन्द्रिय के विषयभोग करते अथवा कषायों की उग्रता के समय वर्द्धमान शुभ लेश्या नहीं हो सकती है, क्योंकि ये पापात्मक कार्य हैं अर्थात् इन कार्यों को करते समय पाप का ही बन्ध होता है। कभी जाति स्मरण आदि हो भी तो उनमें उपयोग नहीं हो सकता है। अर्थात् इन निमित्तों को कारण बनाकर जिनधर्म, सच्चे देव आदि के प्रति श्रद्धा जागृत नहीं हो सकती है, क्योंकि छद्मस्थ (१२वें गुणस्थान तक के जीव) जीवों के एक समय में एक ही उपयोग होता है। जिस समय कपड़े धोने, धन कमाने, टी.वी. देखने आदि में उपयोग लग रहा है उस समय तत्त्व-निर्णय, धार्मिक विचार ये उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। यदि कभी कपड़े धोते-धोते या किसी को माल देते-लेते समय भी जातिस्मरण हुआ तो ये कार्य छूट जायेंगे। तीसरी बात प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पहले नियम से पाँच लब्धियाँ होती हैं। उन लब्धियों में विशुद्धि आदि लब्धियों के बारे में विचार करने पर विषय-कषाय के समय ऐसे निर्मल परिणाम होना विचारणीय हैं। हाँ, यह बात अलग है कि इन कार्यों को करते हुए सम्यग्दर्शन रह सकता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि इन सब कार्यों को कर सकता है।

जब यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करने के सम्मुख होता है तब प्रतिक्षण अनन्तगुणी विशुद्धि से वर्तमान विशुद्ध परिणाम वाला होता है। पाप प्रकृतियों की स्थिति को प्रतिक्षण हीन करता है। अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग को प्रतिक्षण घटाता है और प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग को प्रतिक्षण बढ़ाता है और योग्य-अयोग्य का विवेचक बनता है। पश्चात् प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व परिणामों को प्राप्त होता हुआ अपूर्वकरण को करके सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना नहीं लौटने वाले ऐसे अनिवृत्तिकरण को धारण करके अन्तर्मुहूर्त तक प्रतिक्षण अतिशुद्ध (विशुद्ध) परिणामों को धारण करता है। उपर्युक्त तीनों करणों में से पहले अध:करण में किसी भी कर्म की स्थिति और अनुभाग का विच्छेद नहीं होता है। केवल वह अनन्तगुणी विशुद्धि से पुण्य कर्म को बाँधता है। दूसरा अपूर्वकरण शुभ कर्म के रस को बढ़ाता हुआ और अशुभ कर्म के रस को घटाता हुआ पापकर्मों की स्थिति और रस को कुछ क्षय करता है। पश्चात् अनिवृत्तिकरण के संख्यात भागों के व्यतीत होने पर जीव अन्तरकरण करता है। सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जीव उस अन्तरकरण के समय में अन्तर्मुहूर्त्त काल के द्वारा अनन्तानुबंधी कषायों के साथ मिथ्यात्व कर्म के शुद्ध अशुद्ध और मिश्र रूप से सम्यक् प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व नाम वाले तीन टुकड़े कर देता है। तदनन्तर वह जीव अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शन मोह के उक्त तीन विभाग करके इन सातों कर्म प्रकृतियों का उपशम करके अन्तर्मुहूर्त्त काल की स्थिति वाले प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता

है जिस प्रकार निर्मल दिन के पश्चात् अवश्य ही मलीमस रात्रि आती है उसी प्रकार इस औपशमिक सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् मिथ्यात्व अवश्य उदय को प्राप्त होता है। यह नियम सबसे पहली बार अनादि मिथ्यादृष्टि जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उसकी अपेक्षा जानना चाहिए। **(अ.श्रा.)** किन्हीं आचार्यों के अनुसार मिथ्यात्व में आना अनिवार्य नहीं है। अन्तरकरण-विवक्षित कर्म की अधस्तन और उपरितन स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थितियों के निषेकों का करण रूप परिणामों से अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल में स्थित मिथ्यात्व के परमाणुओं को कुछ ऊपर एवं कुछ नीचे देकर मिथ्यात्व के परमाणुओं से रहित कर देना। जब इस अन्तर्मुहूर्त्त में स्थित परमाणुओं का उदय आता है तब वहाँ मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो जाता है। इसलिए वहाँ सम्यक्त्व की प्राप्ति कही गयी है। यह लक्षण मैंने अपने अनुमान से लिखा है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे होती है

जब देशना लब्धि और काल लब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करण लब्धि रूप अन्तरंग कारण सामग्री प्राप्त होती है, तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक हो सकता है। **(म.पु. ९/११६)**

क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि तथा प्रायोग्य लब्धि ये चार लब्धियाँ तो अभव्य जीवों के भी हो सकती हैं लेकिन करण लब्धि को प्राप्त कर लेने पर नियम से सम्यग्दर्शन होता है। **(ध. ६/२०३-५)**

तीनों करणों के अन्तिम समय में सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। इस सूत्र के द्वारा क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि और प्रायोग्य लब्धि इन चारों लब्धियों की प्ररूपणा की गयी है। **(ध. ६/२०४)**

दर्शन मोह का उपशमन करने वाला (करण लब्धि में प्रवेश करने के लिए) जीव उपद्रव व उपसर्ग आने पर भी उसका उपशम किये बिना नहीं रहता है **(ध. ६)** अर्थात् वह निश्चित रूप से सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न : अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य के कर्मों के उदय से प्राप्त कलुषता के रहते हुए उपशम सम्यक्त्व कैसे होता है?

उत्तर : अनादिकाल से मिथ्यात्व में पड़ा हुआ जीव भी काललब्धि आदि कारणों के मिलने पर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। उसमें एक लब्धि यह है कि कर्मों से घिरे हुए भव्य जीव के संसारभ्रमण का काल अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण बाकी रहने पर वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने का पात्र होता है। यदि उसके परिभ्रमण का काल अर्द्धपुद्गल परावर्तन से अधिक शेष होता है तो प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य नहीं होता है। **(का.अ.टी. ३०८)** जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण शोधने की सामग्री के संयोग से शुद्ध स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार काल आदि लब्धि की प्राप्ति से आत्मा परमात्मा बन जाता है। **(मो.पा. २४)**

मिथ्यात्व से पुष्ट तथा कर्ममल सहित आत्मा कभी कालादि लब्धि के प्राप्त होने पर क्रम से सम्यग्दर्शन, व्रतदक्षता, कषायों का विनाश और योगनिरोध के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेता है। **(आ.अनु.२४१)**

अनादिकाल से चला आया कोई जीवकाल आदि लब्धियों का निमित्त पाकर तीनों करणरूप परिणामों के द्वारा मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम करता है तथा संसार की परिपाटी का विच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। **(म.पु. ६२/३१४-१५)** आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र महाग्रन्थ की सर्वप्रथम टीका श्री सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में काल लब्धि का वर्णन करते हुए लिखा है- अनादि मिथ्यादृष्टि के काललब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यहाँ काललब्धि को बताते हैं- कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य होता है, इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता है, यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धि का सम्बन्ध कर्मस्थिति से है। उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है। जब बँधने वाले कर्मों की स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर पड़ती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर प्राप्त होती है; तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है। एक अर्थात् तीसरी काललब्धि भव की अपेक्षा होती है - जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्व विशुद्ध है, वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। **(सर्वा. २/३)**

प्रश्न : उपर्युक्त कथन से तो ऐसा लगता है कि भव्य जीव अपने समय के अनुसार ही मोक्ष जायेगा, इसलिए अधिगमज सम्यक्त्व अर्थात् उपदेश सुनकर सम्यक्त्व की प्राप्ति का अभाव है, क्योंकि उसके द्वारा समय के पहले सिद्धि असंभव है।

उत्तर : नहीं, (इस प्रकार प्रश्न करने वाले) तुम विवक्षा को नहीं समझे। यदि ज्ञान व चारित्र से शून्य केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यग्दर्शन ही से मोक्ष होना हमें इष्ट होता तो आपका यह कहना युक्त हो जाता कि भव्य जीव को समय के अनुसार मोक्ष होता है परन्तु यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही (समय निश्चित है)। कोई भव्य संख्यातकाल में सिद्ध होंगे, कोई असंख्यात में और कोई अनन्तकाल में। कुछ ऐसे भी हैं जो अनन्तानन्त काल में भी सिद्ध नहीं होंगे। अत: भव्य के मोक्ष के काल के नियम की बात उचित नहीं है। **(रा.वा.१/३)** इसी विषय में महापुराणजी के दृष्टान्त पठनीय हैं -

भगवान महावीर स्वामी के दर्शनार्थ जाने वाले राजा श्रेणिक ने मार्ग के मध्य में ध्याननिमग्न परन्तु कुछ विकृत मुख वाले धर्मरुचि (मुनि) की वन्दना की। समवसरण में पहुँचकर गणधरदेव से प्रश्न करने पर उन्होंने बताया कि वे छोटे से पुत्र को ही राजपाट सौंपकर दीक्षित हुए हैं। आज जब वे भोजनार्थ नगर में गये तो किन्हीं मनुष्यों की परस्पर बातचीत को सुनकर उन्हें यह भान हुआ कि मंत्रियों ने उसके

पुत्र को बाँध रखा है और स्वयं राज्य बाँटने की तैयारी कर रहे हैं। वे निराहार ही लौट आये और अब ध्यान में बैठे हुए क्रोध के वशीभूत हो विषय संरक्षणानन्द नामक रौद्र ध्यान में स्थित हैं। यदि आगे अन्तर्मुहूर्त्त तक यही अवस्था रही तो वे अवश्य ही नरकायु का बंध करेंगे। अत: तू शीघ्र ही जाकर उसे संबोध। राजा श्रेणिक ने तुरन्त जाकर उन्हें सावधान किया और वे सचेत (संचेतित) होकर रौद्रध्यान को छोड़कर शुक्ल ध्यान में प्रविष्ट हुए। जिससे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। **(म.पु. ७६/१-३०)** अत: सिद्ध है कि काललब्धि से ही मोक्ष होता हो, ऐसा नहीं मोक्ष की प्राप्ति में काललब्धि भी एक कारण है।

श्रेणिक के पूर्वभव के जीव खदिरसार ने समाधिगुप्त मुनि से कौवे का मांस न खाने का व्रत लिया। बीमार होने पर वैद्यों द्वारा कौवे का मांस खाने के लिए आग्रह किये जाने पर भी उसने वह स्वीकार नहीं किया। तब उसके साले शूरवीर ने उसे बताया कि जब वह उसको देखने के लिए अपने गाँव से आ रहा था तो मार्ग में एक यक्षिणी रोती हुई मिली। उससे पूछने पर उसने अपने रोने का कारण यह बताया कि खदिरसार जो कि अब उस व्रत के प्रभाव से मेरा पति होने वाला है, तेरी प्रेरणा से यदि कौवे का मांस खा लेगा तो नरक के दु:ख भोगेगा। यह सुनकर खदिरसार ने तुरन्त श्रावक के व्रत धारण कर लिये और प्राण त्याग दिये। मार्ग में शूरवीर को पुन: वही यक्षिणी मिली। जब उसने उससे पूछा कि क्या वह तेरा पति हुआ तो उसने उत्तर दिया कि अब तो श्रावकव्रत के प्रभाव से वह व्यन्तर होने की बजाया सौधर्म स्वर्ग में देव उत्पन्न हो गया है। अत: मेरा पति नहीं हो सकता। **(महा.पु. १९ सर्ग)** अत: सिद्ध है कि काललब्धि से ही मोक्ष होता हो ऐसा नहीं, मोक्ष की प्राप्ति में काललब्धि भी एक कारण है। दूसरी बात कर्मों की (आयु को छोड़कर) जब अन्त:कोड़ाकोड़ी स्थिति बाँधता है तब यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इस सूत्र के द्वारा क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि ये चारों प्ररूपण की गयी हैं।

प्रश्न : सूत्र में केवल एक काललब्धि ही प्ररूपण की गयी है, उसमें इन शेष लब्धियों का होना कैसे सम्भव है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि प्रतिसमय अनन्तगुण हीन अनुभाग की उदीरणा (अर्थात् क्षयोपशम लब्धि) अनन्तगुणित क्रम द्वारा विशुद्धि (विशुद्धि लब्धि) और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति (देशनालब्धि) का एक काल लब्धि (प्रायोग्य लब्धि) में होना सम्भव है। **(ध. ६/२०३-५)** यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय (अर्थात् केवल काललब्धि से मुक्ति होना मान लिया जाये) तो बाह्य और आभ्यन्तर कारण सामग्री का ही लोप हो जायेगा। **(रा.वा. २/३)**

प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं-

१. क्षयोपशमलब्धि २. विशुद्धिलब्धि ३. देशनालब्धि ४. प्रायोग्यलब्धि ५. करणलब्धि।

क्षयोपशमलब्धि : निगोदिया एकेन्द्रिय जीव की अवस्था से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अवस्था तक तो यह जीव अपने किये हुए कर्मों के फल को ही भोगता रहता है। उस समय तो यह अपने मर्मभेदी कर्मों का सताया हुआ इतना बेहोश रहता है कि आत्मकल्याण के मार्ग की ओर इसकी रुचि ही नहीं

हो पाती है। मैं भी एक जीव हूँ, मुझे भी अपने आत्महित के लिए कुछ तो करना ही चाहिए, ऐसा विचार भी नहीं होता। जैसे कि- एक नशेबाज आदमी अपने किये हुए नशे का सताया व्यर्थ ही तड़पता रहता है। जब उस नशे वाले का नशा कुछ हल्का पड़ता है तो वह विचारता है कि देखो ! मैं कैसा पागल हो गया कि मुझे जो अमुक काम करना था (गाय के लिए घास काटकर लाना था या और भी कुछ करना था) वो अभी तक नहीं हुआ। अब वह मुझे करना चाहिए इत्यादि। वैसे ही जब यह जीव संज्ञीपने को प्राप्त कर पाता है, इसके अंतरंग में कर्मचेतना का प्रादुर्भाव होता है। तब वह सोचता है कि मुझे यह भूख-प्यास क्यों लगती है, थकान क्यों होती है? जिससे मुझे बार-बार कष्ट उठाना पड़ता है। यह भी एक प्रकार का रोग ही है तो क्या इसके मिटाने का भी कोई उपाय है, अगर है तो मैं भी वही करूँ, इत्यादि। कर्त्तव्य पर विचार आने का नाम कर्मचेतना है जो कि संज्ञीपने के होने पर ही हो सकती है और संज्ञीपने की प्राप्ति कर्मों के क्षयोपशम से होती है अत: इस प्रकार के विशेष क्षयोपशम का होना पहली क्षयोपशम लब्धि है। इसके होने पर इस जीव की अपने हित की तरफ दृष्टि हो सकती है। **(स.सा.श.)**

विशुद्धि लब्धि : गुरुदेव की वाणी को अवधारण करने से उस भव्यात्मा के चित्त में इस प्रकार विचार होने लगता है कि अहो देखो ! मैं सच्चिदानंद होकर भी किस तरह से इस जन्म-मरण के चक्कर में फँस रहा हूँ। यदि मैं इस दु:ख से मुक्त होना चाहता हूँ तो मुझे कर्मचेष्टा से अर्थात् कर्म की आधीनता से दूर होना होगा। उसे तिलांजलि देनी ही होगी तभी काम बनेगा। इस प्रकार की विचारधारा से इस भव्य जीव के चित्त में कोमलता आ जाती है। इसी का नाम विशुद्धिलब्धि है। **(स.सा.श.)**

क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न जीव के जो परिणाम साता आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत हैं वे विशुद्ध परिणाम विशुद्धि लब्धि है **(ल.सा. ५)** धवलाकार ने भी कहा है कि प्रति समय अनन्त गुणित हीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असातादि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है, उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है। अत्यन्त तीव्र कषाय के अभाव में जो मंद कषाय होती है उसे विशुद्धता पद से ग्रहण करना चाहिए। (सूत्र में) साता वेदनीय के चतु:स्थान बन्धक जीव सर्व विशुद्ध हैं, ऐसा कहने पर वे अतिशय मंद संक्लेश से सहित हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अथवा जघन्य स्थितिबन्ध का कारण स्वरूप जो जीव का परिणाम है उसे विशुद्धता समझना चाहिए। **(ध. ११/१६९-७०)**

देशनालब्धि : छह द्रव्य और नौ पदार्थों का उपदेश करने वाले आचार्यादि का लाभ अथवा उपदिष्ट पदार्थ के धारण करने की शक्ति की प्राप्ति तीसरी देशना लब्धि है। **(ल.सा. ६)**

छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं। **(ध. ६/२०४)**

प्यासा आदमी जैसे कुए की खोज करता है वैसे जिज्ञासु भी किसी सन्मार्ग प्रदर्शक गुरु की खोज करता है एवं उसके पास पहुँचता है। गुरु की जो कुछ देशना होती है उसको बड़े ध्यान से सुनता है,

विचारता है कि मात्र मेरा ही भाग्योदय है जो मुझे इन सद्गुरु की वाणी सुनने को मिली। जैसे कि प्यासे को अमृत मिल जाये तो वह उसे पीता-पीता नहीं अघाता अर्थात् ऊबता नहीं है वैसे ही यह गुरु महाराज के सदुपदेश को रुचि के साथ ग्रहण किया करता है। इसका नाम देशना लब्धि है जो सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारणों में से एक परमावश्यक वस्तु है जिस प्रकार अंधकार को हटाने के लिए सूर्य की प्रभा आवश्यक है। **(स.सा.श.)**

देशनालब्धि की पात्रता उसी में आती है जिसके कर्मों के द्विस्थानीय अनुभाग का उदय हो। त्रिस्थानीय एवं चतु:स्थानीय के उदय होने पर जिनवाणी का उपदेश स्वीकृत नहीं होता। उपदेश सुनने को पहुँच भी जावे तो उसकी ऐसी स्थिति बनती है कि एक कान से सुने और दूसरे से निकाल दे। उपदेश का प्रभाव हृदय तक नहीं पहुँच पाता। वह उपदेश सुनकर इधर-उधर की बातों पर प्रश्न तो कर सकता है लेकिन समाधान पाकर ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखता। देशनालब्धि का पात्र तो वही होता है जो उपदेश को ग्रहण एवं स्वीकार करने की दृष्टि से सुनता है। बार-बार यह सोचता हो कि यह उपदेश मेरे हित के योग्य है। उपदेश सुनकर तत्त्व-चिन्तन की गहराई में पहुँचने का अभ्यास करता हो। उसके विचार-विमर्श में संलग्न रहता हो। विचार-विमर्श करने वाला उपदेश को ग्रहण कर ही ले यह जरूरी नहीं है लेकिन एक समय ऐसा आ सकता है कि वह यदि तात्कालिक सम्यग्दृष्टि नहीं भी हो अर्थात् तत्काल में सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं भी कर पावे तो भी कालान्तर में उपदेश के स्मरण से भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की भूमिका बन सकती है।

जैसे बचपन में बच्चों को टीका लगाते हैं, कालान्तर में बच्चा कितना बड़ा हो जाता है। वही टीका आगे यह प्रभाव दिखाता है कि जीवन भर उसे कभी भी छोटी-बड़ी माता नहीं निकलती। जिस प्रकार कालान्तर में टीके का प्रभाव देखने में आता है उसी प्रकार देशना भी कालान्तर में सम्यग्दर्शनप्राप्ति के साधन स्वरूप जातिस्मरण के रूप में कारण बनकर अपना प्रभाव दिखा सकती है। अत: जब भी देशनाप्राप्ति का अवसर आये तो अवश्य ही उसका लाभ लेने का प्रयास होना चाहिए। **(समयोपदेश ३०)**

प्रश्न : चौथे नरक से लेकर सातवें नरक तक धर्मोपदेश का अभाव होने से तीसरी देशनालब्धि कैसे हो सकती है?

उत्तर : ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि गाथा में आये 'तु' शब्द से ऐसा समझना कि जहाँ उपदेश करने वाले नहीं जा सकते ऐसे नारक आदि भवों में जीवों ने पूर्वभव में, शास्त्र को सुनकर जो तत्त्वों का अर्थ अवधारण किया था उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, ऐसा सूचित किया गया है। **(ल.सा.टी.)** इसी प्रकार भोगभूमि में कोई सामान्य मुनि नहीं जा सकता फिर भी वहाँ पर चारण आदि ऋद्धिधारी मुनिराज, विद्याधर आदि जा सकते हैं। जैसे- श्री महापुराणजी में आया है कि महाबल (वज्रजंघ) का जीव जब भोगभूमि में था तब उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिए मुनि महाराज स्वयं गये थे।

इसी प्रकार स्वयंभूरमण द्वीप-समुद्र में गुरु का समागम नहीं हो सकता, क्योंकि ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं जा सकता। अत: वहाँ देशनालब्धि या धर्मश्रवण सम्यक्त्वप्राप्ति में कारण कैसे बनता होगा? इसका उत्तर है कि एक बार गुरु का समागम, गुरु की देशना सुनकर जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है, ऐसे सादि मिथ्यादृष्टि के लिए गुरु की देशना अनिवार्य नहीं है क्योंकि वह जातिस्मरण आदि से पूर्व में सुने गये गुरु के उपदेश का स्मरण कर देशनालब्धि को प्राप्त कर लेता है। दूसरी बात, मनुष्य न सही सम्यग्दृष्टि अथवा हितोपदेशी देव तो वहाँ जाकर सन्मार्ग का उपदेश देकर सम्यग्दर्शन ग्रहण करवा सकता है। अत: वहाँ भी सम्यक्त्वप्राप्ति के पहले देशना लब्धि होती ही है।

प्रायोग्यलब्धि : जैसे अमृत पीने से रोग उपशान्त हो जाता है या शीत का सताया वृक्ष खंखर हो जाता है वैसे ही उपर्युक्त विचार के द्वारा अर्थात् विशुद्धि लब्धि के द्वारा इस जीव के पूर्वोपार्जित कर्म भी कमजोर बन जाते हैं। उनकी जो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति बँधती थी वह घटकर अंत: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण वाली रह जाती है और पूर्व में बँधी हुई सत्ता में स्थित स्थिति भी घट कर अंत: कोड़ा कोड़ी (करोड़ से ज्यादा और कोड़ाकोड़ी से कम) मात्र रह जाती है। जिस प्रकार ७० किलोमीटर प्रति घंटा चलने वाली गाड़ी को ब्रेक लगाकर एक कि.मी. प्रति घंटे की गति से कर सकते हैं ठीक उसी प्रकार ७० कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति वाले मिथ्यात्व को आत्मोन्मुखी स्व पुरुषार्थ के बल से अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर कर सकते हैं। इसी प्रकार अनुभाग भी दोनों (सत्ता और बँधने वाला) का कम हो जाता है। इसे ही प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। इसका विशेष वर्णन लब्धिसार में देखना चाहिए। इन चार लब्धियों के होने पर सम्यक्त्व हो जावे ऐसा कोई नियम नहीं है लेकिन जब भी सम्यग्दर्शन होगा ये लब्धियाँ अवश्य ही होंगी।

ये चार लब्धियाँ अभव्य जीव के भी अनेक बार हो सकती हैं, हो जाती हैं परन्तु इनके होने पर सम्यक्त्व प्राप्त होने का नियम नहीं है, क्योंकि ये सम्यक्त्व प्राप्ति में अविकल कारण नहीं हैं। इन लब्धियों के बाद पाँचवीं करण लब्धि होती है जिसके होने पर नियम से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

करणलब्धि : जिस प्रकार जमीन के भीतर दबा हुआ बीज उपजाऊ भूमि, खाद, पानी आदि की सहायता से अपनी स्फुरण (उगने) की शक्ति के द्वारा मिट्टी को भेदकर अंकुरित हो जाता है; वैसे ही कर्मों के भार से दबा हुआ जीव भी क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धि की सहायता से काललब्धि होने पर अपनी करण शक्ति अर्थात् करण लब्धि रूप शक्ति के द्वारा मोह को दबाकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दृष्टि बन जाता है। **(स.सा.श.)**

जिस प्रकार सूर्योदय होने वाला होता है तो उससे पहले प्रभात होकर उससे अंधकार फटता है फिर सूर्य प्रगट होता है वैसे ही सम्यक्त्व होने से पहले इस आत्मा में तीन करण प्रगट होते हैं:-

१. अध:प्रवृत्तकरण २. अपूर्वकरण ३. अनिवृत्तिकरण

इन करणों में आत्मा निर्मल, निर्मलतर और निर्मलतम होती है। जैसे किसी भी मैले कपड़े को

पानी से गीला करके धोया जाता है तो उसका कुछ मैल निकल जाता है। फिर साबुन लगाकर धोने से बिल्कुल स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार तीन करण रूपी साबुन से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी रूपी मैल धुल जाता है जिससे आत्मा में सम्यक्त्व रूपी स्वच्छता प्रगट होती है। **(स.सा.श.)**

अध:प्रवृत्तकरण : जो परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हों उन्हें अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं। जिसमें आगामी समय में रहने वाले जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते-जुलते हों उसे अध:प्रवृत्तकरण कहते हैं। इसमें एक समयवर्ती और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं। इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त है। इसमें असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं। इसमें– १. समय-समय में अनन्तगुणी-अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती है।

२. प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त्त में नवीन बंध स्थिति घटती जाती है।

३. प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुणा बढ़ता जाता है।

४. प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तवाँ भाग घटता जाता है।

अपूर्वकरण : जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व अर्थात् नये-नये परिणाम होते हैं, उसे अपूर्वकरण परिणाम कहते हैं। इसमें एक समयवर्ती जीवों के भाव समान व असमान दोनों प्रकार के होते हैं। परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। इसका भी काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। इसमें भी असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं। इसमें पूर्वोक्त कार्यों के साथ ङ्क

१. सत्ता में स्थित पूर्व कर्मों की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त्त में उत्तरोत्तर घटती रहती है। अत: स्थिति काण्डकघात होता है।

२. पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है इसलिए अनुभाग काण्डकघात होता है।

३. गुणश्रेणी के काल में क्रम से असंख्यात गुणित कर्म निर्जरा के योग्य होते हैं इसलिए गुणश्रेणी निर्जरा होती है।

४. बन्ध रहित अप्रशस्त प्रकृतियों के द्रव्य का प्रतिसमय असंख्यात गुणित क्रम से संक्रमण होना गुणा संक्रमण हैं।

अनिवृत्तिकरण : जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसमें एक समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं, क्योंकि यहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है इसलिए इसके जिस समय में जितने जीव होते हैं वे सब एक समान परिणाम वाले होते हैं। इसका काल भी एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है परन्तु अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त्त है। इसमें पूर्वोक्त कार्यों के साथ अन्तरकरण होता है। अन्तरकरण के पश्चात् उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरण के द्वारा अभाव रूप किये गये निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय में आने वाले थे उन्हें उदय के अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबंधी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदय योग्य प्रकृतियों का अभाव होने से प्रथमोपशम

सम्यक्त्व होता है। तदनन्तर चरम समय में सम्यक्त्व प्राप्ति के प्रथम समय में मिथ्यादर्शन के तीन भाग करता है– १. मिथ्यात्व २. सम्यग्मिथ्यात्व ३. सम्यक्प्रकृति ।

कहा भी है –

ओदइहण मिच्छत्तं तिण्णिभागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्यगमिच्छत्तम् । (ध.६)

अर्थ : अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करता है - १. मिथ्यात्व २. सम्यग्मिथ्यात्व ३. सम्यक्प्रकृति।

दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि ।

अर्थ : मिथ्यात्व के तीन भाग करने के पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्म को उपशमाता है।

नोट : इन तीन करणों का विशेष देखें - जीवकाण्ड, लब्धिसार।

प्रश्न : क्या करणलब्धि के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता है?

उत्तर : हाँ, करणलब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस लब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति इस प्रकार असंभव है जैसे- आँखों के बिना देखना, कानों के बिना सुनना, खेत के अभाव में धान्य की उत्पत्ति, स्त्री के बिना पुत्र की प्राप्ति (उत्पत्ति), बुद्धि के बिना न्याय, दीवाल या अन्य किसी आलम्बन के बिना चित्र खींचना, जल के बिना रसोई बनाना, बाण के बिना धनुष चलाना, पानी बिना तालाब बनाना, पैर बिना चलना, तैरना जाने बिना समुद्र पार करना, सम्पत्ति के बिना मनोरंजन की सामग्री खरीदना एवं रसना बिना बोलना असंभव है। इसी प्रकार करणलब्धि के बिना किसी भी प्रकार से सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता है। **(धर्मा.)**

पाँच लब्धियों का उदाहरण : यह आत्मा एक रेलगाड़ी की भाँति है जो मोक्षनगर को जाना चाहती है। उसका मोक्ष के सम्मुख रवाना होना **सम्यक्त्व** है। उसमें **काललब्धि** तो रेल की पटरी के समान है जिसके बिना रेल नहीं चल सकती है। वैसे ही काललब्धि के बिना सम्यक्त्व भी नहीं हो सकता है। **क्षयोपशम लब्धि** का होना अर्थात् संज्ञीपने का पाना सो रेल के पहिये के समान है जिसके होने से आगे बढ़ा जाता है। **देशनालब्धि** सीटी के समान है अर्थात् सीटी का काम करती है। जो सुझाव देती है अर्थात् कब, कहाँ, कैसे, किस रास्ते से चलना है आदि संकेत देकर सावधान करती है। **विशुद्धि लब्धि** मार्ग सफाई का काम करती है ताकि आगे बढ़ने में कोई रुकावट नहीं हो अर्थात् परिणामों में विशुद्धि, निर्मलता, कषायों की मंदता होने से सम्यक्त्वप्राप्ति में बाधा उत्पन्न नहीं होती है। **प्रायोग्य लब्धि** कोयला, पानी का बॉयलर अर्थात् विद्युत ऊर्जा का काम करती है, जो रेल को चलने के लिए शक्ति प्रदान करती है अर्थात् यहाँ कर्मों का उदय और बन्ध दोनों मंद रहते हैं जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति में आत्मिक बल बढ़ जाता है और **करणलब्धि** तो चाबी या हैण्डल का काम करती है जिसके घुमाने से रेल चल ही पड़ती है अर्थात् करणलब्धि होने पर नियम से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने से मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो ही जाता है। **(स.सा.श.)**

करणलब्धि से जिन सात प्रकृतियों का उपशम होता है उनके लक्षण :

मिथ्यात्व : जिसके कारण ज्ञान में वस्तु का अन्यथा परिच्छेद/जानना होता है उसको सत्पुरुषों ने मिथ्यात्व माना है जो कर्मरूपी बगीचे को उगाने, बढ़ाने के लिए जल के सिंचन के समान है। **(यो.सा.प्रा. १/१३)**

मिथ्यात्व से प्रभावित हुआ जीव अतत्त्व को तत्त्व मानता है। जिस प्रकार धतूरा खाकर मोहित हुआ जीव अस्वर्ण अर्थात् जो सोना नहीं है उन सभी पदार्थों को भी स्वर्ण रूप ही मानता है, देखता है। **(यो.सा.प्रा. १/१५)** सरागी अस्त्र, वस्त्र, शस्त्र वाले देवों की सग्रन्थ, आरम्भ-परिग्रह में लीन गाँजा-चिलम आदि पीना भी धर्म मानने वाले, श्वेताम्बर, रक्ताम्बर, पीताम्बर धारण करने वाले, जटा बढ़ाने वाले आदि जिनलिङ्ग से बाह्य गुरुओं की वंदना करना, भोजन देना, उपदेश सुनना, उनके प्रति अंतरंग में भक्ति/बहुमान होना, उनके पास जाना-आना आदि तथा जिनेन्द्र भगवान की वाणी जो अनेकान्तमयी है, जिसमें स्याद्वाद से वस्तु-तत्त्व की सिद्धि की गयी है, जिसमें विषय-कषायों से विरक्ति का उपदेश दिया गया है ऐसे जिनागम को छोड़कर शेष पंचेन्द्रिय के विषयभोग की पुष्टि करने वाले, हिंसा आदि पापों में भी धर्म मानने वाले पूर्वापर विरोध को प्राप्त अर्थात् जिसमें दो विरोधी बातें लिखी गयी हों। जैसे - पहले लिखा है ब्रह्मचर्य के समान उत्तम धर्म नहीं अर्थात् ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम धर्म है और कुछ ही प्रकरण के बाद में लिखा है- ''अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'' जिसके पुत्र नहीं होता है उसकी गति नहीं होती, वह सद्गति को प्राप्त नहीं होता है। इन दोनों बातों में पूर्वापर विरोध आता है क्योंकि अब्रह्म का सेवन किये बिना पुत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती और ब्रह्मचारी अब्रह्म का सेवन नहीं कर सकता। सभी जीवों के द्वारा स्वार्थसिद्धि के लिए अथवा पक्षव्यामोह से रचे गये आगमाभास को पूजने वाले के मिथ्यात्व का उदय रहता है। अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृति का उदय रहते हुए ही इस प्रकार के भाव होते हैं। मिथ्यात्व के उदय बिना ऐसे कार्य करने के भाव नहीं हो सकते हैं; ऐसी मिथ्या श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती है।

इस मिथ्यात्व के उदय में जीव को सत्य तत्त्व भी विपरीत ही लगता है। जिस प्रकार पित्त ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को मीठा दूध भी कड़वा लगता है। जिसको साँप ने काटा है उसे नीम भी मीठा लगता है, पीलिया रोग वाले व्यक्ति को सफेद वस्तु भी पीली ही नजर आती है। उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु रूप रसायन भी कड़वा लगता है, उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती है। इस मिथ्यात्व के उदय से ही जीव जानते हुए भी और चाहते हुए भी सरागी देवों की पूजा करना, श्रद्धा करना इनको मानना नहीं छोड़ पाता है अथवा उन्हें कोई सच्चे देव का स्वरूप बताने वाले मिलते ही नहीं अथवा मिल जावे तो भी इसे उनका उपदेश अर्थात् जिनेन्द्र देव का स्वरूप सुनने का समय नहीं मिलता। सुनने के समय कोई न कोई विघ्न-बाधा उपस्थित हो ही जाती। कभी पुण्ययोग से सुन भी ले तो भी अपने कुल जाति आदि की परम्परा से चले आये धर्म को छोड़ने का साहस नहीं कर पाता है, क्योंकि उसके दिल में सरागी देवों के प्रति विश्वास जमा रहता है।

एक बार दो चींटियाँ आमने-सामने मिल गईं। एक चींटी हट्टी-कट्टी थी और दूसरी दुबली-पतली थी। हट्टी-कट्टी चींटी ने दुबली चींटी से पूछा- बहिन ! तुम इतनी दुबली क्यों हो? दुबली चींटी ने कहा- बहिन मैं नमक के गोदाम में रहती हूँ। वहाँ मुझे खारा ही खारा खाने को मिलता है। इसलिए मैं दुबली हूँ और तुम इतनी मस्त और स्वस्थ कैसे हो? पुष्ट चींटी ने कहा- बहिन, मैं एक बड़े मिष्टान्न के गोदाम में रहती हूँ। वहाँ हमेशा मीठे-मीठे नये-नये पकवान खाने को मिलते हैं इसलिए मैं स्वस्थ और मस्त हूँ। बहिन तुम इतनी चिन्ता क्यों करती हो? चलो, मेरे साथ तुम भी कुछ ही दिनों में हृष्ट-पुष्ट हो जाओगी। यह बात सुन दुबली चींटी ने कहा- मैं आज तो नहीं चलूंगी। कुछ दिनों के बाद मैं अवश्य ही तुम्हारे यहाँ आऊँगी। कुछ दिनों के बाद दुबली चींटी ने सोचा - कहीं उसके वहाँ मुझे अच्छा भोजन नहीं मिल पाया तो मैं भूखी मर जाऊँगी। इसलिए मैं नमक की एक डली दबा लेती हूँ ताकि भूख लगने पर उसे ही खाकर भूख मिटा लूँगी, आदि-आदि सोचकर अपने मुँह में नमक की एक डली रखकर दूसरी चींटी के साथ रवाना हो गयी। दोनों चींटियाँ जब मिष्टान्न के गोदाम में पहुँची तो दुबली-पतली चींटी वहाँ की मिठाइयाँ देखकर बहुत प्रसन्न हुई। उसे कुछ विश्वास होने लगा कि वास्तव में इन मिष्टान्नों के खाने से ही यह चींटी मस्त है, हृष्ट-पुष्ट है। दूसरी चींटी के कहने से उसने उस गोदाम में लड्डू, गुलाबजामुन, कलाकंद, घेवर आदि अनेक प्रकार के मिष्टान्न खाये लेकिन उसको एक भी मिष्टान्न अच्छा नहीं लगा। तब उसने परेशान होते हुए धीरे से पुष्ट चींटी से कहा- बहिन ! मुझे तो पूरे गोदाम की कोई भी वस्तु मेरे नमक के गोदाम की अपेक्षा विशेष नहीं लगी। इन सबका स्वाद भी वैसा ही खारा है जैसा नमक के गोदाम में रखी वस्तुओं का है। यह सुनकर पुष्ट चींटी ने कहा- बहिन ! ऐसा नहीं हो सकता है। इसमें कोई-न-कोई रहस्य अवश्य होना चाहिए। एक बार तुम मुझे अपना मुँह खोलकर बताओ, तुम्हारे मुँह में क्या है? जब दुबली चींटी ने अपना मुँह खोला तो पुष्ट चींटी ने उसके मुँह में रखी नमक की डली को देखकर कहा- बस, यही कारण है कि तुम्हें सब मिष्टान्न खारे लग रहे हैं। तुम पहले यह नमक की डली निकालकर फेंको। उसके बाद मिष्टान्न खाओ, मीठे लगेंगे। चींटी ने बात मान ली। नमक की डली निकालकर फेंक दी और मिष्टान्न खाकर हृष्ट-पुष्ट हो गई। लेकिन जो मिथ्यात्व के तीव्रोदय से नमक की डली के समान अन्य देवों की श्रद्धा नहीं छोड़ता वह जिनेन्द्र देव की पूजा आराधना करते हुए भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर पाता है और जो नमक की डली के समान अन्य देवों की श्रद्धा छोड़कर जिनेन्द्र देव की श्रद्धा करता है उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

सम्यग्मिथ्यात्व : इस प्रकृति के उदय से जीव के भाव मिले हुए दही और गुड़ के स्वाद के समान वीतरागी और सरागी देवों की मिश्रित श्रद्धा वाले होते हैं। आचार्य वीरसेनस्वामी षट्खण्डागम महाग्रंथ की टीका करते हुए धवला ग्रंथ में कहते हैं कि सम्यग्मिथ्यात्व वाला जीव कुदेवों के अत्याग पूर्वक जिनेन्द्र देव की श्रद्धा करता है अर्थात् यह मिथ्यादेवों के यहाँ जाने का त्याग किये बिना (त्याग नहीं करता है) जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा करता है इसमें कुछ अंश सम्यक्त्व का और कुछ अंश मिथ्यात्व का रहता है। इसलिए यह न मिथ्यादृष्टि में ही आता है और न सम्यग्दृष्टि में ही आता है। इसमें पूर्व में

सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका है इसलिए सम्यक्त्व का अंश रहता है और सम्यक्त्व से च्युत हो चुका है लेकिन मिथ्यात्व में भी नहीं गया है इसलिए पूरा मिथ्यात्व नहीं आया है, मात्र मिथ्यात्व का अंश रहता है।

सम्यक् प्रकृति : इस प्रकृति के उदय से यद्यपि सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता है लेकिन इसके उदय से सम्यक्त्व में मल दोष उत्पन्न होते हैं। जैसे- श्री शांतिनाथ भगवान की पूजा करने से शांति मिलती है, घर में अशांति नष्ट होती है, शांतिनाथ भगवान शांति करते हैं, पार्श्वनाथ भगवान की पूजा करने, माला जपने से उपसर्ग, विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं। मैं जब तक अपने अर्थात् हमारे दादा-परदादा, कुटुम्ब वालों ने जो मंदिर बनाया है, उस मंदिर में पूजा नहीं कर लूँ तब तक मुझे संतोष नहीं होता। मैं यदि तिजारा, या पद्मप्रभजी या कुण्डलपुर के बड़े बाबा आदि किसी विशेष बिम्ब, स्थान/मंदिर के दर्शन कर लूँगा तो निश्चित ही मेरा स्वास्थ्य ठीक हो जायेगा। मेरा मन तो पार्श्वनाथ/महावीर भगवान की पूजा में ही विशेष लगता है; आदि-आदि विचारों से चंचल रहता है। इसी प्रकार प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, न्याय, अध्यात्म आदि का स्वाध्याय करते समय और गुरु की श्रद्धा आदि के विषय में भी जानना चाहिए। इसमें सरागी देवों के प्रति या कुशास्त्रों के प्रति, कुगुरुओं के प्रति आकर्षण जागृत नहीं होता। लेकिन सभी तीर्थंकरों/भगवन्तों की आराधना से विघ्न दूर होते हैं, शांति मिलती है ऐसा जानते हुए भी तीर्थंकर विशेष, शास्त्रविशेष और गुरुविशेष के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है, भक्ति जागृत होती है। इस प्रकृति के उदय से कभी-कभी सम्यग्दर्शन की विशेषता को नष्ट करके दूषित बनाने वाले शंका, कांक्षा आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे- किसी सरागी गुरु पर या मिथ्यादृष्टि लोगों के उपवास आदि तपस्या को देखकर, सुनकर, विस्मित होकर प्रशंसा कर देता है। कभी किसी अन्य देवों के जुलूस आदि के माध्यम से प्रभावना को देखकर मन में उसके प्रति बहुमान उत्पन्न हो जाता है। कभी सोमनाथ, तिरुपति बालाजी, मीनाक्षी आदि के मंदिर की अथवा जिन देवी-देवताओं के बारे में बहुत दिनों से सुन रखा था; किसी कार्य से अथवा यात्रा आदि के समय उन स्थानों के आस-पास जाने का मौका मिल गया तो सबके साथ उनके मंदिरों की कलाकृति आदि देखने चला जाता है। वहाँ हाथ नहीं जोड़ता, शीश नहीं झुकाता लेकिन अनायतन में चला जाता है। कभी भविष्य की खोटी कल्पनाओं से ग्रसित होकर या मित्रों के दबाव से, परिजनों के संकोच में पड़कर भी ऐसा कर लेता है। कभी जैनधर्म की प्रभावना के लिए, कभी आजीविका के साधन की रक्षा के लिए भी ऐसा करना पड़ता है अथवा कर लेता है तो भी दोष लगते ही वह तत्काल सावधान हो जाता है। पश्चाताप, निन्दा, गर्हा आदि करके दोषों को दूर करने का पुरुषार्थ करता है।

प्रश्न : कई लोग कहते हैं कि महावीर भगवान अथवा आदिनाथ भगवान आदि विशेष भगवान की आराधना से सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, इसके विषय में क्या समझना चाहिए?

उत्तर : उपर्युक्त घटनाओं का समाधान देते हुए परमपूज्य आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागरजी महाराज ने समयसार ग्रंथ गाथा सं. ४० का विवेचन करते हुए कहा है –

सम्यक् प्रकृति के उदय रहने पर कोई महावीर भगवान को, कोई आदिनाथ भगवान को, कोई पार्श्वनाथ भगवान को, कोई चन्द्रप्रभु भगवान को विशेष महत्त्व देता है। कई व्यक्ति इसे मिथ्यात्व कह देते हैं लेकिन उन्हें यह धारणा छोड़ देना चाहिए, ऐसा मानना उचित नहीं है। सम्यक् प्रकृति के उदय में चल, मलिन, अगाढ़ दोष लगते हैं फिर भी सम्यग्दर्शन बना रहता है। यह मिथ्यात्व की देन नहीं किन्तु मिथ्यात्व के वंश में पलने वाली सम्यक् प्रकृति की देन है। जैसे - धतूरे के बीज में जहर है, यह निश्चित है। यदि धतूरे के बीज को साक्षात् खायेंगे तो विष का कार्य देखने में आयेगा। लेकिन यदि उसे पानी में फुलाकर रसायन पद्धति से उसकी शक्ति को कम कर लिया जाता है तो वही धतूरा ज्वरनाशक हो जाता है। औषधि के रूप में रोगनाशक हो जाता है इसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी धतूरे के बीज का सेवन करने से ज्ञान का विपरीत (विष का) कार्य देखा जाता है लेकिन सम्यग्दर्शन रूप विशुद्धि के यंत्र से उसके विष की शक्ति क्षीण कर दी जाती है तब वह सम्यक् प्रकृति अपना विष (मिथ्यात्व) रूप कार्य नहीं करती। किन्तु सम्यग्दर्शन में चल, मलिन, अगाढ़ दोष को पैदा करती है जिससे क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि की मान्यता इस प्रकार होती है कि श्री शान्तिनाथ भगवान शान्ति के कर्त्ता हैं, श्री पार्श्वनाथ भगवान संकट के हर्ता हैं। जबकि भगवान महावीर स्वामी, श्री शान्तिनाथ या श्री पार्श्वनाथ भगवान के अन्तरंग अनन्त-चतुष्टय में कोई अन्तर नहीं होता। फिर भी उनको भिन्न-भिन्न विशेषता युक्त स्वीकार करता है, उनके प्रति पृथक्-पृथक् श्रद्धा रखता है। गेहूँ तो गेहूँ है। जिस भाव का लेंगे, वैसी ही किस्म का मिलेगा। चार रुपये किलो वाला गेहूँ का आटा खरीदोगे तो उसमें आटा कम चापड़ ज्यादा होगा। इसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चापड़ सहित आटे के समान है। इसमें देव, शास्त्र, गुरु के प्रति श्रद्धान होते हुए भी सम्यक् प्रकृति के उदय में किसी का विधान में, किसी का स्वाध्याय में और किसी का भक्ति में और किसी का ध्यान में मन लगता है। **(समयो. १/१९८-९९)**

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि बीमार हो जावे, यदि उसके ऊपर कर्जा चढ़ जावे तो वह भगवान से ठीक होने की, कर्जा उतारने की प्रार्थना नहीं कर सकता है।

उत्तर : हाँ, सम्यग्दृष्टि भी बीमार होने पर ठीक होने की, कर्जा हो जाने पर कर्जमुक्त होने की अथवा कोई भी आपत्ति आदि आ जावे तो उसे दूर करने की भगवान से प्रार्थना अवश्य करता है, क्योंकि जब भी कोई आपत्ति-विपत्ति आती है तो सम्यग्दृष्टि हो अथवा कोई पापी से पापी जीव हो तो भी भगवान से ही प्रार्थना करेगा। वह जानता है कि -

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम।
तस्मात् कारुण्यभावेन, रक्ष-रक्ष जिनेश्वर ।।

संसार में कोई शरण नहीं है। हे जिनेन्द्र देव ! आप ही शरण हैं इसलिए हे भगवान् ! करुणा करके मेरी रक्षा कीजिए। रक्षा कीजिए। वास्तव में आपत्ति के समय भी व्यक्ति भगवान को याद नहीं करेगा तो कब करेगा? भगवान का स्मरण किये बिना पापों का क्षय एवं पुण्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है? पापों का नाश हुए बिना आपत्तियाँ समाप्त कैसे हो सकती हैं इसलिए यह नहीं सोचना चाहिए कि

सम्यग्दृष्टि आपत्ति के समय भगवान का स्मरण नहीं कर सकता अथवा यों समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि तो सुख में हो या दु:ख में हमेशा भगवान का ही स्मरण करते हैं जबकि मिथ्यादृष्टि आपत्ति-विपत्ति के समय आपत्ति को मिटाने के लिए ही भगवान का स्मरण करते हैं। दूसरी बात, भगवान का स्मरण करना कभी आकांक्षा दोष नहीं हो सकता। भगवान की भक्ति, स्मरण, पूजा, पाठ, माला, अनुष्ठान आदि धार्मिक कार्यों के फल में लौकिक सुख माँगना, स्वास्थ्य की कामना करना, कांक्षा दोष है क्योंकि भगवान की भक्ति का फल तो अनन्त संसार को नष्ट करके परम्परा से मोक्ष का कारण है। इतने उत्तम फल को छोड़कर इसने फसल में से निकलने वाले भूसे के समान लौकिक सुख माँग लिया। जिस प्रकार किसान फसल की कामना से ही बीज बोता है फिर भी भूसा तो उसे सहज में बिना मेहनत के मिल ही जाता है। जो किसान भूसा पाने के लिए बीज बोता है उसे फसल कभी नहीं मिलती है, भूसा भी मिलता है तो अल्पमात्रा में। लौकिक फल माँगने से थोड़ा कुछ मिलेगा/मिलता है, मिल सकता है लेकिन इतना फल तो हीरे-मोतियों के गोदाम में जाकर हीरे-मोतियों को छोड़ दिया मात्र हीरे-मोतियों के आभूषण रखने के जो डिब्बे थे उनको उठा लाने के बराबर मात्र है। सार यह है कि सम्यग्दृष्टि भी आपत्ति के समय में भगवान की भक्ति करता है, आपत्ति दूर करने की प्रार्थना भी करता है लेकिन धार्मिक कर्मों के फल में आपत्ति दूर होने की मांग नहीं करता है। चारित्र मोहनीय के उदय में हे भगवान ! मेरी आपत्ति दूर हो जावे। यदि यह आपत्ति दूर नहीं हुई तो मैं आपके दर्शन नहीं कर पाऊँगा। मुझे आपकी पूजा-अभिषेक करने का समय नहीं मिल पायेगा। मैं आजीविका के साधन जुटाने में ही लगकर पापों में ही प्रवृत्ति करता रहूंगा। आदि विचारों से वह भगवान से बार-बार आपत्ति दूर करने की प्रार्थना करता है। आपत्ति आने का कारणभूत जो पापकर्म है उसे नष्ट करने के लिए भगवान की विशेष भक्ति भी करता है लेकिन जिनेन्द्र भगवान को छोड़कर किसी अन्य सरागी देवों से न प्रार्थना करता है, न उनकी भक्ति करता है और न ही नमस्कार करता है। हाँ वैद्य, चिकित्सक आदि से इलाज करवाता है, कार्य की सिद्धि के योग्य बड़े लोगों से मिलकर आपत्ति दूर करने की विनती, अर्जी अवश्य करता है। इसमें उसके सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं लगता है।

प्रश्न : क्या सरागी देवों की पूजा करने वाला कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता है?

उत्तर : हाँ, सरागी देव चाहे वे जिनालय में (पद्मावती, धरणेन्द्र, क्षेत्रपाल, यक्ष, यक्षिणी आदि के रूप) स्थापित किये गये हों तो भी उनकी पूजा, आराधना, श्रद्धा करते हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि वे सच्चे देव नहीं हैं। अस्त्र, वस्त्र, शस्त्र आदि रखने वाले सच्चे देव की बात तो बहुत दूर वे सच्चे गुरु तक नहीं हो सकते हैं। इसलिए उनके सम्पर्क में रहने वाला, उनके यहाँ आने-जाने वाला सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता है। लेकिन जब वही जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप को अथवा धर्म की वास्तविकता को मेरा कल्याण जिनेन्द्र देव की श्रद्धा से ही होगा, उनकी शरण लेकर ही मैं संसार सागर से पार हो सकता हूँ, इस प्रकार की अटल श्रद्धा करेगा और इस श्रद्धा के बल से सरागी देवों को छोड़कर राजा श्रेणिक आदि के समान वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी लक्षण वाले सच्चे देव तथा सच्चे

शास्त्र और सच्चे गुरु की शरण में आ जायेगा तब इसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि प्रथमोपशम अर्थात् सबसे पहली बार सम्यग्दर्शन तो मिथ्यादृष्टि जीव को ही होता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय : जो आत्मा के सम्यक्त्व तथा चारित्र आदि गुणों का घात करती है उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। जो नरकादि के दुख को प्राप्त कराकर आत्मा को सन्तप्त करती हैं वे कषाय हैं।

मिथ्यात्व अनन्त है। जो इस मिथ्यात्व की चिर अनुसंगिनी है वह अनन्तानुबन्धी कषाय है। अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं। उस अनन्त को बाँधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी कषाय है। **(रा.वा.)** जिन कषायों के द्वारा जीव में उत्पन्न हुए संस्कारों का अनन्त भवों में अवस्थान माना गया है वे अनन्तानुबन्धी कषाये हैं।

जो क्रोध, मान, माया, लोभ सम्यग्दर्शन व सम्यक् चारित्र का विनाश करते हैं तथा जो अनन्त भव के अनुबन्धन स्वभाव वाले होते हैं वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। **(ध. १३/३६९)**

अनन्तानुबन्धी कषाय के चार भेद हैं- (१) अनन्तानुबन्धी क्रोध (२) अनन्तानुबन्धी मान (३) अनन्तानुबन्धी माया (४) अनन्तानुबन्धी लोभ।

अनन्तानुबन्धी क्रोध : यह क्रोध पत्थर की रेखा के समान कहा गया है। आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रंथ में कहते हैं कि यह कषाय पाषाण पर टाँकी से उकेरी हुई रेखा के समान स्थायी (बहुत काल तक रहने वाली) हो जाती है। पत्थर पर उकेरी गयी लकीर हजारों-लाखों वर्षों तक अथवा जब तक वह पत्थर रहेगा तब तक उस पर बनी रहेगी। उसी प्रकार यह क्रोध भी भवों भवों तक समाप्त नहीं होता है। फिर भी पुरुषार्थ पूर्वक उसको नष्ट किया जा सकता है। अन्यथा कोई कभी मोक्ष ही नहीं जायेगा। इस कषाय के कारण जीव भवों-भवों तक एक-दूसरे से वैर लेता रहता है एक-दूसरे को मारता है, दु:ख देता है, एक-दूसरे के ऊपर झपटता है, षड्यंत्र बनाता है। यहाँ तक कि एक-दूसरे के प्राण लेकर दुर्गति को प्राप्त होता रहता है। ऐसे ही व्यक्तियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार जाने जा सकते हैं-

गजकुमार पर सिगड़ी जलाई : ९० लाख वर्ष पूर्व एक नगर में एक सेठ रहता था। सेठ की प्रथम पत्नी एक पुत्र को जन्म देकर मरण को प्राप्त हो गई थी। उस बच्चे का पालन पोषण करने के लिए ही सेठ ने दूसरा विवाह किया था। दूसरी पत्नी यद्यपि सौतेले पुत्र को कभी कोई दु:ख नहीं देती थी, बड़े प्रेम से अपने पुत्र के समान उसका पालन-पोषण करती थी। घर में किसी बात की कोई कमी नहीं थी इसलिए ऐसा अवसर ही नहीं आता था कि सौतेली माँ बच्चे को कुछ तकलीफ दे या उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में नाक-मुँह सिकोड़े अथवा सेठ स्वयं ही पुत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति कर देता था। एक बार उस बेटे की पीठ में एक बड़ी गाँठ हो गयी। अनेक प्रकार के इलाज करवाने के बाद भी वह गॉठ न बैठ रही थी, अर्थात् न ठीक हो रही थी और न ही फूट रही थी। अन्दर-ही-

अन्दर मवाद के कारण वह दु:ख दे रही थी। उसकी तकलीफ को वह बच्चा सहन नहीं कर पा रहा था। इसलिए वह बार-बार माँ की गोदी में बैठने की हठ कर रहा था और माँ से लिपट कर रो रहा था। उसके रोने से माँ बहुत परेशान हो गई तो उसने क्रोध में अंधी होकर रोटी बनाते-बनाते तवे से रोटी उतार बच्चे की गाँठ पर रख दी। बच्चा रोटी की गरमाहट से छटपटाकर तत्काल मर गया। उसने मरते समय निदान बाँधा ''मैं भी जब सक्षम बनूंगा। इसका बदला अवश्य लूंगा।'' वे दोनों अर्थात् माँ और पुत्र नाना योनियों में भ्रमण करते हुए जब लगभग ९० लाख वर्ष व्यतीत हो गये तब वह माँ का जीव गजकुमार बना और पुत्र का जीव आकर सोम शर्मा नामक सेठ बना। उसने अपनी पुत्री का विवाह गजकुमार के साथ निश्चित किया और जब गजकुमार ने विवाह के पहले ही १००८ देवाधिदेव श्री नेमिनाथ स्वामी के समवसरण में दिव्य देशना सुनकर वैराग्य को प्राप्त होकर दीक्षा ले ली। तब उस सेठ ने ''इस (गजकुमार) ने मेरी बेटी के साथ विवाह करना स्वीकार किया था तो विवाह के पहले ही दीक्षा क्यों ले ली? यदि दीक्षा ही लेनी थी तो विवाह की स्वीकृति क्यों दी?'' आदि-आदि बातों को सोचते हुए क्रोधित होकर मुनि गजकुमार के सिर पर चारों ओर मिट्टी की सिगड़ीनुमा सीमा बनाकर उसमें ईंधन भरकर आग लगा दी। मुनि गजकुमार ने धैर्यपूर्वक उपसर्ग को सहन कर परम निर्वाण को प्राप्त किया। लेकिन वह सेठ मुनि के ऊपर उपसर्ग करने के महापाप से अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध के कारण दुर्गति को प्राप्त हुआ। यही बदला लेने का भाव अनन्तानुबंधी क्रोध कहलाता है। हम बदला ले पावें या न ले पावें, भाव करके पाप का बंध तो कर ही लेते हैं अत: हमें कभी बदला लेने के भाव नहीं करने चाहिए, अपितु दु:ख देने वाले को भी सद्बुद्धि मिले, इस प्रकार के अच्छे भाव करके भव सुधारना चाहिए।

यह कथा सत्य है या नहीं? यह मुझे भी पता नहीं है। मैंने यह किसी के मुख से सुनी थी इसलिए लिखी है लेकिन इस प्रकार के परिणाम अनन्तानुबन्धी क्रोधी के ही होते हैं, यह सत्य है इसलिए हमें न कभी निदान करना चाहिए और न ही मुनिराज के ऊपर उपसर्ग करना चाहिए।

(२) कुछ वर्षों पहले एक गाँव में भाई-भाई की जमकर लड़ाई हो गयी। एक भाई ने क्रोधित होकर अपने पुत्र के सिर पर हाथ रखकर भाई के समक्ष यह संकल्प किया कि मैं तेरे घर की बात तो बहुत दूर जिस गली में तू रहता है उस गली में भी कभी पैर नहीं रखूंगा। वह वर्षों तक उसकी गली में नहीं गया। उसने भाई की सहायता तो कभी की ही नहीं अपितु उसने भाई के साथ रहने वाली अपनी माँ की भी कभी सेवा नहीं की, माँ से नहीं बोला। इसका कारण कोई माँ की गलती या माँ से लड़ाई-झगड़ा नहीं था। इसका कारण मात्र ''माँ भाई के साथ रहती है इसलिए मैं उससे नहीं बोल सकता।'' उसके पुण्य का उदय था इसलिए उसको साधु का समागम मिला। उसने कषाय छोड़ दी। भाई से बोलने भी लगा, सब कुछ अच्छा हो गया। लेकिन यदि उसे साधु का समागम नहीं मिलता तो शायद अन्त समय तक भी वह भाई से इसी प्रकार बैर भाव रखता और अगले कई वर्षों तक वैर साथ चलता रहता, यही अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

(३) एक व्यक्ति अपने घर से शुद्ध वस्त्र पहनकर भगवान का अभिषेक करने जाता था। मंदिर के रास्ते में गंदगी थी। एक दिन किसी व्यक्ति ने उसको कह दिया कि आप मंदिर में आकर ही कपड़े बदल लिया करें। घर से कपड़े पहनकर नहीं आवें, क्योंकि रास्ते में गंदगी होने से आपके शारीरिक अशुद्धि के साथ कपड़े भी अशुद्ध हो जाते हैं। उसकी बात सुनकर उसे इतना गुस्सा आया कि उसने मंदिर की सीढी चढ़ना बंद कर दिया। उसने मन में निश्चय कर लिया कि मैं अब कभी भी अपने गाँव के मंदिर में नहीं जाऊँगा। यह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

(४) एक महिला जिनेन्द्र भगवान की परम भक्त थी। वह पुण्यशाली भी थी इसलिए वह जब भी भगवान से जो भी प्रार्थना करती थी, उसकी इच्छा पूरी हो जाती थी। उसके कार्य की सिद्धि सहज रूप से हो जाती थी। इस प्रकार होते-होते वर्षों निकल गये थे। एक बार उसकी बहन बहुत बीमार हो गयी। उसने भगवान से बहुत प्रार्थनाएँ कीं लेकिन बहिन के पाप का उदय होने से उसकी प्रार्थनाएँ सफल नहीं हुईं अर्थात् उसकी बहिन ठीक नहीं हुई। जब उसकी प्रार्थनाएँ विफल हुईं तो उसको इतना क्रोध आया कि उसने भगवान को ही भरपूर गालियाँ दीं।

ऐसे लोगों को यद्यपि जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा रहती है अथवा उनमें श्रद्धा दिखती है लेकिन अन्दर अव्यक्त रूप से अनन्तानुबन्धी कषाय बैठी रहती है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से व्यक्त हो जाती है। अथवा ऐसे कारण मिलने के पहले सम्भव है उनमें सम्यक्त्व हो लेकिन ऐसे कारण मिलने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आ गया हो तो वे मिथ्यादृष्टि बन जावें। फिर भी ऐसे कार्य करते समय अनन्तानुबन्धी का उदय रहता है। यदि वह तत्काल उसकी निन्दा-गर्हा कर ले, प्रायश्चित्त करके भगवान से क्षमा याचना कर ले तो अनन्तानुबन्धी समाप्त होकर सम्यग्दृष्टि बन सकता है।

ये उदाहरण जैन कुल में उत्पन्न होने वाले धर्मात्मा जीवों के हैं। जो जैनकुल में उत्पन्न होकर भी सरागी देवी-देवताओं की श्रद्धा करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनके चरणों की वन्दना, आराधना करते हैं भले ही वे कुलदेवता के रूप में मानकर अथवा बड़े बुजुर्गों के दबाव से या भय, आशा, स्नेह से करें अथवा वर्षों-वर्षों में एकाध बार करें, उनके वहाँ जाने का त्याग नहीं होने से उनकी कषायें चाहे मंद अथवा शांत दिखाई देती हों तो भी उनके अनन्तानुबन्धी कषायें रह सकती हैं। जो जैन कुल में उत्पन्न नहीं हुए हैं अथवा जो सरागी देवों की ही आराधना करते हैं, जिनके घर में वीतरागी देवों के मानने, नमस्कार करने को अधर्म कहा गया है, पाप माना गया है, जो अपनी कुल परम्परा से आये हुए धर्म को ही सच्चा मानते हैं अर्थात् जो लकीर के फकीर हैं उनके तो सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। उनके तो अनन्तानुबन्धी कषायें ही होती हैं। फिर भी वे यदि इन सबको छोड़कर सच्चे देवादि पर श्रद्धा करें तो सम्यक्त्व हो सकता है।

(५) सुभौम चक्रवर्ती को एक दिन उसके रसोइये ने अनेक प्रकार के मसाले मिलाकर इमली खाने को दी। वह इमली तेज (खट्टी) थी इसलिए उसको खाते ही चक्रवर्ती की जीभ कड़क हो गयी अर्थात् अकड़ गयी। जिससे उसने अपनी दोनों भौंहें चढ़ाकर क्रोधित होकर पूछा – हे मूर्ख रसोइये! तूने

आज यह कौन सा रस बनाया है? रसोइये ने कहा, महाराज ! मैंने यह इमली नाम के प्रसिद्ध फल का रस बनाया है। चक्रवर्ती ने यह फल न कभी देखा था और न ही इसका नाम सुना था इसलिए रसोइये के मुख से इस अनजान फल का नाम सुनकर उसका क्रोध और अधिक बढ़ गया। उसने क्रोधावेश में रसोइये का पूरा धन छिनवा लिया और उसे गधे पर बैठाकर देशनिकाला देने की आज्ञा दे दी। जिह्वा की लोलुपता के कारण चक्रवर्ती ने इतना क्रोध किया इसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहा जा सकता है।

(६) कुछ दिन पहले दो भाइयों का परिवार साथ रहता था। एक दिन देवरानी रसोई में काम कर रही थी। अचानक उसके हाथ से गरम-गरम पानी की कुछ बूंदें उछलकर जेठानी के बच्चे पर गिर गयीं। उसने तत्काल उस बच्चे को उठाया, यथायोग्य औषधि लगाई तो भी उसके कुछ छाले तो हो ही गये। इस घटना का जेठानी ने उल्टा अर्थ लिया अर्थात् जेठानी ने सोचा इसने जबरन मेरे बच्चे पर गर्म पानी उँडेला हैं इसलिए मैं भी इसका बदला जरूर लूँगी। फिर भी लगभग १०-१२ वर्ष संयुक्त परिवार में ही निकल गये। देवरानी ने कभी यह महसूस नहीं किया कि जेठानी के मन में उस बात का कुछ रोष भी हो सकता है। दोनों अलग-अलग हो गईं। एक दिन अचानक जेठानी ने उबलते हुए दूध की तपेली देवरानी के बच्चे पर उडेल दी। बच्चा तत्काल तड़प कर मर गया। तब उसने कहा - आज मेरे मन की मुराद पूरी हुई है। तूने मेरे बच्चे पर पानी डाला था, उस दिन से मैं सोच रही थी कि मैं कब कैसे इसका बदला लूँ। यह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

अनन्तानुबन्धी कषाय का अर्थ यह भी नहीं है कि कोई लड़ाई-झगड़ा करके बोलना बंद कर दे। आपस में आना-जाना, खाना-पीना बंद कर दे, बल्कि कभी-कभी कोई समझ ही नहीं पाता है कि इनके आपस में कुछ मन-मुटाव भी हो सकता है लेकिन यह क्रोध अन्दर-ही-अन्दर घुटता रहता है और समय आने पर बदला लेने का भाव उत्पन्न करता है। कई बार करोड़ो-अरबों वर्षों तक अथवा सागरोंपर्यन्त भी यह अनन्तानुबन्धी क्रोध अन्दर बैठा रहता है और उसमें एकपक्षीय वैर भी हो तो भी भवों-भवों तक चलता है, चल सकता है। जैसे- कमठ का पार्श्वनाथ भगवान के प्रति वैर का परिणाम १० भव तक चलता रहा था। जबकि पार्श्वनाथ भगवान ने तो एक बार भी कोई गलती नहीं की थी और न ही कमठ का कुछ बुरा किया था, न बुरा सोचा था अपितु पहले भव में भी मरुभूति के रूप में पार्श्वनाथ भगवान का जीव कमठ से मोह के वशीभूत होकर मिलने ही गया था तो भी कमठ ने उसको शिला पटककर मार ही दिया था। कभी-कभी तो दोनों का भव-भव तक आमना-सामना भी नहीं हो पाता फिर भी कषाय/वैर की वासना अन्दर बनी रहती है। जिस प्रकार कैंसर की बीमारी बाहर दिखती नहीं है लेकिन अन्दर-ही-अन्दर शरीर को सड़ाती रहती है उसी प्रकार का यह क्रोध होता है। उसी का एक उदाहरण है–

स्यालनी ने पैरों को खाया

सुकुमाल का जीव जब वायुभूति की पर्याय में था तब भाभी के द्वारा मुनिराज (अग्निभूति जो वायुभूति का भाई था) के पास जाने के लिए प्रेरित किया गया अर्थात् भाभी ने वायुभूति (अपने देवर)

को मुनिराज के पास जाने की हठ की तो वायुभूति ने क्रोधित होकर भाभी को लात मार दी। भाभी असहाय थी, कमजोर थी इसलिए तत्काल तो उसकी लात का कोई प्रतिकार नहीं कर पाई। लेकिन उसने मन-ही-मन यह निदान/संकल्प कर लिया कि मैं जब भी सक्षम/सामर्थ्यवान बनूँगी, तेरे इन पैरों को अवश्य खाऊँगी। वह मरकर नरक-तिर्यञ्च आदि अनेक भवों में भटकती रही और वायुभूति मुनिनिन्दा के पाप से उसी भव में कोढ़ के रोग से ग्रसित होकर मरा। वह मरकर गधी बना। वहाँ से मरकर सूकरी बना, वहाँ से मरकर कुत्ती बना। इस प्रकार अनेक जन्म-मरण करते हुए एक बार एक चाण्डाल की पुत्री बना। चाण्डालनी की पर्याय में भाग्य से उसने (अपने भाई) मुनिराज से संबोधन पाकर तीन मकार अर्थात् मद्य-मांस-मधु का त्याग किया। उसके फल में वह मरण कर एक ब्राह्मण के यहाँ नागश्री नामकी कन्या हुआ। पुन: मुनि से संबोधन पाकर आर्यिका के व्रत ग्रहण कर समाधिपूर्वक मरण किया। जिसके फल से अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग में जाकर इन्द्र बना। वहाँ से आकर अवन्ती देश की उज्जयनी नगरी में सुकुमाल नामका सेठपुत्र हुआ। और वह भाभी का जीव सागरोपर्यन्त नरक-तिर्यञ्च की दु:खमय पर्यायों में भ्रमण करते हुए एक जंगल में स्यालनी के गर्भ से उत्पन्न हुआ। जब सेठपुत्र सुकुमाल मुनि बन करके तपस्या कर रहे थे तब उस स्यालनी ने उनको देखा। जैसे ही स्यालनी की दृष्टि उन पर पड़ी तो उसके अन्दर का वैर परिणाम/क्रोध उबल पड़ा। उसने उनसे बदला लेने के लिए अर्थात् लात मारने का फल चखाने के लिए अपने बच्चों सहित उनके पैरों को खाना प्रारम्भ कर दिया। उसने तीन दिन तक सुकुमाल मुनिराज के पैरों को नोच-नोचकर खाया। मुनिराज ने साम्यभाव को धारण किया। फलत: समता से मरणकर सर्वार्थसिद्धि में एक भवावतारी देव हुए वह स्यालनी २२ सागर प्रमाण लम्बे काल के बाद भी अंदर बैठे हुए अनन्तानुबंधी क्रोध के कारण अपने वैरी को अर्थात् जिससे बदला लेना था, पहचान गयी। यह वैर दु:खदायी है। अत: हमें पुरुषार्थ पूर्वक वैर भाव को छोड़कर सबके प्रति प्रेमभाव बनाना चाहिए और अनन्तानुबंधी क्रोध को छोड़कर अपना कल्याण करना चाहिए। **(सुकुमाल चा.)**

रावण ने उपसर्ग किया

अनन्तानुबन्धी क्रोध वाला सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को भी अपमानित करने के भाव कर लेता है। उन पर उपसर्ग कर देता है। उसे अपना हित-अहित भी नहीं दिखता है। उसे यह भान नहीं रहता है कि मुनि पर उपसर्ग करने से, उनकी निन्दा करने से, कड़वा-मीठा बोलने से मुझे कितना दु:ख होगा। वर्तमान में अपयश फैलेगा, लोग मुझे हीन दृष्टि से देखेंगे और भविष्य में भवों-भवों तक धर्म प्राप्त करना दुर्लभ हो जायेगा। एक बार दशानन (रावण) नित्यालोक नगर में राजा नित्यालोक की श्रीदेवी से समुत्पन्न रत्नावली नामकी पुत्री के साथ विवाह करके बड़े हर्ष के साथ आकाशमार्ग से अपनी नगरी की ओर लौट रहा था। जिस प्रकार बड़ा भारी वायुमण्डल मेरु के तट को पाकर सहसा रुक जाता है उसी प्रकार मन के समान चंचल उसका पुष्पक विमान सहसा रुक गया। विमान को रुका देख दशानन ने क्रोध से दमकते हुए कहा कि- अरे यहाँ कौन है? कौन है? यह सुनकर सर्व वृत्तान्त जानने वाले मारीचि (मंत्री) ने कहा - देव ! सुनो यहाँ कैलाश पर्वत पर एक मुनिराज प्रतिमा योग से विराजमान हैं। यह सुनकर

रावण ने पर्वत के ऊपर उतरकर उन महामुनि के दर्शन किये। तदनन्तर 'यह बालि है' ऐसा जानकर पिछले वैर का स्मरण करता हुआ क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो उठा। उसने बड़ी निर्दयता के साथ मुनिराज से कहा- ''अहो ! तुमने यह बड़ा अच्छा तप करना प्रारम्भ किया है कि अब भी अभिमान से मेरा विमान रोक रहा है। धर्म कहाँ और क्रोध कहाँ? अरे! दुर्बुद्धि तू व्यर्थ ही श्रम कर रहा है और अमृत तथा विष को एक करना चाहता है। इसलिए मैं तेरे इस उद्धत अहंकार को आज ही नष्ट किये देता हूँ। तू जिस कैलाश पर्वत पर बैठा है उसे उखाड़कर तेरे साथ अभी समुद्र में फेंकता हूँ **(प.पु.)** यह अनन्तानुबन्धी क्रोध का परिणाम है।

आचार्य रविषेण स्वामी पद्मपुराण में कहते हैं कि जब रावण का विमान बालि मुनि के ऊपर आकर रुक गया तो वह पूज्य पुरुष के दर्शन करने हेतु नीचे आया तो बालि मुनि को देखकर उसने क्रोधावेश में अपने बल से कैलाश पर्वत को अपनी भुजाओं पर उठा लिया तो पूरे पर्वत पर क्षोभ उत्पन्न हो गया। बालि मुनिराज ने अवधिज्ञान से दशानन को जान लिया। यद्यपि दशानन के पर्वत उठाने से उन्हें किंचित् भी पीड़ा नहीं हुई थी और पहले के समान अब भी उनका शरीर निश्चल रूप से अवस्थित था तथापि वे धीर-वीर और कोप से रहित हो अपने चित्त में इस प्रकार विचार करने लगे कि ''अहो चक्रवर्ती भरत ने नाना प्रकार के स्वर्णमयी, रत्नमयी, ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर बनवाये हैं सो इस पर्वत के विचलित हो जाने पर कहीं ये जिनमन्दिर नष्ट न हो जावें।'' ऐसा विचारकर बालि मुनिराज ने पर्वत के मस्तक को अपने पैर के अंगूठे से दबा दिया। जिससे पर्वत का भार रावण के सिर पर आ गया। उसके शरीर से पसीना निकलने लगा। उस समय चूँकि उसने सर्वप्रयत्न से चिल्लाकर पूरे संसार को शब्दायमान कर दिया था। इसलिए उसका 'रावण' नाम प्रचलित हो गया था। तब रावण की रानी मन्दोदरी ने मुनिराज को प्रणाम कर याचना की ''कि हे अद्भुत पराक्रम के धारी ! मेरे लिए पति की भिक्षा दीजिए।'' तब मुनिराज ने दयावश पैर का अंगूठा ढीला कर लिया और रावण ने भी क्लेश रूपी अटवी से बाहर आकर तप का बल जानकर मुनिराज को प्रणाम करके बार-बार क्षमा माँगी तथा अनेक प्रकार से मुनिराज की स्तुति की तथा अपनी निन्दा-गर्हा करते हुए बोला - ''हे स्वामी ! मैंने जो अनुचित कार्य करना चाहा था वह मुझ असमर्थ के केवल पापबंध का ही कारण हुआ। मुझ पापी के इस शरीर को, हृदय को और वचन को धिक्कार है कि जो अयोग्य कार्य करने के लिए सम्मुख हुए। हे द्वेष रहित ! आप जैसे नररत्न और मेरे जैसे दुष्ट पुरुषों में उतना ही अन्तर है जितना सुमेरु पर्वत और सरसों के बीच में है। आपने मुझे जीवनदान दिया है सो अपकार करने वाले पर उपकार करने की जिसकी ऐसी बुद्धि होती है उसके विषय में क्या कहा जावे? मैं सुनता हूँ, जानता हूँ और देखता हूँ कि संसार केवल दु:ख का अनुभव कराने वाला है। फिर भी मैं इतना पापी हूँ कि विषयों से वैराग्य को प्राप्त नहीं होता हूँ।'' इस प्रकार अपनी निन्दा-गर्हा करते हुए रावण ने दु:खवश मुँह से सू-सू शब्द करते हुए रुदन किया था। यह सब अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव का बाह्य चिह्न है। **(प.पु.)**

इसी प्रकार रावण की पवित्र भक्ति से नागराज धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। उसने रावण

से कहा - ''हे राक्षसेश्वर ! तू धन्य है जो जिनेन्द्र भगवान की इस तरह स्तुति करता है। तेरी भावना ने मुझे बलपूर्वक खींचकर यहाँ बुलाया है। जिनेन्द्रदेव के प्रति जो तेरी भक्ति है उससे मैं बहुत संतुष्ट हुआ हूँ। तू वर माँग, मैं तुझे दुर्लभ इच्छित वस्तु देता हूँ।'' तब रावण ने कहा - ''मुझे पता है कि तुम नागराज धरणेन्द्र हो। मैं आपसे पूछता हूँ भला आप ही बतलाइये कि जिनवन्दना के समान और कौनसी शुभ वस्तु है जिसे मैं आपसे माँगूँ।'' **(प.पु.)** इस प्रकार का भाव ही अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव एवं सम्यक्त्व-प्राप्ति का चिह्न है।

कई बार धर्मायतनों पर आपत्ति आ जाने पर अर्थात् कोई जिनबिम्ब को खण्डित करने आवे, जिनवाणी जलाने लगे, नदी-नाले आदि में फेंकने लगे, उसका ह्रास करने लगे, मुनिराज आदि चतुर्विध संघ पर उपसर्ग करने लगे तो उस समय कोई श्रावक या धर्मात्मा व्यक्ति उनकी रक्षा करने के लिए यदि उनको जान से भी मारने की कोशिश करे या मार ही डाले तो भी उसके अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं कहलाती है (लेकिन कभी पक्षव्यामोह में पड़कर साधर्मी को मार डालता है तो अनन्तानुबन्धी कषाय ही है)। **आराधना कथाकोश** में आचार्य महाराज कहते हैं कि जब एक शूकर गुफा में विराजमान मुनिराज की रक्षा करने के लिए एक शेर से लड़ रहा था तब उसने क्रोधित होकर अनेक बार शेर को हताहत-खूनाखून कर दिया और अंत में उसको जान से ही मार डाला, भले ही वह स्वयं भी मारा गया तो भी वह उसका अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं था, क्योंकि उस कार्य में निजी स्वार्थ नहीं था। एक तो मुनिराज धर्म के आयतन थे, धर्मात्मा थे, उनकी रक्षा का भाव था। दूसरी बात सूकर ने पहले तो सिंह को मुनिराज की हत्या से रोकने की भरसक कोशिश की थी लेकिन जब वह मुनिराज को मारने के लिए बार-बार दौड़ रहा था, मारने की कोशिश कर रहा था तब उसने मजबूर होकर सिंह को मारा था अथवा उसे मारना पड़ा था। शेर को मारने के बाद शूकर प्रसन्न भी था, क्योंकि उसने अपने इष्ट गुरुवर धर्मप्राण की रक्षा की थी। उसका ऐसा करना भी एक प्रकार से धर्म कार्य ही था।

इसी प्रकार जब सती प्रभावती, मनोरमा, अनन्तमति, रयणमंजूषा आदि के पास किसी राजकुमार/राजा या किसी सेठ ने उन्हें अपने वश में करने के लिए अर्थात् शील से भ्रष्ट करने के लिए दूती के द्वारा वस्त्राभूषण भेजकर उनकी इच्छा-भावनाएँ देखी थीं। तब उन सतियों ने दूतियों को पहले तो शील की महिमा बताते हुए समझाया लेकिन जब उन्होंने अपनी बात एवं स्वामी के पक्ष को नहीं छोड़ा और उल्टा उन्हें ही समझाने/बिचकाने की कोशिश करने लगीं तो उन्होंने क्रोधित होकर चाबुक से उन दूतियों को मारा था, कड़वे शब्दों में फटकारा था तो भी वह अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं था क्योंकि उन्होंने अपने शील की रक्षा के लिए ऐसा किया था। इसी प्रकार कई बार देवों ने आकर शीलभ्रष्ट करने वाले को कीलित कर दिया था। कई प्रकार की तीव्र वेदनाएँ दी थीं। कई बार मुनिराज आदि के ऊपर उपसर्ग आने पर देवों ने उन्हें दूर करने के लिए बहुत कुछ दुष्कृत जैसे दिखने वाले कार्य भी किये थे तो भी उनका वह अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं था, क्योंकि वहाँ उनका उद्देश्य उनको कष्ट देना नहीं था अपितु धर्मायतन, शील, धर्म आदि की रक्षा करने का था।

भरतचक्रवर्ती ने क्रोधावेश में अपने भाई बाहुबली पर चक्र चला दिया तो भी अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं था, क्योंकि चक्र चलाने के बाद जब उनका क्रोध उतरा/शांत हुआ तो उन्हें अपनी करनी पर पश्चाताप हुआ था। उन्होंने तत्काल बाहुबली के चरणों में क्षमायाचना की थी और अपने क्रोध की निन्दा-गर्हा करते हुए भगवान से दोष मिथ्या होने की प्रार्थना की थी। यदि भरत-चक्रवर्ती के अनन्तानुबन्धी क्रोध होता तो वे उसे उपादेय अर्थात् अच्छा और उचित मानते। आवेश समाप्त होने के बाद भी वे अपने अपराध को स्वीकार नहीं करते, भाई से क्षमा नहीं माँगते क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय वाला अपने अपराध को स्वीकार नहीं करता है। किये हुए पाप को हेय नहीं मानता है और न ही निन्दा-गर्हा करते हुए क्षमा ही माँगता है। दूसरी बात चक्रवर्ती के छह खण्डों पर विजय प्राप्त करने का एक नियोग रहता है वह कभी किसी से पराजित नहीं होता है लेकिन हुण्डावसर्पिणी के प्रभाव से ऐसा हो गया था। तीसरी बात इतना बड़ा अपमान होने के बाद भी उनके हृदय की गति नहीं रुकी, मस्तिष्क की नस नहीं फटी। यदि कोई मिथ्यादृष्टि होता तो वह गम से पागल हो जाता। चौथी बात भरतजी क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। उनके अनन्तानुबन्धी कषाय तीन काल में नहीं हो सकती। उनके अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय की बात तो बहुत दूर उनका सद्भाव/सत्ता भी नहीं हो सकती। अत: चक्र चलाने के बाद भी भरत चक्रवर्ती के अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं था।

प्रश्न : यदि कोई मिथ्यादृष्टि जीव धर्मायतन की रक्षा के लिए क्रोधादि करता है तो भी क्या उसके अनन्तानुबन्धी कषाय समाप्त हो जाती है?

उत्तर : नहीं, मिथ्यादृष्टि जीव कितनी भी धर्मायतन की रक्षा करे, तीर्थवन्दना करे, गुरुओं को आहार दे, गुरुओं की सेवा-वैयावृत्य करे, भगवान की पूजा-विधान करे, पंच कल्याणक करवाये, त्याग-व्रत-उपवास करे तो भी अनन्तानुबंधी कषाय समाप्त नहीं होती है, क्योंकि अनन्तानुबंधी कषाय मिथ्यात्व की अनुवर्ती है अर्थात् दोनों साथ-साथ रहने वाले हैं। चाहे दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं है फिर भी उत्कृष्ट छह आवली मात्र काल के बाद वह नियम से मिथ्यात्व में प्रवेश कर लेता है इसलिए यद्यपि धर्मानुष्ठान करते समय वह सम्यग्दृष्टि जैसा दिखता है लेकिन सम्यग्दृष्टि बनता नहीं है फिर भी उसे मिथ्यादृष्टि न कहकर भद्र मिथ्यादृष्टि कहा गया है। उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य कहा है। वह भव्य है तो भविष्य में सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा और इस प्रकार के कार्य करते-करते वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। उस समय उसके जो बंध होगा वह तीव्र स्थिति और अनुभाग सहित नहीं होगा। उस समय उसके नरक तिर्यञ्च आदि खोटी आयु और पापात्मक दु:खदायक प्रकृतियों का बंध नहीं होता है इसलिए उसे यहाँ अनन्तानुबंधी कषाय नहीं कहा है।

अनन्तानुबंधी मान : इस मान को आचार्य महाराज ने गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रंथ में शैल स्तम्भ (पत्थर के खम्भे) के समान कहा है। जिस प्रकार पत्थर के खम्भे को तोड़ा जा सकता है टुकड़े-टुकड़े किये जा सकते हैं लेकिन झुकाया नहीं जा सकता है अर्थात् पत्थर का खम्भा टूट सकता है लेकिन झुक नहीं सकता है उसी प्रकार अनन्तानुबंधी मान वाला मर मिटने को तैयार हो जायेगा / हो जाता है। अपना

पूरा धन नष्ट कर देगा, अपने कुटुम्ब परिवार को दु:ख के गर्त में धकेल देगा लेकिन अपनी बात/हठ को नहीं छोड़ सकता है। सामने वाले की सत्य बात को स्वीकारते हुए भी मान नहीं सकता। इसलिए हमारे पूर्वजों ने यह कहावत बनाई- 'पंचों की बात सिर पर है पर नाला तो यहीं से बहेगा''। पवनंजय ने अहंकार में आकर ही सती अंजना का २२ वर्ष तक तिरस्कार किया, अहंकार के कारण ही कमठ के जीव ने १० भव तक पार्श्वनाथ भगवान से वैर लिया था। **भगवती आराधना ग्रंथ** में आचार्य महाराज कहते हैं कि मान कषाय रूप वायु से क्रोध रूपी अग्नि प्रज्वलित होती है अर्थात् क्रोध रूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए मान कषाय रूपी हवा के झोंके लगना आवश्यक है। इसलिए जितने भी जीवों ने अनेक भवों तक बैर लिया है उसका मूल कारण मान कषाय ही था। इसी प्रकार गुरु की अवमानना करना, गुरु का नाम छुपाना, गुरु से तकरार करना, गुरु की निंदा करना आदि अनन्तानुबंधी मान के ही दुष्परिणाम हैं। इसी विषय में एक ऐतिहासिक घटना है जो अनन्तानुबंधी मान का उदाहरण है।

शिष्य ने गुरु का सिर कटवाया : मध्यकालीन भारत में बैजूबावरा एक बहुत बड़े संगीताचार्य थे। उन्होंने एक बार गोपाल नामक शिष्य को संगीत की शिक्षा में प्रवीण किया। जब शिष्य अपने घर लौट रहा था तब गुरु बैजूबावरा ने कहा- बेटा गोपाल! मैंने तुझे जो यह अमूल्य निधि (संगीत की शिक्षा) दी है इसकी रक्षा करना, इसे जनकल्याण में ही उपयोग करना, क्योंकि सभी प्राणियों के कल्याण में ही अपना कल्याण है। तुम कभी इसका दुरुपयोग मत करना, कभी इसे हार-जीत में मत लगाना। इसके माध्यम से कभी किसी से प्रतिस्पर्धा मत करना। चुनौती मत देना और सब से ज्यादा इस बात का ध्यान रखना कि तुझे इसके माध्यम से यदि ख्याति प्राप्त हो जावे तो अहंकार मत करना, क्योंकि अहंकार करने से कला नष्ट हो जाती है। आदि-आदि शिक्षा देकर शिष्य को विदा कर दिया। गोपाल ने गुरु के आशीर्वाद से संगीत में प्रतिष्ठा प्राप्त की। और दिल्ली के राजदरबार में नायक बन गया। अधिक प्रतिष्ठा फैल जाने के कारण उसे अहंकार आ गया। वह सभी संगीतकारों को चुनौती देने लगा। और उन्हें हराकर हारने वाले का सिर कटवाने की शर्त भी रखने लगा। इस कारण से सैकड़ों संगीतकार मारे गये। सैकड़ों स्त्रियाँ विधवा हो गयीं, हजारों बच्चे अनाथ हो गये। जब बैजूबावरा ने उन स्त्रियों एवं बच्चों की चीत्कार सुनी, उनकी वेदना सुनी तो उनका दिल दया से द्रवित हो गया। उनके दिल में दया का स्रोत बहने लगा। वे इसका उपाय सोचने लगे। उन्होंने एक दिन मन ही मन में निर्णय किया कि वे स्वयं दिल्ली के दरबार में जायेंगे और अपने शिष्य को समझाकर संगीतकारों की रक्षा करेंगे तथा शिष्य को भी पाप से बचायेंगे। एक दिन वे दिल्ली के दरबार में पहुँच गये। शिष्य अहंकार में इतना पागल हो गया कि उसने अपने गुरु तक को नहीं पहचाना। उसने उनको भी पूर्ववत् शर्त रखते हुए संगीत के लिए चुनौती दे दी। गुरु ने उसकी चुनौती स्वीकार कर ली। संगीत में गुरुजी विजयी हुए अर्थात् आज पहली बार संगीतकार गोपाल किसी से पराजित हुआ था। शर्त के अनुसार शिष्य गोपाल का सिर काटना निश्चित हुआ। सिर काटने के पहले राजा ने संगीत में विजय प्राप्त करने वाले वृद्ध गुरु से अनुमति मांगी तो गुरु ने कहा- राजन्! इसको जीवित छोड़ दें ताकि यह भविष्य में अपना सुधार कर सके।

यहाँ शिष्य गोपाल में अनन्तानुबंधी मान था। इस कारण ही वह गुरु का सम्मान करना, विनयपूर्वक नमस्कार करना, आसन देना आदि की बात तो बहुत दूर चुनौती देकर गुरु का ही सिर कटवाने के लिए तैयार हो गया। ऐसे कृतघ्न जीवों के अहं को ही नीच श्रेणी का अहंकार कहते हैं।

महाभारत के युद्ध का मूल कारण मान कषाय ही था। चाहे उस द्रौपदी का वचन प्रलाप कारण रूप में माना जाये अथवा दुर्योधन का अहंकार माना जावे। युद्ध अहं के कारण से ही हुआ था। इसी का एक उदाहरण इस प्रकार है:–

जब दुर्योधन मृत्युशय्या पर पड़ा था तब धर्मराज युधिष्ठिर को उस पर दया आ गई। उन्होंने सोचा इस बेचारे ने जिन्दगी में कोई अच्छा/धर्म कार्य नहीं किया, अब यह अंत समय में ही कुछ परिणामों को निर्मल कर ले। अन्दर की कलुषता को धोकर सल्लेखना करके मृत्यु को सुधार ले। यह सब सोचकर उसके पास जाकर बोले – भाई दुर्योधन! यह भूमि न किसी की हुई है और न ही आगे भी किसी की हो पायेगी। यह सब यहीं रह जायेगी। इसलिए अब तुम सब झंझटों को छोड़कर परिणामों को निर्मल करो। अपनी मृत्यु के समय विशुद्धि बढ़ाकर अगला भव सुधारो। युधिष्ठिर की धर्ममय बातें सुनकर दुर्योधन भृकुटी टेढ़ी करता हुआ क्रोधित होकर बोला – युधिष्ठिर ! क्या तुम यह सोचते हो कि मैं मरने वाला हूँ। मैं अभी नहीं मर सकता और सुन लो जब तक इस शरीर में प्राण है तब तक तुम एक हाथ-जमीन भी नहीं ले सकते और न तुम्हें मिल सकती है। इस प्रकार का भाव ही अनन्तानुबंधी मान कहलाता है।

इसी प्रकार जब रावण सीता को हरण करके ले गया, वह जानता था कि उसने गलत किया है। नीति के अनुसार मुझे सीता को सहज रूप से लौटा देना चाहिए और वह चाह भी रहा था कि मैं सीता को लौटा दूँ, क्योंकि वह परस्त्री है लेकिन अन्दर मान कषाय का आवेश था इसलिए वह कह रहा था कि मैं सीता को अवश्य लौटा दूँगा किन्तु राम को जीत करके, राम को अपने चरणों में झुका करके, युद्ध में विजय का डंका बजा करके। कहाँ वन-वन में डोलने वाला राम जो भूमिगोचरी है, जिसके पास रहने के लिए एक कुटिया तक नहीं है। न उसके पास कोई विद्या है तथा न कोई सैन्यबल ही है और कहाँ मैं तीनखण्ड का अधिपति ! मेरे पास अनेक प्रकार की विद्याओं का बल है, मैं अनेक विद्याएँ सिद्ध भी कर सकता हूँ, मेरे पास असंख्य सैनिक हैं, हजारों राजा एवं उनकी सेनाएँ मेरी सहायता के लिए तत्पर हैं ऐसे बलशाली मुझको वह बलहीन राम किसी भी हालत में नहीं जीत सकता। ऐसे सामान्य राम के सामने मैं कैसे घुटने टेक दूँ, कैसे झुक जाऊँ? कैसे अपने आपको कायर के समान समझकर बिना युद्ध किये सीता को दे दूँ। बिना युद्ध के सीता को लौटाने का अर्थ हार स्वीकार करना है, आदि-आदि सब अनन्तानुबंधी मान कषाय के ही परिणाम हैं।

इसी प्रकार जब रावण के प्राण निकलने वाले थे तब रामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा- भाई, जाओ रावण से कुछ नीतियाँ सीख कर आओ। रावण बड़ा नीतिज्ञ है, वह नीतिशास्त्र में निपुण है। राम की आज्ञा का पालन करने मात्र के लिए ही लक्ष्मण रावण के पास पहुँचे अथवा उन्हें भाई की आज्ञा का

पालन करने के लिए अपने शत्रु रावण के निकट जाना पड़ा था। उन्होंने रावण के सिर के पास बैठकर कहा- हे रावण, हे त्रिखण्डाधिपते! मैं आपसे कुछ नीतियाँ सीखने आया हूँ। मेरे बड़े भाई श्री रामचन्द्र ने मुझे आपके पास नीतियाँ सीखने के लिए भेजा है। रावण लक्ष्मण की बातों को सुनते हुए भी चुपचाप लेटा रहा, कुछ नहीं बोला। लक्ष्मण ने २-३ बार रावण से पुन: पुन: प्रार्थना की लेकिन फिर भी जब रावण कुछ नहीं बोला, रावण ने उसकी बात का कोई जवाब नहीं दिया तो लक्ष्मण लौट आया। और रामचन्द्र जी से बोला- भाई, आपने मुझे कैसे अहंकारी के पास नीतियाँ सीखने के लिए भेज दिया। वह रावण मद में चूर मेरे को क्या विद्याएँ सिखाएगा। रामचन्द्र जी लक्ष्मण की रोषभरी बातें सुनकर बोले- भाई ! एक बात बताओ तुमने रावण से विद्या प्राप्त करने के लिए कहाँ खड़े होकर प्रार्थना की थी? लक्ष्मण ने सब बात बता दी। लक्ष्मण की बात सुनकर रामचन्द्र जी ने कहा- लक्ष्मण, रावण नहीं तुम अभिमानी हो तुमने अहंकार में आकर रावण के सिर के पास खड़े होकर नीतियाँ सीखने की कोशिश की। वह कैसे तुझे नीति सिखाता, ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो गुरु के (जिससे विद्या सीखना है) चरणों में बैठना चाहिए। जाओ, रावण के चरणों में खड़े होकर निवेदन करना रावण तुम्हें अवश्य नीति सिखायेगा। लक्ष्मण ने रामचन्द्र के कहे अनुसार जब रावण से विद्या के लिए निवेदन किया तो रावण ने लक्ष्मण को नीति सिखा दी। यहाँ लक्ष्मण के अनन्तानुबंधी मान कषाय थी। इसलिए वह अहं के साथ विद्या, नीतियाँ सीखना चाहता था। इसी प्रकार के अनेकानेक उदाहरण आगम-पुराण ग्रंथों में मिलते हैं। एवं अनेक उदाहरण हमारे अनुभव में भी आते हैं। जैसे :-

१. किसी साधु को विशेष ज्ञान नहीं है तो उनके प्रवचनों की नकल उतारना, मजाक बनाना, उन्हें हीन दिखाने के लिए प्रश्न पूछना।

२. अपनी बात मनवाने के लिए धार्मिक कार्यों में अड़ंगा लगाना।

३. अपना इच्छित पद नहीं मिलने पर धार्मिक अनुष्ठानों में भाग ही नहीं लेना अर्थात् धर्म कार्य से विरक्त हो जाना।

४. अपने वाक्चातुर्य से भोले-भाले लोगों को धर्म से भड़काना।

५. प्रतिमा आदि पर लिखी गयी प्रशस्ति में किसी एक का नाम छूट जाने पर पुन: नयी प्रशस्ति लिखवाने की हठ करना।

किसी से मनमुटाव हो जाने पर सामने वाले के दु:ख के समय कोई बिना बुलाए चला जावे और वहाँ बिना कहे या सामान्य रूप से कहने पर भोजन नहीं करे, भूखा रहे या पूरे दिन उनकी सेवा करके भी अपने घर आकर भोजन करे तो अनन्तानुबंधी मान नहीं है, क्योंकि उसने अपने जीवन एवं कुल के गौरव की रक्षा के लिए ऐसा किया है। कहा भी है दु:ख के समय कहीं पर भी बुलाने का इंतजार नहीं करना चाहिए और बिना मान-मनुहार के किसी के यहाँ भोजन नहीं करना चाहिए, यही गौरव का लक्षण है। अनेक बार कहने पर भी भोजन नहीं करना, अकड़े रहना तो घमण्ड ही है। मान लिया दो

भाइयों में किसी कारण से लड़ाई हो गयी। जब बड़े भैया के बच्चों की शादी हुई थी तब उसने छोटे भैया को बहुत बार बुलाया लेकिन छोटा भैया नहीं आया। जब छोटे भैया के बच्चों की शादी होने लगी तो छोटा भैया बड़े भैया से अपने किये गये दुष्कृत अर्थात् बड़े भैया के बच्चों की शादी आदि में नहीं आने की क्षमा माँगता है। अपनी गलती स्वीकार करता है। अपनी अज्ञानता का पश्चाताप एवं अहंकार की निन्दा करते हुए बार-बार शादी में आने की प्रार्थना करता है। रिश्तेदारों के माध्यम से भी बड़े भैया को आमंत्रित करता है फिर भी यदि बड़ा भाई उसके यहाँ नहीं जाता है तो वह अनन्तानुबंधी मान है और यदि चला जाता है तो वह धर्म का गौरव है, क्योंकि उसने जो धर्म किया था, सीखा था उसका यही फल है कि वह अपनी कषायों को समाप्त कर दे।

अनन्तानुबन्धी माया : अनन्तानुबन्धी माया को आचार्य महाराज ने बाँस की जड़ के समान कहा है। जिस प्रकार बाँस की जड़ एक में दूसरी दूसरी में तीसरी और तीसरी में चौथी ऐसे एक दूसरे में उलझी रहती हैं जिसका कहीं ओर-छोर पकड़ में नहीं आता और उस जड़ को समाप्त करने के लिए खोदते जाओ, खोदते जाओ.... आगे आगे नयी-नयी जड़ें दिखती रहती हैं। उसी प्रकार इस माया वाले के परिणामों में उलझन ही उलझन बनी रहती है। कहा भी है-

जिस प्रकार बहुत दिन से जमी हुई बॉस की गाँठदार जड़ स्वभाव से टेढ़ी होती है उसे कोई सीधा नहीं कर सकता, उसी प्रकार चिरसंचित माया चारी से पूर्ण दुर्जन भी स्वभाव से टेढ़ा होता है। उसे कोई सीधा-सरल परिणामी नहीं बना सकता है अथवा जिस तरह कोई कुत्ते की पूँछ को सीधा नहीं कर सकता है उसी तरह अनन्तानुबंधी मायाचारी को भी छोड़ना अत्यन्त कठिन है। ऐसी माया वाला अपनी बात को सिद्ध करने के लिए सामने वाले को गुमराह करता रहता है अर्थात् तर्क-वितर्क से उसको इस प्रकार गुमराह कर देता है कि व्यक्ति समझ ही नहीं पाता है कि सामने वाला क्या चाह रहा है। दूसरी बात वह ऐसी मीठी बातें करता है कि उसकी बातें गलत लगती ही नहीं हैं, उसकी बातें इतनी चापलूसी से युक्त होती हैं कि सामने वाला उसकी बात को सत्य मानकर विश्वास कर लेता है और उस पर अपनी धन-सम्पत्ति आदि सर्वस्व लुटा देता है। वह ठगा जाता है लेकिन व्यक्ति कितनी ही चापलूसी से काम करे, एक दिन उसका भण्डा-फोड़ अवश्य ही होता है अर्थात् जब उसका षडयंत्र या मायाचारी खुलती है तब उसकी सब बातें अपने आप समझ में आ जाती है कहा भी है- 'दाबी डूबी ना रहे रुई लपेटी आग'। जिस प्रकार रुई में लपेटी हुई आग कभी छुपी हुई नहीं रह सकती है, चाहे वह कितनी भी रुई के नीचे दबा दी गई हो; उसी प्रकार कितनी भी गूढ़ रीति से काम किया जाये यदि छल-कपट मायाचारी पूर्वक किया गया है तो वह एक दिन अवश्य खुल ही जाता है।

लाख के महल में आग लगाई : दुर्योधन आदि कौरवों ने पाण्डवों को मारने के लिए जिंदगी भर अनेक प्रकार के छल किये थे, उनमें से एक छल था लाख का महल बनाने का। दुर्योधन ने पाण्डवों को जला देने के उद्देश्य से एक बहुत सुंदर लाख का महल बनवाया और युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को बुलाकर बड़े प्रेम से बोला भाई युधिष्ठिर ! आप हमारे कुल के सबसे बड़े भ्राता है, पूज्य है जगत् प्रसिद्ध

है, पुण्यशाली हैं, सत्यवादी हैं, मैं आपके गुणों के प्रति समर्पित हूँ। मैंने आपके गुणों का सम्मान करने के लिए एक महल बनवाया है ऐसा महल संसार में कहीं पर भी न तो आज तक बना है और न आगे भविष्य में भी इतना मूल्यवान और सुन्दर कलाकृति से युक्त महल कोई बना ही पायेगा। अत: आप मेरा आग्रह स्वीकार करके अपनी चरण रज से उस महल को पवित्र करें एवं कुछ दिन तक उसमें निवास करके जीवन का आनन्द ले। युधिष्ठिर उसकी मीठी-मीठी बातों के पीछे छुपे रहस्य को, षड्यंत्र को नहीं समझ पाये। उन्होंने दुर्योधन की प्रार्थना स्वीकार कर ली और लाख के महल में जाकर रहने लगे। दुर्योधन ने कुछ ही दिनों में षड्यंत्र के अनुसार छुपकर लाक्षागृह (लाख के महल में) आग लगवा दी। इसे दुर्योधन की अनन्तानुबन्धी माया कही जा सकती है।

लाक्षागृह में से जीवित बचकर पाण्डवों ने अपने आभूषण पहनाकर छह शव लाकर लाक्षागृह में रख दिये थे ताकि कौरव यह समझें कि पाँचों पाण्डव और कुन्ती लाक्षागृह में जलकर मर चुके हैं। इसमें यद्यपि यह पाण्डवों का छल था लेकिन वह अनन्तानुबन्धी छल नहीं था, क्योंकि पाण्डवों ने कौरवों का कुछ बिगाड़ने या उनसे बदला लेने के लिए ऐसा नहीं किया था अपितु अपनी जान बचाने एवं भविष्य में आने वाली आपत्तियों से बचने के लिए छल किया था। इसलिए उनका यह छल अनन्तानुबंधी में नहीं आ सकता है। दूसरी बात, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। उनके अनन्तानुबंधी कषाय आ भी कैसे सकती है। इसी प्रकार द्रौपदी के शील की रक्षा के लिए भीम ने राजा कीचक को मार डाला था। १२ वर्ष तक छलपूर्वक युधिष्ठिर आदि सेवा करने वाले सेवकों का रूप धारण करके रहे थे। आदि अनेक बार छल किये और अंत में छलपूर्वक सेना इकट्ठी करके युद्ध किया। इससे ऐसा लगता है कि युद्ध में उन्होंने छल किया लेकिन उन्होंने नीति की रक्षा करने के लिए छल किया था। दूसरी बात, उन्होंने छल किया नहीं उन्हें छल करना पड़ा था। छल करने के बाद भी उन्हें कभी छल करने की प्रसन्नता नहीं हुई। उन्होंने छल को अच्छा या उपादेय नहीं माना। विजय मिलने के बाद भी उन्हें छल का पश्चाताप ही हुआ था। इसलिए वह छल होकर भी अनन्तानुबन्धी छल नहीं था जिससे कि उनका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता। इसी प्रकार राजा अरविन्द के पुत्र का भी अनन्तानुबंधी छल नहीं था।

राजा अरविन्द के दो पुत्र थे १. हरिचन्द्र २. कुरुविन्द। उस अरविन्द राजा के रौद्रध्यान के कारण नरकायु का बंध हो गया था। जब उसके मरने का समय आया तब उसे दाहज्वर उत्पन्न हो गया जिससे उसके दिनों-दिन शरीर का संताप बढ़ने लगा। उसकी वेदना किसी भी इलाज से ठीक नहीं हो रही थी। एक दिन दो छिपकलियाँ परस्पर लड़ रही थीं। लड़ते-लड़ते एक की पूँछ टूट गयी, पूँछ से निकली हुई खून की कुछ बूंदें राजा अरविन्द के शरीर पर आकर पड़ीं। उन खून की बूँदों से उसका शरीर ठण्डा हो गया। पाप के उदय से वह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। उसने विचार किया कि मेरी बीमारी की यही औषधि है अर्थात् खून से ही मेरी दाह समाप्त होगी। उसने अपने दूसरे पुत्र कुरुविन्द को बुलाकर कहा कि हे पुत्र, मेरे लिए खून से भरी एक बावड़ी बनवा दे। वह अपने विभंगावधिज्ञान से विचार कर बोला, इसी समीपवर्ती वन में अनेक प्रकार के मृग रहते हैं, उन्हीं से अपना काम कर अर्थात् उन्हें मारकर

उनके खून से बावड़ी भर दे। वह कुरुविन्द पाप से डरता था इसलिए पिता के ऐसे वचन सुनकर तथा कुछ विचारकर पापमय कार्य करने के लिए असमर्थ होता हुआ वह क्षणभर चुपचाप खड़ा रहा। तत्पश्चात् वन में गया वहाँ किन्हीं अवधिज्ञानी मुनि से जब उसे मालूम हुआ कि हमारे पिता की मृत्यु अत्यन्त निकट है तथा उन्होंने नरकायु का बन्ध कर लिया है तब वह उस पापकर्म के करने से रुक गया। परन्तु पिता के वचन उल्लंघन करने योग्य नहीं है ऐसा मानकर उसने कृत्रिम रुधिर अर्थात् लाख के रंग से भरी हुई एक बावड़ी बनवाई। पापकार्य करने में चतुर राजा अरविन्द ने जब बावड़ी तैयार होने का समाचार सुना तो हर्षित होकर लाख के रंग से बनी बावड़ी को सचमुच खून की बावड़ी समझकर उसमें क्रीड़ा करने लगा। जब उसने बावड़ी के पानी से कुल्ला किया तो उसे मालूम हो गया कि यह कृत्रिम रुधिर है तो वह पुत्र को मारने के लिए दौड़ा लेकिन बीच में ही कुमरण को प्राप्त कर नरक में गया। **(म.पु. ५वाँ पर्व)**

उपर्युक्त कथानक में यद्यपि कुरुविन्द ने कृत्रिम रुधिर से बावड़ी भर कर छल किया था लेकिन यह उसका छल अनन्तानुबन्धी नहीं था क्योंकि उसने पिता को ठगने के लिए नहीं अपितु जीवों की रक्षा के लिए छल किया था।

इसी प्रकार जब युधिष्ठिर के निमित्त से द्रोणाचार्य की मृत्यु हो गई तो अश्वत्थामा ने छल पूर्वक रात के घोर अंधकार में पाण्डव समझकर द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मार डाला था। यह अनन्तानुबन्धी माया थी क्योंकि उसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए ऐसा किया था। इसी प्रकार जब रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने लगा तो लक्ष्मणादि ने सोचा, यदि रावण को विद्या सिद्ध हो गई तो वह कभी नहीं जीता जा सकता। इसलिए हमें उसके ध्यान में विघ्न डाल देना चाहिए। जब विघ्न डालने के लिए उन्होंने रामचन्द्र से आज्ञा मांगी तो रामचन्द्र ने मना कर दिया कि नहीं, हमें किसी की धर्माराधना में विघ्न नहीं करना चाहिए। तब लक्ष्मण ने राम से छुपकर रावण की मंत्रसाधना में विघ्न डालने के लिए अंगादि राजाओं को भेज ही दिया। इसे अनन्तानुबन्धी माया कह सकते हैं।

बेटी से विवाह किया - एक राजा था। उसके एक सुन्दर राजकुमारी थी। राजकुमारी ने जब यौवन में प्रवेश किया तो उसकी सुन्दरता में चार चाँद लग गये अर्थात् वह अप्सरा से भी ज्यादा सुन्दर लगने लगी। एक दिन पिता-राजा की दृष्टि अचानक राजकुमारी पर पड़ी तो उसका हृदय कामबाण से बिंध गया। उसे वासनाएँ सताने लगीं। वह जानता था कि वह मेरी बेटी है। इसलिए मैं इसके साथ अपनी वासना पूर्ति नहीं कर सकता। इसलिए मेरी यह इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकती है लेकिन कामवासना ने उसे इतना घेर लिया कि उसका मन सब कार्यों से विरक्त होकर मात्र राजकुमारी के ध्यान में लग गया। वह निरन्तर राजकुमारी के साथ विवाह करने के लिए युक्ति सोचने लगा। आखिर उसके मन में एक युक्ति आ ही गयी। उसने युक्ति के अनुसार एक दिन राजसभा बुलायी जिसमें मंत्री, अमात्य, सेनापति, राजसेठ आदि जितने भी प्रतिष्ठित एवं प्राज्ञजन थे उन सभी को आमंत्रित किया। समय पर राजसभा लगी। सभा में एक मुनिराज भी पधारे थे। सभा में राजा ने सबको सम्बोधित करते हुए कहा- हे सभासदो! राज्य में जो सबसे सुन्दर एवं मूल्यवान वस्तु होती है वह किसकी होती है? उसका स्वामी कौन होता है? किसी

ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि ऐसी भी कोई अनहोनी बात हो सकती है जो न्याय-नीति, धर्म और सभ्यताओं के विरुद्ध हो इसलिए सबने एक स्वर में उत्तर दिया कि ''राजा की'' किन्तु जैन साधु ने राजा के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करके उत्तर दिया कि हे राजन्, यह सत्य है कि राज्य में उत्पन्न हुए सभी उत्तम रत्नों के आप ही मालिक हैं लेकिन एक कन्यारत्न को छोड़कर। उसका स्वामित्व आप पिता के नाते कर सकते हैं, किन्तु पति के रूप में नहीं। जैन साधु का हितप्रद उत्तर भी राजा को अच्छा नहीं लगा। उसको उनका उत्तर बिल्कुल गलत लगा, क्योंकि पापियों को हित की बात अच्छी नहीं लगती है। राजा ने क्रोधित होकर तत्काल मुनिराज को अपमानित करके राजसभा के बाहर निकलवा दिया। फिर प्रजा से बोला है प्रजाजनों ! मैंने आज राजसभा मात्र इसी उद्देश्य से बुलवाई थी कि मैं राजकुमारी के साथ विवाह करूँ। अब तुम कोई भी इसके लिए मना नहीं कर सकते और न ही विरोध कर सकते हो, क्योंकि तुम सबने ही राज्य की प्रत्येक अमूल्य वस्तु का स्वामी राजा को बताया है। राजा की बात सुनकर सारे सभासद सन्न रह गये। यद्यपि राजा की बात से कोई सहमत नहीं था लेकिन राजा ने उन्हें पहले ही वचनबद्ध कर लिया था इसलिए उसकी बात का कोई प्रतिकार नहीं कर पाया। राजा ने सभासदों को अपने वाग्जाल में फँसा कर अपनी बेटी राजकुमारी के साथ विवाह किया। यह सब अनन्तानुबंधी माया है। संसार में ऐसे अनेकानेक कार्य तथा वाग्जाल हैं, जो अनन्तानुबन्धी माया कषाय रूपी वर्क से लिप्त गोबर की मिठाई के समान रम्य दिखाते हैं। हमें इस प्रकार के वाग्जाल रच कर न किसी को फँसाना चाहिए और न ही किसी के वाग्जाल में फँसकर तत्त्व का विपरीत स्वरूप ग्रहण करके मिथ्यादृष्टि बनना चाहिए।

अनन्तानुबंधी लोभ : इस कषाय को आचार्य महाराज ने किरमिच के रंग के समान कहा है। यह रंग जिस कपड़े पर लग जावे उस कपड़े के फट जाने पर भी उसका वह रंग समाप्त नहीं होता है। अथवा वह कपड़ा जलकर राख भी हो जावे तो भी उस राख में इसका प्रभाव दिखाई देता है।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी अनन्त बार मरण को प्राप्त होकर नई-नई पर्यायें धारण करता रहे तो भी यह लोभ समाप्त नहीं होता है। कभी-कभी तो इस लोभ वाला दूसरे के प्राण लेकर भी अपनी रक्षा करने को तैयार हो जाता है अर्थात् मांसाहारी औषधियाँ खाकर भी अपनी बीमारी ठीक करने में नहीं हिचकता है। यह अपने विषयभोगों की पूर्ति के लिए किस-किस के प्राणों को नष्ट नहीं कर देता है। अपने पैरों की शोभा बढ़ाने के लिए अहिंसक जूते-चप्पलों को छोड़कर चमड़े के जूते-चप्पल पट्टा आदि पसन्द करता है। अथवा इसे वे ही अच्छे लगते हैं। मेहँदी से नाखून लाल सुन्दर दिख सकते हैं। फिर भी 'नेल पॉलिस' से नाखूनों को रंगता है। उसके घर में बिस्किट, केक, समोसा-कचौड़ी आदि बनते हैं और जब कभी बनते रहते हैं फिर भी यह उनको छोड़कर बाजार में मिलने वाले मांस के पुट से युक्त बिस्किट आदि खाने में आनन्द मानता है, होटल में जाकर इन पदार्थों का सेवन करने में यह अपनी शान समझता है। इसी प्रकार अहिंसात्मकपदार्थों को छोड़कर जैविक मांसयुक्त सौन्दर्य प्रसाधन, भोजन, पेय आदि के प्रति जो आकर्षण का भाव है वह एक प्रकार से अनन्तानुबंधी लोभ का ही चिह्न है।

लुब्धक सेठ की लोभ वृत्ति : एक समय चम्पापुरी का राजा अभयवाहन था जिसकी रानी पुण्डरीका थी। उसी नगर में एक लुब्धक नाम का सेठ रहता था। उसके नागवस्तु और नागदत्त नामके दो पुत्र थे। एक बार सात दिन तक लगातार वर्षा होने से नदी-नालों में बाढ़ आ गयी थी। बाढ़ में गाँव-नगरों की अनेक सामग्रियाँ बह गयी थीं। तब लुब्धक सेठ ने उन बहती हुई सामग्रियों को देखकर सोचा, इनमें से यदि मैं कुछ सामग्री इकट्ठी कर लूँ तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो सकता है। उसने अपनी जान की परवाह नहीं करते हुए बहती हुई नदी की बाढ़ में से लकड़ियाँ इकट्ठी कर एक गट्ठा बाँधा और अपने सिर पर रखकर घर की ओर रवाना हुआ। तभी रानी ने उसको देखकर राजा से कहा महाराज ! देखिए, यह कितना दरिद्र व्यक्ति है जो अपनी जान को हथेली में लेकर ऐसे समय में भी लकड़ी इकट्ठी करके ले जा रहा है अत: आप उसको कुछ धन आदि देकर उसकी दरिद्रता दूर कर दीजिए। राजा ने तत्काल लुब्धक सेठ को बुलाया और बोला, भाई, लगता है तुम बहुत दरिद्र हो अत: तुम्हें जितनी सम्पत्ति आवश्यक हो उतनी राजकोष से ले जावो और आराम से जीवन यापन करो।

सेठ ने कहा, महाराज, मुझे सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है, मुझे तो मात्र एक बैल की आवश्यकता है। आप मुझे एक बैल दे दीजिए। राजा ने अपनी गौशाला के सभी बैल उसे दिखाये लेकिन उसे एक भी बैल पसन्द नहीं आया तो राजा ने उससे कहा- मैं तुम्हारा बैल देखना चाहता हूँ। लुब्धकसेठ उसे अपना बैल दिखाने के लिए ले गया। उसका बैल स्वर्ण से बना था जिसमें अनेक प्रकार के रत्न जड़े हुए थे जो अनेक प्रकार के पक्षियों के जोड़ों अर्थात् स्वर्णनिर्मित रत्नजडित हंस, कबूतर, मयूर, तोता आदि के साथ सजा हुआ था। राजा उसके बैल को देखकर चकित हो गया। उसने बाढ़ में से लकड़ी इकट्ठी करने वाले के बारे में कभी ऐसा सोचा ही नहीं था कि वह इतना बड़ा धनाढ्य भी हो सकता है। राजा को घर आया देखकर लुब्धक सेठ की सेठानी ने रत्नों से भरा थाल लाकर सेठ को देते हुए कहा, यह थाल राजा को भेंट करिये। उस थाल को देखकर लुब्धक सेठ का कलेजा काँपने लगा थाल हाथ में लेने पर उसके हाथ साँप के फण के समान काँपने लगे इसलिए राजा उसका नाम फणहस्त रखकर अपने राजमहल में चला गया।

लुब्धक सेठ ने एक बैल बनाने के लिए सिंहलद्वीप में जाकर लगभग चार करोड़ का धन कमाया परन्तु किस्मत खराब होने से लौटते समय वह जहाज सहित समुद्र में डूबकर मरण को प्राप्त हो गया। मरकर वह अपने घर में जहाँ स्वर्ण निर्मित जोड़े रखे थे सर्प हुआ। इस भव में भी वह किसी को अपनी सम्पत्ति नहीं छूने देता था इसलिए एक दिन उसके पुत्र ने उसको पकड़वा कर मरवा डाला। वह मरकर चौथे नरक में गया। यह है अनन्तानुबंधी लोभ का दुष्परिणाम। इस अनन्तानुबंधी कषाय के फल में ही उसे चौथे नरक के दु:खों की यातना भोगनी पड़ी अत: हमें कभी ऐसा लोभ नहीं करना चाहिए।

कई लोग तो मृत्यु के समय तक अर्थात् दम तोड़ते-तोड़ते भी अपनी तृष्णाओं का शमन नहीं कर पाते हैं उनको यह भान भी नहीं रहता है कि मेरे मरने के बाद आखिर इस सम्पत्ति का महत्त्व ही क्या है? मेरी आँख बंद हो जाने पर यह सम्पत्ति न मेरे साथ जायेगी और न ही मेरे काम आयेगी अत:

अब तो मुझे इसकी लालसा छोड़ देनी चाहिए। एक व्यक्ति के पास १० अरब की सम्पत्ति थी फिर भी उसके मन में संतोष नहीं हुआ था इसलिए वह जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी धनार्जन की योजनाएँ बना रहा था। एक दिन उसकी तबीयत बहुत ज्यादा खराब हो गयी। उसको लगने लगा कि शायद अब मैं कुछ समय का ही मेहमान हूँ अर्थात् दो-चार घण्टे में निश्चित मेरी मृत्यु हो जायेगी। लेकिन फिर भी वह अपने आप में निश्चित नहीं हो पा रहा था। उसके अन्दर उथल-पुथल मची हुई थी। धन कमाने की आकुलता अब भी उसको सता रही थी। इसी समय किसी ने उससे कहा, भाई! तुमने अपनी जिन्दगी में खूब कमाया है। तुम बहुत भाग्यशाली हो इसलिए तुम्हें हर कार्य में सफलता मिली है। वास्तव में तुम साहसी और पुरुषार्थी व्यक्ति हो। अब तुम्हारी मृत्यु बहुत निकट है अत: तुम धन की आकुलता छोड़कर प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु को वरण करो ताकि यह दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त करना सार्थक हो जावे। उसकी बात सुनकर वह व्यक्ति, जिसमें आँखें खोलने की भी शक्ति नहीं थी फिर भी उसने अपनी अंतरंग वेदना को प्रगट करने के लिए शक्ति लगाकर आँखें खोलीं और बोला भाई क्षमा करो। मैं सुख से नहीं मर सकता हूँ क्योंकि मेरे इरादे १० अरब नहीं १०० अरब के थे। मैं आज भी ९० अरब से गरीब बना ही संसार से विदा हो रहा हूँ, १०० वर्ष और जीवित रहता तो शायद मेरी कामनाएँ पूरी हो जातीं लेकिन....। और सुनो तुम्हें और इस सारी दुनिया को मेरी अमीरी दिख रही है लेकिन मुझे तो अभी भी मेरी गरीबी ही दिख रही है। यह अनन्तानुबंधी लोभ है।

कभी-कभी यह व्यक्ति जान-बूझकर भी ऐसा भोजन कर लेता है जो मरण का कारण बन जाता है चाहे वह अभक्ष्य नहीं है फिर भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। जैसे हृदयरोगी को, उच्च रक्तचाप वाले को चिकित्सकों ने घी खाना, तली हुई वस्तुएँ, गरिष्ठ भोजन करने को मना किया है। कभी थोड़ा सा अपथ्य भोजन कर लेने पर भी तकलीफ होती है तो भी जिह्वा की लोलुपता से भरपेट घी में डूबी हुई दाल-बाटी खा लेना, शक्कर की बीमारी है फिर भी यह सोचकर कि एक बार मरना तो है ही, क्यों खाने का आनन्द छोड़ो। दोस्तों, परिजन पारिवारिकजनों को खाता देखकर मिष्टान्न खा लेना आदि-आदि अनन्तानुबंधी लोभ के ही चिह्न हैं।

भक्ष्य शुद्ध औषधि को छोड़कर अभक्ष्य औषधि खाना भी अनन्तानुबंधी का ही चिह्न है। एक बार एक स्वाध्याय प्रेमी को मधुमेह की बीमारी हो गयी। वह मेरे पास आकर अपनी वेदना कहने लगा। मुझे उसकी वेदना सुनकर दया आ गयी। मैंने कहा भाई, चिन्ता नहीं करो। मैं तुम्हें एक घरेलू नुस्खा बताती हूँ आपकी बीमारी न कभी बढ़ेगी न घटेगी अर्थात् आपको इस रोग से कोई तकलीफ नहीं होगी। उन्होंने कहा, माताजी ! चिकित्सकों ने स्पष्ट कहा है कि मुझे इन्सुलिन लेना ही पड़ेगा। उसके बिना मेरी बीमारी ठीक हो ही नहीं सकती है। मैंने कहा, अरे आप इतने स्वाध्यायशील हैं, धर्मात्मा हैं आपको इन्सुलिन लेना शोभा नहीं देता, क्योंकि इन्सुलिन तो माँसाहार में आता है। भेड़िये के वृक्क से उसकी उत्पत्ति होती है। आप इस नश्वर शरीर की रक्षा के लिए पापात्मक मांसयुक्त औषधि कैसे ले सकते हैं? आप मेरी बात मान लो और ज्यादा औषधि बनाने की मेहनत नहीं कर सकते हो तो विजयसार (बीज) के वृक्ष की लकड़ी को (ऊबाले हुए पानी को ठण्डा करके उसमें) १२ घंटे तक पानी में डालकर पानी

को छानकर सुबह-सुबह पी लेना, आप को कभी कोई तकलीफ नहीं होगी। उन्होंने कहा, नहीं माताजी! नहीं हो पायेगा। इस प्रकार कहते हुए बहुत सारे बहाने बनाकर उन्होंने इन्सुलिन खाना प्रारम्भ कर दिया। कुछ दिनों के बाद शरीर में इन्सुलिन का दुष्प्रभाव दिखने लगा। मजबूर होकर उन्हें शुद्ध शाकाहारी दवाई खानी पड़ी। यह है शरीर के प्रति अति आसक्ति का परिणाम, अनन्तानुबंधी लोभ का परिणाम।

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि शृंगार नहीं कर सकता है?

उत्तर : किसने कहा सम्यग्दृष्टि शृंगार नहीं कर सकता है। सम्यग्दृष्टि तो मिथ्यादृष्टि से भी ज्यादा शृंगार करता है, क्योंकि यदि पूर्व भव से सम्यक्त्व लेकर आया है तो वह उच्चकुल में राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार के यहाँ जन्म लेता है अथवा चक्रवर्ती, बलभद्र, तीर्थंकर, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर बनता है। वहाँ उसे अनेक प्रकार की अच्छी से अच्छी भोग-सामग्रियाँ सहज रूप से उपलब्ध हो जाती हैं। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से वह उनका उपभोग भी करता है लेकिन यदि उन सामग्रियों की उत्पत्ति में किसी जीव की हिंसा हुई है अथवा उनकी उत्पत्ति में किसी के प्राणों को खतरा होता है या उनकी जाँच करने में किसी को वेदना होती है, दी जाती है तो वह उन उपभोग-सामग्रियों को तत्काल छोड़ देता है। शृंगार करते-करते भी कोई उसे बता दे कि यह किसी जीव की हिंसा से उत्पन्न हुई है तो वह किसी से पूछने या कहने का इंतजार नहीं करता है। जिस प्रकार घर में साँप घुस जाने की जानकारी मिल जाने पर उससे दूर हटने का या उसको घर से बाहर निकालने के लिए किसी से पूछने का या किसी के कहने का इंतजार नहीं किया जाता है अपितु बिना कुछ सोचे-विचारे ही साँप को निकाल दिया जाता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को भी किसी के कहने का या पूछने का इंतजार नहीं करना पड़ता है। वह कुछ बहानेबाजी करके अर्थात् मैं आज के बाद इनका उपयोग नहीं करूंगा या इतने महँगे भाव की वस्तुएँ कैसे फेंक दूँ? ऐसा सोचकर अब आगे नहीं खरीदूँगा ऐसा नहीं कहता है। जिस प्रकार भोजन करते-करते भी यदि यह विष मिश्रित है ऐसी जानकारी मिल जावे तो क्या उसे छोड़ने के बारे में कुछ विचार किया जाता है।

सम्यग्दृष्टि के शृंगार के विषय में विचार करने पर लगता है कि मिथ्यादृष्टि को तो सम्यग्दृष्टि के शृंगार की सामग्रियों का २-४% भी नहीं मिलता होगा। उपसर्गजेता सुकुमाल स्वामी (जब घर में थे) उन वस्त्रों को जो वे एक बार पहन चुके हैं, चाहे वे सोने की कलाकृति वाले हों, तो भी दूसरी बार नहीं पहनते थे। जो आभूषण चाहे वह नवलखा हार हो या रत्नजड़ित कड़े हों, हीरों से मण्डित कुण्डल हों या मोतियों की माला हो, दूसरी बार उन्हें शरीर पर धारण नहीं करते थे। उनके वे आभूषण दूसरे दिन उतार कर सीधे घर के पीछे बनी बावड़ी में फेंक दिये जाते थे। जिस वस्तु का तिलक उनके एक दिन लगा दिया जाता था उस प्रकार और उस वस्तु का तिलक जीवन में वापिस कभी नहीं लगाया जाता था। तद्भव मोक्षगामी राजकुमार जीवन्धर स्वामी के नहाने का उबटन इतना सुगन्धित व आकर्षक होता था कि उसके एक-दो कण कहीं गिर जावें या उनकी दासी आदि उसको लेकर जाती हो तो भ्रमरदलों से उसकी रक्षा करना कठिन हो जाता था अर्थात् उसकी सुगंध का पान करने के लिए सैकड़ों भ्रमर उसके

ऊपर मँडराने लगते थे। आप सोचें जब उनके नहाने का उबटन इतना सुगंधित होता था तो उनके शरीर पर लगाने के इत्र-फुलेल आदि कितने सुगंधित होते होंगे लेकिन इन सबमें कहीं भी जीवहिंसा से उत्पन्न सामग्री का पुट नहीं होता था और न ही उनमें विषय-भोग की गृद्धता अर्थात् उनका उपयोग करने में आसक्ति का भाव ही होता था। सम्यग्दृष्टि स्त्रियाँ भी अपने बालों को मुलायम बनाने के लिए दही, मिट्टी, शिकाकाई आदि पदार्थों से मिले हुए घोल का प्रयोग करती थीं, लेकिन वर्तमान की स्त्रियों के समान शेम्पू (जिसमें निश्चित रूप से अण्डों का प्रयोग किया जाता है) का उपयोग नहीं करती थीं। श्री सुकुमाल की पत्नियों ने रत्नकम्बल के जूते पहने थे, लेकिन चमड़े के जूते कभी नहीं पहने, घड़ी का पट्टा (कमर का पट्टा) रत्नजड़ित लगाया होगा लेकिन चमड़े का नहीं। अच्छे से अच्छे कड़े पहने होंगे लेकिन लाख, हाथीदाँत आदि जीवों के शरीरों से बने हुए जैविक कड़े नहीं। इसी प्रकार उन्होंने सैकड़ों शृंगार की सामग्रियों का उपयोग किया होगा लेकिन उनमें गृद्धता नहीं होने के कारण थोड़ा सा बाह्य निमित्त मिलते ही वे वैराग्य को प्राप्त हो गये, दीक्षा ले ली। शृंगार करते-करते भी राजाओं को जब मुनिमहाराज के आहार के लिए पधारने के समाचार मिल जाते तो वे तत्काल शृंगार करना छोड़कर मुनिराज का प्रतिग्रह करने के लिए चले जाते थे।

इसी प्रकार उन्होंने अपने बच्चों के जन्मदिवस, शादी, विवाहोत्सव आदि के समय किमिच्छिक दान दिया होगा। सोना, चाँदी, मकान-दुकान, वस्त्राभूषण, भोजन की सामग्री आदि जिसको जो आवश्यकता होती थी वे सभी वस्तुएँ दी होंगी, लेकिन शराब की बोतलें, बिस्किट, केक, ठण्डे पेय, लिम्का, पेप्सी, ब्रेड, चॉकलेट आदि मांसाहार से निर्मित भोजन सामग्रियाँ नहीं दी थीं। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि उस समय अर्थात् जब सुकुमाल स्वामी आदि हुए थे तब ये अर्थात् वर्तमान में मिलने वाली जैविक शृंगार की सामग्रियाँ, माँस मिश्रित सौन्दर्य-प्रसाधन की वस्तुएँ एवं मांसाहारी खाने-पीने की वस्तुएँ मिलती ही नहीं होंगी। उस समय वो सभी लोग धर्मात्मा ही होते होंगे। इसलिए ऐसी वस्तुओं का उत्पाद ही नहीं होता होगा तो उनके प्रयोग का प्रसंग ही उत्पन्न नहीं होता है। ऐसी कोई बात नहीं है कि उस समय ऐसी सामग्रियाँ नहीं मिलती होंगी। इस संसार में धर्म का भले ही विच्छेद हो जावे लेकिन पाप का विच्छेद कभी नहीं हो सकता। सम्भव है शाकाहारी जीवों का अभाव हो जावे लेकिन माँसाहारी जीवों का अभाव न कभी हुआ है और न कभी होगा क्योंकि पाप, कषाय, भोग आदि लौकिक कार्य करने के लिए पुरुषार्थ की विशेष आवश्यकता नहीं होती है। पापात्मक भोग-सामग्रियों के बनाने और भोगने में प्रत्येक जीव अनादिकाल से अभ्यस्त है यदि जीव नहीं चाहे तो भी उसमें भोगों के प्रति आकर्षण अपने आप उत्पन्न हो जाता है। यहाँ तक कि पागल, मंद बुद्धि तथा भोले, सीधे-सादे लोगों में भी भोगों की बुद्धि बिना सिखाये ही उत्पन्न हो जाती है। कहने का अर्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव भी अनेक प्रकार के भोग भोगता है, शृंगार करता है लेकिन भोगों में आसक्ति का अभाव होने से वह थोड़ा सा निमित्त मिलते ही उन्हें छोड़ देता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय (लोभ) वाला मिथ्यादृष्टि जीव अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए चाहे वह

धन का लोभ हो या जीवन का, भोगों का लोभ हो या पत्नी-पुत्र का वह दूसरे की बात तो बहुत दूर अपने मित्र, परिजन, कुटुम्ब, भाई-बन्धुओं की भी जान लेने के लिए तत्पर हो जाता है। उस समय वह यह भी नहीं सोच पाता है कि जिस प्रकार मैं दूसरे की जान लेकर धन हड़पना चाहता हूँ उसी प्रकार मेरा मित्र आदि भी मेरी जान लेकर धन हड़पने की योजना बना सकते हैं और यदि ऐसा हो गया तो मैं तथा मेरे मित्र, परिजन दोनों ही मर जायेंगे। यह सारा धन यहीं पड़ा रह जायेगा। अथवा किसी तीसरे के हाथ में चला जायेगा। उसे तो केवल अपना स्वार्थ दिखता है वह स्वार्थ की पूर्ति में अंधा हो जाता है।

एक गाँव में चार चोर रहते थे। उन चारों में घनिष्ट मित्रता थी। वे हमेशा साथ-साथ ही चोरी करने जाते थे। पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से वे अधिकतर सफल ही होते थे। आज तक चोरी में उन्हें जितना धन-माल मिला था उससे भी ज्यादा माल उन्हें आज मिला था। चोरी का धन लेकर वे एक ऐसे घने जंगल में पहुँच गये जहाँ उन्हें कोई देख नहीं पाये। वे धन के बँटवारे का विचार कर रहे थे तभी उनमें से एक ने कहा– भाई, बड़े जोर की भूख लगी है इसलिए पहले अपन लोग भोजन करेंगे उसके बाद धन का बँटवारा। एक चोर को धन की रखवाली करने के लिए छोड़कर शेष तीन चोर भोजन सामग्री लेने के लिए गाँव की ओर चले गये। उन्होंने भोजन सामग्री लाकर चौथे चोर को भोजन तैयार करने के लिए सौंप दी और वे घूमने के लिए चले गये। चौथे चोर ने भोजन बनाते हुए सोचा कि यदि मैं भोजन में जहर मिला दूँ तो सहज रूप से ये तीनों चोर मर जायेंगे जिससे पूरा धन मुझे मिल जायेगा। यही सोचकर उसने भोजन बनाते समय जहर मिला दिया और तीनों चोरों को भोजन के लिए बुलाने गया। उधर तीनों चोरों ने भी सोचा यदि हम भोजन बनाने वाले को मार डालें तो उसके धन का भाग हमें मिल जायेगा। उन्होंने जैसे ही भोजन बनाने वाले चोर को आते देखा तो तलवार से उसे मार डाला तथा जल्दी-जल्दी जाकर गरम-गरम भोजन करने लगे। जैसे ही उन्होंने भोजन किया वे भी तत्काल मरण को प्राप्त हो गये। यही अनन्तानुबन्धी लोभ है जिस कारण उन चारों ने अपने मित्रों को मार दिया और स्वयं भी मरण को प्राप्त हुए।

धार्मिक क्षेत्र में

१. मंदिर में धार्मिक अनुष्ठान हो रहे हों उस समय भी घर में पापड़-खीचले आदि बनाते रहना 'अनन्तानुबन्धी लोभ है' क्योंकि पापड़-खीचले आदि तो समय को टालकर अर्थात् आगे-पीछे भी बनाये जा सकते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेते हुए भी ये कार्य होने की सम्भावना है फिर भी उस समय पापड़ आदि बनाने की योजना बनाना विषयों की आसक्ति ही है।

२. पंचकल्याणक आदि बड़े-बड़े आयोजनों में पंचायत (समाज के व्यवस्थापकों) की तरफ से दुकान बंद करने का नियम है फिर भी छुपकरके या निडर होकर धन कमाते रहना अनन्तानुबन्धी लोभ है। यदि रोज कमाकर रोज खाने वाला ऐसा करे तो फिर भी क्षम्य हो सकता है क्योंकि वह एक दिन भी नहीं कमायेगा तो अपने घर वालों को क्या खिलायेगा?

लेकिन मेरे अनुमान से गरीब व्यक्ति तो ऐसा करता ही नहीं है। गरीब तो पाप से डरता है और समाज में अपनी इज्जत से भी डरता है। धनाढ्य लोग ही अधिकतर ऐसा करते हैं ऐसा करने वाला क्या अतिलोभी नहीं है?

३. साधु-संतों के प्रवचन के समय शादी सम्बन्धी कार्यक्रमों को रखना अर्थात् यदि आठ बजे से प्रवचन होना है तो आठ बजे ही दूल्हा-दुल्हन की होने वाली रस्मों का, किसी की मृत्यु होने के बाद होने वाली तेरहवीं या तीसरे आदि का कार्यक्रम रखना एक प्रकार से अनन्तानुबन्धी कषाय है, क्योंकि ये कार्यक्रम प्रवचन के समय को टालकर आगे-पीछे भी रखे जा सकते हैं।

नोट : यदि आगे-पीछे होने की सम्भावना नहीं हो तो गुरु से क्षमा माँगते हुए आशीर्वाद लेकर कार्य करना पाप से बचने का उपाय है।

४. मंदिर की दुकान, मकान आदि का उचित किराया न देना, पैसों का उचित ब्याज न देना तथा बोली आदि के माध्यम से दान बोलकर समय पर पैसे नहीं चुकाना अनन्तानुबन्धी लोभ ही है।

५. यदि कोषाध्यक्ष है या व्यवस्थापक/कार्यकर्त्ता है तो दान का पैसा बीच में गोल कर देना अर्थात् खा जाना, अल्प मूल्यवाला सामान लाकर अधिक मूल्य का बिल बनाना अनन्तानुबन्धी लोभ है।

६. साधु को आहार में रखी जाने वाली शुद्धि का विवेक नहीं रखते हुए जो भोजन २४ घण्टे के बाद देने के योग्य नहीं है उसको भी लोभ के वशीभूत होकर दे देना। कभी यह सोचकर कि अभी चौबीस घण्टे से आधा घण्टा ही तो ज्यादा हुआ है, इतनी सी देर में कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता है। कभी मुनक्का की मिठाई बनाने में पैसा ज्यादा खर्च होता है इसलिए शक्कर या छुआरा की मिठाई बनाकर साधु के पूछने पर कह देना कि मुनक्का की ही बनाई है अथवा चौके में शक्कर की मिठाई बनी है, साधु ने पूछा किसकी है? तो साधु को जिसका त्याग नहीं है उसकी कह देना, अनन्तानुबन्धी लोभ नहीं भी हो लेकिन उसको उपादेय मानना, वैसा ही बार-बार करते रहना और वैसा करने की प्रेरणा देना, ऐसा करके आनन्द की अनुभूति करना तो मेरे अनुमान से अनन्तानुबन्धी लोभ है।

यदि साधु आहार कर रहे हैं और हमने भूलकर शक्कर की मिठाई दे दी, फिर साधु ने आहार करते-करते ही संकेत करके पूछा कि यह मिठाई किसकी है? क्या शक्कर की है? हमें पता है कि साधु को शक्कर का त्याग है तो उस समय यह कह देना कि मिठाई शक्कर की नहीं है, छुहारा या मुनक्का की है। तो यह न झूठ है और न ही छल है और न ही अनन्तानुबन्धी लोभ है क्योंकि उस समय साधु के निरन्तराय आहार करवाने की मुख्यता है। उस समय यदि मोह के वशीभूत जानबूझ कर ही छुहारा

की कहकर शक्कर की मिठाई चला देता है तो वह लोभ ही है क्योंकि कषायें मोह की ही पुत्रियाँ हैं।

'दानशासनं' ग्रन्थ में आचार्य महाराज कहते हैं –

कोई स्त्रियाँ दान की इच्छा नहीं हो तो घर पर दूध, दही, घी आदि नहीं है अच्छे चावल नहीं है, शाक भाजी नहीं है, दाल नहीं है, नमक नहीं है, मिर्च नहीं है, लकड़ी आदि ईंधन नहीं है, नये बर्तन नहीं है, घर साफ-सुथरा नहीं है, मैंने स्नान नहीं किया है, मुझे मदद करने वाली कोई महिला नहीं है आदि बहाना बनाकर दान नहीं देती हैं यह उनकी अनन्तानुबन्धी कषाय है। जो पात्र के आगमन को सुनकर आँखें लाल कर लेती हैं, क्रोध से मुख को फुला लेती हैं, सिर पीट लेती हैं, जबर्दस्ती बच्चों को, बर्तनों को फेंकती हैं, मुनिराज को खूब गालियाँ देती हैं;

यदि कोई घर में प्रतिग्रह (पड़गाहन) कर ले तो उसे देखकर क्रोधित हो जाती हैं, बिजली के समान गर्जती हैं, अपने धन के खोए हुए के समान रोती हैं, उनका मुँह राहु केतुग्रस्त चन्द्र और सूर्य के समान निस्तेज हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई पुरुष, बच्चे, युवक कोई भी करते हैं तो उनके अनन्तानुबन्धी कही जा सकती है तथा उसी प्रकार कोई स्त्री-पुरुष, पुत्र आदि दान करते हैं उस समय उनके दान की बात सुनकर कोई इस प्रकार के विचार या क्रियाएँ करता है या होती हैं तो उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय से ग्रसित ही समझना चाहिए। **(दा.शा. ८/१५८-६०)**

शंका : रामचन्द्रजी लक्ष्मण के शव को लेकर छह माह तक घूमते रहे तो क्या उनके अनन्तानुबन्धी मोह (लोभ कषाय) नहीं था?

समाधान : भले ही रामचन्द्रजी लक्ष्मण के शव को लेकर छह माह तक घूमते रहे तो भी उनके अनन्तानुबन्धी मोह (लोभ) नहीं था जबकि ऐसा कार्य तो सामान्य मिथ्यादृष्टि या घोर गृहीत मिथ्यादृष्टि भी नहीं करता है जो अनन्तानुबन्धी कषाय से युक्त ही होता है क्योंकि उसके ऐसे कार्य नहीं करने के भी अनेक कारण होते हैं।

सबसे पहले मैं ऐसा करूंगा तो लोग क्या कहेंगे? लोग मुझे मूर्ख पागल समझेंगे। दूसरी बात मोह का मंद उदयहोने से इस प्रकार के कार्य करने के भाव नहीं होते हैं। तीसरी बात बार-बार आपस में झगड़ा, मन-मुटाव, विचारों का टकराव होते रहने से या दूरी होने के कारण अथवा मरने वाले के प्रति अति लगाव नहीं होने के कारण भी इस प्रकार के कार्य करते हुए लोग नहीं दिखाई देते हैं। श्री रामचन्द्रजी में यह कोई कारण नहीं था, मुख्य कारण तो यह था कि बलभद्र और नारायण का ऐसा नियोग ही होता है कि बलभद्र नारायण के शव को लेकर लगभग छह माह तक घूमते ही हैं। इसके बीच में ही वे किसी निमित्त से प्रबोधित होकर शव का दाह-संस्कार कर देते हैं और जैनेश्वरी दीक्षा लेकर स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करते हैं। तीसरी बात-अप्रत्याख्यानावरण कषाय का वासना काल आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में छह माह का बतलाया है। इसलिए वे छह माह के भीतर ही भाई के मोह को छोड़ ही देते हैं। सामान्य व्यक्ति भले ही ऐसे काम करते हुए नहीं दिखाई देते हों तो भी

यदि उनके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है तो वे मिथ्यादृष्टि ही रहेंगे। मात्र लेश्या की विशुद्धि होने के कारण वे ऐसे काम नहीं करते हैं।

सगे भाई को भी मार डालता है

अनन्तानुबन्धी कषाय का भूत सवार हो जाने पर जीव को यह भी भान नहीं रहता है कि मैं किसके साथ क्या व्यवहार कर रहा हूँ और इस व्यवहार का फल भविष्य में किस प्रकार दु:ख देने वाला होगा? कैसे मैं उस दु:ख रूप फल को भोगूँगा? उसे तो मात्र अपने स्वार्थ की पूर्ति करने के विचार बने रहते हैं। धन के चक्कर में कई बार भाई, भाई को मार डालता है, पुत्र पिता को एवं पिता पुत्र के प्राण ले लेता है। यह एक विस्मय की ही बात है लेकन उसमें मुख्य कारण कषाय का आवेश ही है। ग्वालियर में एक सेठ रहता था। उसने अपनी बेटी का विवाह आगरा के एक श्रेष्ठी पुत्र के साथ किया था। सेठ के यहाँ हीरे-जवाहरात का व्यापार होता था। सेठजी के एक बेटा और एक बेटी के रूप में मात्र दो ही सन्तानें थीं। सेठजी अधिकतर माल की खरीदी के लिए मुम्बई, दिल्ली, जयपुर आदि स्थानों पर अपने पुत्र को ही भेजते थे। एक बार उसने (उसके पुत्र ने) जयपुर में हीरे-जवाहरात के गहने खरीदे और सोचा कि कई दिनों से मैं बहिन के घर नहीं गया, बहिन से नहीं मिला हूँ इसलिए आगरा में रात्रि विश्राम कर लेना चाहिए। वह आगरा उतर गया। उसने बहिन के घर पहुँचकर बहिन को अटैची देते हुए कहा- बहिन! यह अटैची अलमारी में अच्छी तरह से संभालकर रखना। इसमें एक करोड़ के आभूषण हैं। मैं अभी जयपुर से खरीदी करके ही आ रहा हूँ। बहिन ने भाई से अटैची लेकर व्यवस्थित अर्थात् सुरक्षित स्थान पर रख दी। भाई ने शाम का भोजन किया और अपने मित्र से मिलने के लिए भानजे को साथ लेकर मित्र के घर की तरफ रवाना हो गया।

इधर भाई के जाने के बाद बहिन ने अटैची को खोलकर देखा। हीरे-जवाहरात के गहनों को देखकर उसके भाव खराब हो गये। उसने अपने एक विश्वासपात्र नौकर को २ लाख रुपये देते हुए कहा- सुन, रात्रि में जो यात्री इस कमरे में सोए उसको मार डालना और उसकी लाश को बोरे में भरकर यमुना नदी में फेंक आना। नौकर ने हाँ कहकर रुपये ले लिये। भाई, जो मित्र के घर गया था, मित्र ने उसको अपने घर पर ही रोक लिया और भानजे को अपने नौकर के साथ बहिन के घर भिजवा दिया। भानजा घर आकर जिस कमरे में मामा के लिए बिस्तर लगे थे वहीं पर सो गया। आधी रात के समय नौकर ने पीछे के दरवाजे से आकर उसको मार डाला और सेठानी के कहे अनुसार लाश को बोरे में भरकर यमुना में फेंककर अपने घर चला गया। प्रात:काल मित्र के यहाँ से भाई आया। मित्र भी साथ था। उसे देखकर बहिन चौंकी लेकिन कुछ कह नहीं पाई। भाई ने कहा, बहिन जल्दी से अटैची दे दो, गाड़ी का समय होने वाला है। बहिन अटैची लाकर भाई को देकर जल्दी-जल्दी उस कमरे में (जहाँ भाई के सोने की व्यवस्था की थी) गई और हाँफती-हाँफती बाहर आकर चिल्लाती हुई बोली – भाई ! भानजे को कहाँ छोड़ आये। भाई बोला - मेरे मित्र का नौकर उसे रात में ही घर पर छोड़ गया था। सुनते ही बहिन पछाड़ खाकर जमीन पर गिर पड़ी...। पुलिस आई। छान-बीन हुई। सच्चाई का पता लगने पर बहिन

और नौकर दोनों को आजीवन कारावास की सजा हुई। यह बहिन का अनन्तानुबन्धी लोभ और मायाचारी का परिणाम था।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के कभी अनन्तानुबन्धी क्रोध तो कभी मान और कभी माया या लोभ प्रधान हो जाते हैं। जहाँ क्रोध होता है वहाँ मान, माया, लोभ भी अवश्य रहते ही हैं।

यदि किसी से कर्जा लिया था उस कर्जे को चुकाने के लिए मकान/जेवर बेचना पड़ा तो उस व्यक्ति को देख-देखकर यह सोचते रहना कि इसके कारण मेरा मकान बिक गया या इसके कारण मुझे मकान बेचना पड़ा। आदि, आदि सोचकर अंदर ही अंदर उसके प्रति कुढ़ते रहना, उसे देखकर या उसकी याद आने पर क्रोधित होते रहना अनन्तानुबन्धी क्रोध द्वेष का परिणाम है। एक लड़की किसी साधु से प्रभावित होकर साध्वी बन गयी। उसे साध्वी बने लगभग २५-३० वर्ष हो गये। साध्वी योग्य भी है, लोकमान्य भी है। उसे मानसिक, शारीरिक आदि किसी प्रकार की कोई तकलीफ भी नहीं है फिर भी उसका भाई उन साधु महाराज की तस्वीर/चित्र देखकर क्रोधित हो जाता है। उसे कहीं भी उनकी तस्वीर दिख जावे तो उसका खून खौल जाता है उसके दिल में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि इनके कारण ही मेरी बहिन घर छोड़कर चली गयी। कभी किसी की विशेष प्रतिष्ठा, मान्यता, संगठन तथा उनके समर्थकों को देखकर इनके कारण ही मेरी अथवा मेरे गुरु की, मेरे पिताजी की, दादाजी, मामाजी आदि की प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही है यह सोचकर उसकी अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा हो रही है, उसकी तस्वीर, बैनर, फ्लेक्स आदि में लगी फोटो को ही हाथ/लकड़ी आदि से कूट देता है, पीट देता है, फाड़ देता है, निकालकर नाली में फेंक देता है, जला देता है, उसका तिरस्कार करता है या ये सभी कार्य करवाता है। ये तीव्र अनन्तानुबन्धी कषाय (द्वेष) के परिणाम हैं। उसमें भले ही छह माह का काल नहीं बीता हो वो भी अनन्तानुबन्धी कषाय ही है क्योंकि वहाँ प्रशम भाव का अभाव है अर्थात् कषायों की उग्रता है, वह भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के विषय में है, वो पक्का अनन्तानुबन्धी कषाय का परिणाम ही है।

सहदेवी की करतूतें

अनन्तानुबन्धी कषाय रूप काले नाग से डसा गया जीव धर्म का अपमान करने में भी नहीं चूकता है। वह गुरुओं को भी कड़वा-मीठा कहने में संकोच नहीं करता है। सुकौशल की माता सहदेवी यद्यपि बहुत धर्मात्मा थी। यदि वह धर्मात्मा नहीं होती तो सुकौशल स्वामी में इतने अच्छे संस्कार कहाँ से आते, कैसे वे ऐसे उपसर्ग में भी समता रख पाते लेकिन मोह का पर्दा उसकी आत्मा पर पड़ जाने से वह जानबूझ कर भी अपना एवं अपने पुत्र का अहित करने में पीछे नहीं हट रही थी। वह अयोध्या के राजा सिद्धार्थ की धर्मपत्नी थी। उस राजा के बत्तीस रानियाँ थीं लेकिन उनमें से वह (सहदेवी) उसे सबसे ज्यादा प्यारी थी। उसने मुनिराज का उपदेश सुनकर कुदेवादि की पूजा करने का त्याग किया था। उसे भगवान की भक्ति के फल में ही पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई थी। जबसे उसने मुनिराज के मुखारविन्द से सुना कि उसका पुत्र जिस दिन मुनिराज के दर्शन कर लेगा तत्काल मुनि बन जायेगा। तबसे यह बात उसके दिल में बहुत

खल रही थी। वह अपने प्यारे पुत्र को मुनि नहीं बनने देना चाहती थी इसलिए उसने नगर की चारों दिशाओं में किसी भी मुनि को नगर में प्रवेश के लिए रोकने में सक्षम पहरेदार नियुक्त किये थे। पहरेदार यद्यपि इस पापात्मक कार्य को नहीं करना चाहते थे लेकिन राजमाता की आज्ञा से उन्हें यह कार्य करना पड़ रहा था। एक दिन वे ही मुनिराज सिद्धार्थ स्वामी जो इस नगर के राजा थे, वर्तमान राजा के पूज्य पिता थे, जिन्होंने पुत्र का मुख देखते ही जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी, जो निकट भव्य थे उस नगर की तरफ आये। उन्हें देखकर पहरेदारों ने नमस्कार किया, वन्दना की, पुञ्ज चढ़ाये और सोचा अहो, इन्होंने हमें जन्म से पाला-पोसा इसलिए ये हमारे पिता तुल्य थे और अब ये परम दिगम्बर जिनमुद्रा को धारण करने वाले धर्मपिता हैं। इनको हम इनके अपने ही नगर में प्रवेश करने से कैसे रोक सकते हैं? इनको रोककर हम कृतघ्नी हो जायेंगे, इसलिए जो होगा हो जायेगा। राजमाता जो हमें दण्ड देंगी, हम भोग लेंगे लेकिन इनको नगर में प्रवेश करने से रोकने का दुस्साहस हम नहीं कर सकते। इस प्रकार विचार करते हुए उन्होंने विनय एवं भक्तिपूर्वक मुनिराज को नगर में प्रवेश करवाया। जब मुनिराज मुख्य मार्ग से होते हुए राजमहल के बाहर से निकले उस समय सुकौशल स्वामी राजमहल में बैठे माँ के साथ नगर की शोभा एवं लोगों की व्यवस्थाएँ अर्थात् जीने की पद्धति देख रहे थे तभी उनकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उन्हें देखकर उनके अन्दर दया उमड़ पड़ी चूंकि उन्होंने पहले कभी मुनिराज के दर्शन नहीं किये थे इसलिए उनके मस्तिष्क में अनेक प्रकार की विकल्प तरंगें उठने लगीं। उन्होंने माँ से पूछा – माँ, क्या अपने राज्य में इतने दरिद्र लोग भी हैं जिनको पहनने के लिए एक लंगोट भी नहीं मिलती? माँ, जब इनको लंगोटी भी नहीं मिलती तो भोजन-पानी और मकान की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। लेकिन इसके साथ एक आश्चर्य भी है कि नग्न और भूखा होकर भी यह इतना संतुष्ट और आकर्षक कैसे लग रहा है? ऐसा लगता है कि यह कोई महापुरुष महापुण्यात्मा हो। माँ, बताओ वह कौन है? सहदेवी ने जैसे ही मुनिराज को देखा उसके अन्दर क्रोध की ज्वाला जलने लगी। उसने कहा – ''बेटा! यह कोई महापुरुष नहीं है, यह तो एक भिखारी है, लोगों को नंगा रह कर लूटता रहता है...।'' उसकी कठोर बातों को सुनकर पास में ही बैठी हुई सुकौशल की धाय माँ को बहुत बुरा लगा, उसने सुकौशल को पूरी सच्ची-सच्ची बात बता दी कि ये तेरे पिता हैं और अभी परमेष्ठी पद में स्थित हैं, ये उस मार्ग के पथिक हैं जो सीधा मोक्ष को जाता है। सुकौशल ने धाय माँ की बात सुनकर माँ के द्वारा अनेक प्रकार से रोके जाने पर भी पूज्य पिता मुनिराज के चरणों में जाकर जिनदीक्षा ले ली। उनके दीक्षा लेने से माँ को बहुत दु:ख हुआ। वह इष्टवियोग आर्त्तध्यान से मरकर एक व्याघ्री बनी और उसने सुकौशल मुनिराज का भक्षण किया। यह अनन्तानुबन्धी कषाय का परिणाम है। इसमें, पहले मुनियों का नगर में आगमन रोक देना, दूसरा मुनिराज के लिए कठोरवचन कह कर उनका तिरस्कार करना और तीसरा मुनिराज का भक्षण कर लेना, ये सब अनन्तानुबन्धी कषाय के ही दुष्परिणाम हैं। फिर भी वह व्याघ्री उन्हीं मुनिराज के समागम से जातिस्मरण को प्राप्त होकर अनन्तानुबन्धी कषाय को छोड़कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुई। यह एक विशेष बात है।

धार्मिक कार्यों में

दुनिया की रीति के अनुसार यदि कोई लौकिक क्षेत्र में अर्थात् धनार्जन, लोकव्यवहार, खाने-पीने, खेलने, भोग भोगने आदि क्षेत्र में कषायों के उद्रेक के कारण अति करे, सीमा का उल्लंघन करे तो कोई आश्चर्य वाली बात नहीं है क्योंकि वहाँ ऐसा होता ही है लेकिन कई लोग धार्मिक क्षेत्र में भी, धार्मिक अनुष्ठानों में जिनके माध्यम से भव-भव के पापों का नाश किया जा सकता है, वहाँ पर भी कषायों के आवेग में बह जाते हैं अर्थात् कषायों के वश में होकर तीर्थयात्रा पर चले जाते हैं, कषायों की पूर्ति के लिए साधु संतों की सेवा-वैयावृत्य करते हैं उन्हें दान देकर अपने आपको धन्य मानते हुए दिखाई देते हैं। कभी लोभ-कषाय की पूर्ति के लिए छल करते हैं तो कभी मान कषाय की पूर्ति के लिए क्रोध और मान कषाय में उलझ जाते हैं। एक व्यक्ति मात्र अपनी पत्नी से पिण्ड छुड़ाने के लिए, पत्नी को पर्वत के ऊपर से धक्का देकर मारने के उद्देश्य से सम्मेदशिखरजी के कठिन पहाड़ पर चढ़ा था। एक लड़की किसी लड़के के साथ भाग जाने के लिए शिखरजी के पर्वत की यात्रा करने गई थी। कई लड़के-लड़कियाँ मात्र एक-दूसरे से मिलने के लिए अर्थात् अश्लील प्रेम की पूर्ति के लिए कुण्डलपुर, सोनागिर, द्रोणगिरी आदि क्षेत्रों पर जाते हैं। ऐसी कई पापात्माएँ एक-दूसरे के साथ मौज-मस्ती करने के लिए साधुओं के पास महीनों रह लेते हैं। कई लोभी जीव साधु के पास आने वाले धर्मात्माओं की जेब काटने के लिए साधुओं के पास रहते हैं, उनकी सेवा करते हैं, भक्ति करते हैं और साधु बनने की भावना करने वालों जैसे दिखते हैं। कई लोग धनाढ्यों से पैसा ऐंठने के लिए अथवा प्रतिष्ठित साधु के दर्शन करवाने, आहार दिलवाने/दिखवाने आदि की दलाली लेकर धन इकट्ठा करने के लिए साधु के यहाँ जाकर व्यवस्थापक, कार्यकर्त्ता बन जाते हैं। वे दिखावटी धर्मात्मा होते हैं। कई लोग मात्र पैसों के लोभ में जिनवाणी का विक्रय करते हैं। वे उसके छपते समय शुद्धि-अशुद्धि का भी ध्यान नहीं रखते हैं, वे तो मात्र पैसों के प्रेमी होते हैं, धन कमाना उनका उद्देश्य होता है। वे अनन्तानुबन्धी से ग्रसित कहे जा सकते हैं अथवा वे लोभी अनन्तानुबन्धी कषाय वाले ही होते हैं क्योंकि इन सब कार्यों को करते हुए उन्हें कभी पाप से भय उत्पन्न नहीं होता है। न कभी इन कार्यों को करने का पश्चाताप ही होता है। किसी के कहने पर वे उत्तर देते हैं कि हम जनता को, धर्मात्मा लोगों को जिनवाणी उपलब्ध कराना चाहते हैं, करवाते हैं अथवा जिनवाणी नष्ट नहीं हो जावे इसलिए उसका रक्षण करना चाहते हैं। ऐसा कहने वाले और करने वालों को मिथ्यादृष्टि कहा जा सकता है।

एक नगर में दो सेठ रहते थे। दोनों मे अगाढ़ प्रेम था। दोनों के आचार-विचार और धार्मिक भावनाएँ लगभग समान थीं इसलिए वे जब भी कोई लौकिक या पारलौकिक कार्य करते तो साथ-साथ मिलकर ही करते थे। एक बार उन्होंने सम्मेदशिखर की वंदना करने का विचार बनाया। उनमें से एक सेठ ने, मैं सम्मेदशिखर की यात्रा करके वहीं बहुत बड़ी पूजा करवाकर आये हुए सभी यात्रियों को मिष्टान्नों का भोजन करवाऊंगा। यही सोचकर उसने इस सब में लगने वाले खर्च के लिये सोने-चाँदी के सिक्के बनवाकर एक लाठी में भर लिए और उसको एक चूड़ी वाले ढक्कन से बंद कर दिया। निश्चित समय

पर दोनों मित्र यात्रा के लिए रवाना हुए। यात्रा के बीच में उन्हें एक साथी और मिल गया। वह सज्जन धर्मात्मा जैसा लगता था इसलिए उन्होंने उसको भी अपने साथ ले लिया। रास्ते में लाठी की सुरक्षा करने की विधि से तीसरे मित्र ने अनुमान लगा लिया कि इसमें काफी धन होना चाहिए। उसने उसकी जाँच करने के लिए एक दिन सेठ से छुपकर लाठी उठाई और उसको चारों तरफ से देखा तो उसे उसका ढक्कन दिखाई दिया। उसने ढक्कन खोला तो उसमें से सोने-चाँदी के सैकड़ों सिक्के निकलने लगे। सिक्कों को देखकर उसके भाव बिगड़ गये। उसने लाठी में से पूरे सिक्के निकालकर सिक्कों के वजन वाले लोहे के टुकड़े लाकर उस में भरकर ढक्कन को यथावत् बंद कर दिया और जहाँ से उठाई थी वहीं पर रख दी। लाठी के वजन में कुछ अंतर नहीं आने से तथा तीनों को एक-दूसरे के ऊपर विश्वास होने से किसी प्रकार की शंका उत्पन्न नहीं हुई। तीनों ने शाश्वत तीर्थक्षेत्र की वन्दना की और तीसरा मित्र वन्दना करके अपने घर लौट आया। सेठ ने वन्दना के उपलक्ष्य में यात्रियों को भोजन करवाने के लिए कमेटी के अध्यक्ष से मिलकर भोजन सामग्री मँगवाकर अध्यक्ष से बिल लेकर पैसा चुकाने के लिए जब अपने कमरे में जाकर लाठी का ढक्कन खोला तो उसमें से जैसे ही लोहे के टुकड़े निकले तो वह समझ गया कि यह साथ में चलने वाले दोनों मित्रों में से किसी एक की काली करतूत है। पता नहीं किसने यह महापाप किया है, अब मैं क्या करूँ, मैं इतना पैसा कहाँ से चुकाऊँगा? यदि मैं पैसा नहीं चुकाऊँगा तो मेरी इज्जत बिगड़ जायेगी। इज्जत बिगड़ने के बाद इस संसार में जीने से भी क्या मतलब? इस प्रकार विचारों में उलझकर अन्त में उसने वहीं कुएँ में गिरकर आत्महत्या कर ली और अपने मित्र से काली करतूत का बदला लेने के लिए जिस मित्र ने धन निकाला था उसकी पत्नी के गर्भ में आया और नौ महीने के बाद जन्म लेकर सेठ को आनन्दित करने लगा। घर में इकलौता पुत्र होने से सेठ-सेठानी ने उसका अति लाड़-प्यार से पालन-पोषण किया। फिर भी बालक शिष्ट, समझदार एवं सर्वगुणसम्पन्न था अर्थात् लाड़ प्यार के बाद भी उसमें किसी भी अवगुण ने प्रवेश नहीं किया था।

जब वह अपने पैरों पर खड़ा हो गया तब सेठ ने उसकी शादी का विचार किया। तब उसने कहा- पिताजी, अपन सब मिलकर पहले सम्मेदशिखर की वन्दना करेंगे, वहाँ आये हुए यात्रियों को भोजन करवायेंगे उसके बाद शादी के बारे में विचार करेंगे। पुत्र की बात सुनकर सेठ बहुत खुश हुआ। सेठ ने पुत्र की इच्छा के अनुसार सम्मेदशिखर की यात्रा की और वहाँ आने वाले सभी यात्रियों को भोजन करवाया। उसके बाद वह बोला - पिताजी ! अब मैं जा रहा हूँ। सेठ ने कहा - कहाँ जा रहे हो? बेटे ने कहा - पिताजी! मैं जिस उद्देश्य से आया था वह उद्देश्य पूरा हो गया। मैं पूर्व भव में शिखरजी की वंदना के उपलक्ष्य में यात्रियों को भोजन करवाने के लिए पैसा लेकर यहाँ आ रहा था तब तूने वो पैसा बीच रास्ते में ही चुरा लिया था, उस पैसे को वसूल करने और अपनी भावना को पूरी करने के लिए आया था। अब वह सब कुछ हो गया इसलिए मैं जा रहा हूँ। ऐसा कहते-कहते उसके प्राण निकल गये। इसमें भले ही धार्मिक भावनाएँ थीं किन्तु वैर लेने के भाव होने से अनन्तानुबन्धी कषाय ही थी।

दूसरी बात, गहराई से सोचा जाये तो दोनों के अनन्तानुबन्धी कषाय थी क्योंकि एक ने

सम्मेदशिखरजी जैसे पवित्र क्षेत्र की यात्रा के समय इतना बड़ा छल किया था, चोरी की थी और यह सब करने के बाद भी उसे कभी उस बात का पश्चाताप नहीं हुआ था। यदि उसको पश्चाताप होता तो वह सोचता कि अहो, मैंने इतने से पैसों के लोभ में आकर उसकी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया, फलत: वह आत्महत्या करके मर गया, मुझे धिक्कार है। वह पूरा पैसा मित्रकी भावना के अनुसार यात्रियों को भोजन करवाने में खर्च करता अथवा वह पैसा उसकी पत्नी-पुत्र को देकर ऋणमुक्त हो जाता। लेकिन उसने ऐसा कुछ नहीं किया इसलिए वह भी अनन्तानुबन्धी कषाय से ग्रसित ही कहलाया। दूसरे ने बदला लेने के लिए निदान किया था इसलिए उसके भी अनन्तानुबन्धी कषाय कहलायी।

अनन्तानुबन्धी राग रूप भी होती है

अनन्तानुबन्धी कषाय मात्र द्वेष रूप ही हो, ऐसी बात नहीं है। यह राग रूप भी होती है। जिस पदार्थ को आज से १०-२० वर्ष पहले खाया था, देखा था, सुना था, सूंघा था, उसका राग, उसका आनन्द आज तक आते रहना अनन्तानुबन्धी कषाय है। मैंने वह वस्तु जो १०-२० वर्ष पहले खायी थी वैसा आनन्द तो आज तक नहीं आया और न ही ऐसी स्वादिष्ट वस्तु खाने को ही मिली, तथा लगता है कि शायद आगे भी कभी ऐसी वस्तु खाने को मिलेगी। इसी प्रकार कहीं घूमने के लिए गये वहाँ कोई बगीचा देखा या पिक्चर देखने गये, किसी मनोरंजन के स्थान पर घूमे, रहे, मौज-मस्ती की क्रीड़ाएँ कीं, उनको याद करके चाहे मुझे कर्जा लेना पड़े, चाहे भाई-पिताजी आदि से लड़ना पड़े और चाहे मुझे किसी के साथ आफत मोल लेनी पड़े तो भी एक बार तो मैं पुन: वहाँ अवश्य जाऊँगा, वह वस्तु अवश्य खाऊँगा, इस प्रकार के विचार अनन्तानुबन्धी राग के परिणाम हैं। एक बार एक व्यक्ति किसी दूसरे प्रान्त में साधु के दर्शन करने गया। वहाँ उसने भोजनशाला में भोजन किया। उस भोजन में एक मिठाई उसे बहुत पसन्द आयी। उसने वहीं उस मिठाई को बनाने की विधि सीख ली। उसने अपने घर जाकर कई बार वह मिठाई बनाई, बनवाई लेकिन कोई भी वैसी मिठाई नहीं बना पाया। १५-१६ वर्ष के बाद पुन: वह उसी स्थान पर साधु वर्ग के दर्शन करने पहुँचा तो उसने कहा - पूज्यश्री! मैं १०-१२ वर्ष पहले यहाँ आया था तब जो मिठाई मिली थी, खायी थी, वैसी मिठाई तो न आज तक मिल पायी है और न ही मेरे घर पर बन ही पायी। मैंने सोचा था कि आप यहाँ विराजमान है तो वह मिठाई खाने को मिल ही जायेगी इसलिए मेरे पास समय नहीं था, घर वाले हाँ भी नहीं भर रहे थे, फिर भी मैं उसी के लोभ में आ गया लेकिन आज भी वैसी मिठाई खाने को नहीं मिली। सच में उसके स्वाद को भूला नहीं जा सकता; कुछ नहीं आज नहीं, तो कभी तो खाने को अवश्य मिलेगी। यह अनन्तानुबन्धी राग है।

इसके साथ यदि वह सोच लेता कि मैंने ऐसी मिठाइयाँ अनन्त बार खाई हैं यह तृष्णा समाप्त नहीं हो सकती, मैं व्यर्थ ही पुन:पुन: उनके भोग करने का भाव करता हूँ। हे भगवन्, मुझे सद्बुद्धि दो, मेरे ऐसे भाव समाप्त हो जावें, मेरी तृष्णा समाप्त हो जावे। इस प्रकार उन भोगों के प्रति हेय भाव उत्पन्न हो जाता तो वह अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होती, चाहे वह बार-बार उसको खाता, उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता तो भी मिथ्यादृष्टि नहीं होता क्योंकि वह उसे उपादेय नहीं मानता है। इस प्रकार के विचार

चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं मिथ्यात्व मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होता है।

एक महिला के पति को शान्त हुए अर्थात् संसार से विदा हुए लगभग १२ वर्ष हो चुके थे तो भी उसे जब भी कोई साधु, त्यागी, व्रती, पण्डित, धर्मात्मा लोग मिल जाते तो वह उन्हें अवश्य कहती कि- वे (मेरे पति) मुझे छोड़कर क्यों चले गये, उन्होंने शादी के समय नियम लिया था कि मैं जीवन भर तुझे नहीं छोडूंगा। फिर वे मुझे छोड़कर क्यों चले गये? उन्होंने अपना वचन भंग क्यों किया? यह अनन्तानुबन्धी राग का परिणाम है। इसी प्रकार अपने प्रिय पुत्र पत्नी आदि का वियोग हो जाने पर अथवा अपहरण हो जाने पर या भाग जाने पर या मर जाने पर उसके गुणों को याद कर-करके रोते रहना अथवा वर्षों-वर्षों तक जहाँ - कहीं और जिस किसी में वही-वही दिखते रहना, जिस किसी के सामने उसी-उसी की कथाएँ कहते रहना अनन्तानुबन्धी राग का परिणाम है। हाँ समय-समय पर उसको ढूंढना/ढुंढवाना अपना कर्त्तव्य है लेकिन उसकी याद में खाना-पीना भूल जाना, आधे पागल हो जाना तो अनन्तानुबन्धी कषाय ही है।

रस के राग से सुभौम रसातल गया

सुभौम चक्रवर्ती के जयसेन नामके रसोइये ने जब उसे गरम-गरम खीर परोस दी तो उसके खाने से उसका (चक्रवर्ती का) मुँह जल गया जिससे उसने गुस्से से खीर के बरतन को रसोइये के मुँह पर मार दिया। जिससे रसोइया मरकर लवणसमुद्र में व्यंतर देव हुआ। विभंगावधिज्ञान से अपने मरण का कारण जानकर चक्रवर्ती से बदला लेने के लिए वह एक तापसी का रूप बनाकर अच्छे मीठे फल लेकर चक्रवर्ती के पास पहुँचा। चक्रवर्ती उसके फल खाकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा- हे तापसी! आप इतने मीठे फल कहाँ से लाये हैं और ये कहाँ मिलते हैं? तापसी ने कहा- राजन्! समुद्र के बीच में एक छोटा सा टापू है वहीं मेरा घर है, आप मुझ गरीब पर कृपा कर मेरे घर को पवित्र करें तो मैं आपको बहुत से ऐसे-ऐसे और भी मीठे फल भेंट करूंगा। मेरे यहाँ मीठे-मीठे फलों के बहुत सारे बगीचे हैं। चक्रवर्ती जिह्वा इन्द्रिय के विषय-राग की आसक्ति में उस तापसी (व्यंतर) के साथ जाने को तैयार हो गया। जब तापसी उसे लेकर समुद्र के बीच में पहुँचा तब उसने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करके कहा - पापी, तू जानता है कि मैं तुझे यहाँ क्यों लाया हूँ? यदि नहीं जानता है तो सुन - मैं तेरा जयसेन नामका रसोइया हूँ, तूने मुझे निर्दयता से गरम खीर मेरे शरीर पर डालकर मार डाला था। अब मैं उसी का बदला लेने के लिए तुझे यहाँ लाया हूँ। मैं तुझे इस समुद्र में डुबोकर मारूँगा, बता तू भाग कर कहाँ जा सकता है, कैसे अपनी रक्षा कर सकता है। अब तो तेरे बचने का केवल एक ही उपाय है कि- तू इस पानी में पंच नमस्कार मंत्र अर्थात् णमोकार मंत्र लिखकर अपने पाँवों से मिटा दे तो मैं तुझे छोड़ सकता हूँ अन्यथा तेरी मौत निश्चित है। व्यंतर के वचन सुनकर जीवन के लोभ में उस मूर्ख चक्रवर्ती ने पानी पर णमोकार मंत्र लिखकर मिटा दिया फलत: वह मर कर सातवें नरक में गया। यहाँ रसोइये की द्वेष रूप अनन्तानुबन्धी कषाय थी; और चक्रवर्ती की रसना इन्द्रिय सम्बन्धी भोगों की आसक्ति रूप एवं जीवन बचाने के लिए राग रूप अनन्तानुबन्धी कषाय थी इसी कारण उसने बिना सोचे-समझे अनजान

व्यक्ति के साथ अकेले ही समुद्र के बीच में जाना स्वीकार कर लिया और णमोकार मंत्र जैसे महामंत्र को पैरों से मिटाने जैसा महापाप करने में भी संकोच नहीं किया।

कोई अचेतन धन-सम्पत्ति, मकान-दुकान, वस्त्र-आभूषण आदि के खो जाने पर या बिक जाने पर उसके विषय में सोच-सोचकर ५०-६० वर्ष के बाद भी ''अरे मेरा इतना अच्छा मकान था, इतने मूल्यवान आभूषण थे, हमें बेचने पड़े'' आदि-आदि भाव अनन्तानुबन्धी राग के भाव हैं। इसी प्रकार अपने पति, पत्नी, पुत्र या विशिष्ट इष्ट जनों का वियोग हो जाने पर अब इस संसार में जीने से क्या मतलब, यह सोचकर पागल हो जाना, हृदयाघात हो जाना अथवा स्वयं गोली खाकर, फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लेना अनन्तानुबन्धी कषाय का परिणाम है।

प्रश्न : अनन्तानुबन्धी कषाय पत्थर की लकीर के समान होती है तो क्या वह कभी भी समाप्त नहीं हो सकती है?

उत्तर : यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय पत्थर की लकीर के समान होती है फिर भी उसे समाप्त किया जा सकता है। यदि उसको कभी समाप्त नहीं किया जा सकता हो तो संसार में कोई भी मोक्ष नहीं जा पायेगा, क्योंकि प्रत्येक जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि-अनन्तानुबन्धी कषाय वाला ही है। जितने भी सिद्ध हुए हैं वे भी भूतकाल में मिथ्यादृष्टि ही थे उनके भी पत्थर पर उकेरी गयी रेखा के समान ही कषायें थीं फिर भी उन्होंने पुरुषार्थ किया जिससे उनकी कषायें जड़-मूल से नष्ट हो गयी, वे सम्यग्दृष्टि बन गये और क्रमश: कर्मों का नाश करके परम सिद्ध बन गये। दूसरी बात प्रथमोपशम सम्यक्त्व तो अनादि मिथ्यादृष्टि को अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय वालों को ही उत्पन्न होता है। अनन्तानुबन्धी कषाय वाले ही तीन करण रूप परिणामों के द्वारा इन कषायों का उपशम करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार कठोर और मजबूत पत्थर में उकेरी हुई रेखा को भी पत्थर से घिस-घिस कर समाप्त किया जा सकता है अथवा उस पत्थर को ही जलाकर राख बनाया जा सकता है उसे पीस-पीस कर सीमेन्ट जैसा पतला (बारीक) चूर्ण बनाया जा सकता है। उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी को भी नष्ट किया जा सकता है यह बात अलग है कि ऐसा करना अति दुष्कर कार्य है लेकिन सही दिशा में किया गया पुरुषार्थ अवश्य फलित होता है।

अनन्तानुबन्धी को जीतने का बाह्य पुरुषार्थ

अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशम यद्यपि करण लब्धि के बिना कभी नहीं हो सकता। अनन्तानुबन्धी के उपशम के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। उस करणलब्धि की प्राप्ति के लिए पूर्व भूमिका के रूप में क्षयोपशमादि चार लब्धियाँ कही गयी हैं। इन चार लब्धियों की प्राप्ति भी कोई सामान्य सी बात नहीं है। इन चार लब्धियों के लिए वास्तव में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति, श्रद्धा का होना अनिवार्य है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति को प्राप्त करने के लिए अथवा उनकी श्रद्धा के लिए अथवा उनकी श्रद्धा रखने वालों को भी अनन्तानुबन्धी को छोड़ने के लिए ये लब्धियाँ करना आवश्यक है क्योंकि सच्चे देवादि की श्रद्धा वाला व्यक्ति भी यदि किसी के प्रति वैर परिणाम रखता है,

किसी के साथ बोल-चाल बंद रखता है, किसी के अपराध कर देने पर अर्थात् बुरा कर देने पर कड़वा मीठा व्यवहार हो जाने पर उसे क्षमा नहीं करता है, क्षमा नहीं माँगता है तो उसको सम्यक्त्व की बात तो बहुत दूर, मेरे अनुमान से उसके चार लब्धियाँ भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि ऐसा नहीं करना तीव्र कषाय का परिणाम है। चाहे उसके तात्कालिक तीव्र कषाय नहीं दिखती हो लेकिन अन्दर ही अन्दर वह कैंसर के रोग के समान अपना काम करती रहती है और समय पाकर उसका विस्फोट अवश्य ही होता है। इसलिए ये कार्य तथा और भी जो अनन्तानुबन्धी कषाय के लक्षण में कहे गये हैं वे सब कार्य छोड़ना अति आवश्यक हैं। इनको छोड़े बिना कभी सम्यक्त्व की भूमिका नहीं बन सकती है। अब प्रश्न यह है कि हमारी किसी से लड़ाई आदि हो जावे तो हम उससे किस प्रकार समझौता करें? इसके उत्तर रूप यहाँ पर कुछ उपाय लिखे जाते हैं –

१. आपके साथ या आपका किसी के साथ ऐसा कुछ हो जावे तो पहली बात आप उससे बोलना बंद नहीं करें। यदि कभी बोलना बंद कर दिया है तो महावीर जयन्ती, दीपावली, क्षमावाणी, साधु के आहार, सेवा-वैयावृत्य आदि किसी बहाने से उससे जयजिनेन्द्र कर लें। भोजन के लिए कह रहा है तो कर लें, आप यह नहीं सोचें कि उसने मेरे बहुत बार कहने पर भी नहीं खाया तो मैं क्यों खाऊँ?

२. आपसे मनमुटाव वाला कहीं बाहर गाँव में रहता है तो इन्हीं दिनों में फोन, पत्र आदि के माध्यम से क्षमा माँग लें।

३. आप यह नहीं सोचें कि वह क्षमा करेगा ही नहीं, वह कभी किसी को क्षमा करता ही नहीं, मैं उससे क्षमा माँग भी लूँ तो भी वह कुछ दिनों में पुन: लड़ पड़ेगा। वह क्षमा करेगा या नहीं इस बात की चिन्ता आपको नहीं करना है। आपको तो यह देखना है कि मैंने उसे क्षमा किया है या नहीं, यदि आपने क्षमा कर दिया है तो आपकी अनन्तानुबन्धी अवश्य खतम होगी। कमठ ने भगवान पार्श्वनाथ को क्षमा नहीं किया तो भी भगवान पार्श्वनाथ का सम्यक्त्व नष्ट नहीं हुआ, इनके अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं आया।

४. आपकी किसी से बनती नहीं है अर्थात् आपके जिससे विचार कम मिलते हैं या नहीं मिलते हैं उनसे बहुत ज्यादा व्यवहार नहीं रखें, ज्यादा नहीं बोलें, मात्र जयजिनेन्द्र से काम चलावें। उससे दूर रहें, उसकी बात के बीच में ज्यादा सलाह नहीं दें ताकि बार-बार लड़ाई का मौका नहीं आवे।

५. किसी ने आपको अपने यहाँ शादी, जन्मदिवस आदि कार्यक्रमों में नहीं बुलाया हो या आपने उसको अपने कार्यक्रमों में नहीं बुलाया है तो भी यदि वह अपनी गलती को स्वीकार करता है, पश्चाताप करता है, पुन: रिश्ते जोड़ना चाहता है तो आप अवश्य जावें और इसी प्रकार कषाय के आवेश में आपने नहीं बुलाया और अब आपके भावों में निर्मलता आयी है तो आप उसे अवश्य बुलावें।

६. यदि कोई तीसरा अर्थात् आप दोनों के बीच के रिश्तेदार, हितैषी, गुरु आदि कोई आप दोनों के झगड़े को मिटाने की कोशिश करें तो आप गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ें अर्थात् उनको खूब सारी पुरानी बातें सुनाकर समझौता करने में बहाने नहीं बनायें, समझौते से दूर नहीं भागें, क्योंकि भूतकाल की घटनाओं में अब कुछ भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। अब तो अपने भाव सुधार करके भविष्य को सुधारा जा सकता है, उज्ज्वल बनाया जा सकता है। आप भविष्य सुधारने का लक्ष्य बनाकर समझौते को स्वीकार कर लें।

७. जिससे आपकी लड़ाई हुई है उससे रास्ता काटकर निकलना, उसके सामने आते ही दृष्टि को नीचे कर लेना, धार्मिक क्षेत्र तक में उसके पास में नहीं बैठना, भले ही हम स्वाध्याय नहीं सुनें, पूजा नहीं करें लेकिन उसके पास बैठकर नहीं करेंगे। भले ही हम धार्मिक कार्य छोड़ दें, रिश्तेदारी की चिन्ता भी छोड़कर जहाँ वह गया है वहाँ नहीं जाना आदि कार्य नहीं करेंगे, क्योंकि ऐसा करने से आपकी लड़ाई-कषायें तीव्र होती जायेंगी, एक-दूसरे से दूरी बढ़ती जायेगी। सामने वाले का कुछ बिगड़े या नहीं आपके भावों में इस प्रकार के छुपने के भावों से आपका भव अवश्य बिगड़ेगा।

८. पुराने अर्थात् बचपन में घटी हुई दु:खद घटनाओं को याद करना, किसी के द्वारा किये गये अपमानजनक व्यवहार का स्मरण, संघर्ष और समस्याओं का चिन्तन करते रहना आदि कषायों को पुष्ट करने वाले विचार हैं, कभी ऐसा प्रसंग आ जाने पर अपनी रामकहानी शुरू कर देना कषायों को पुष्ट करने वाली वाचिक क्रिया है तथा उन बातों के स्मरण आते ही आँखें लाल हो जाना, हृदय की धड़कन बढ़ने लगना, आकुल-व्याकुल होकर इधर-उधर बिना प्रयोजन भ्रमण करने लगना, होठ काँपने लगना आदि कषायों की पोषक कायिक चेष्टाएँ हैं। इन सबसे बचने के लिए, कषायों का शमन करने के लिए जैसे ही आपके स्मृति पटल पर पूर्व की दु:खप्रद स्मृतियाँ उभरने लगे आप अपना उपयोग परिवर्तित कर दें अर्थात् उन बातों को छोड़कर अच्छे विचार करना प्रारम्भ करके अथवा सीताजी, सती अंजना, सती मनोरमा आदि के साथ हुए दुर्व्यवहारों से तुलना करें, उनकी अपेक्षा आपके साथ हुआ ही क्या है? आप इन सबके साथ-साथ अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के फल का विचार करें क्योंकि अपने द्वारा किये हुए कर्मों का ही फल मिलता है, दूसरे के द्वारा किया हुआ नहीं यदि मैं कर्मों के फल में द्वेष, दु:ख और कषाय करूँगा तो पुन: ऐसे ही दुष्कर्मों का बंध होगा और भविष्य में उनका फल भी पुन: ऐसा ही दु:खप्रद होगा। अथवा इस प्रकार प्रसंग आ जाने पर आप ऐसे स्थान को छोड़ दें या बात को बदल कर अन्य चर्चा प्रारम्भ कर दें। इन दोनों से अर्थात् मानसिक और वाचिक कलुषता रुक जाने पर कायिक चेष्टाएँ तो सहज ही सम्भल जायेंगी। आप विचार करें अपने किये हुए कर्म का उदय आने में कोई न कोई बाह्य निमित्त तो अवश्य होगा, ही वह चाहे चेतन हो या अचेतन। यदि अचेतन

निमित्त से वह कर्म उदय में आता तो क्या मैं उस पर गुस्सा करता, नहीं, तो फिर इस चेतन निमित्त पर गुस्सा क्यों किया जाय? मैंने जो किया अर्थात् मेरे अन्दर जो कषाय उत्पन्न हुई वह मैंने गलत किया, अब मैं ऐसा नहीं करूँगा आदि रूप में पश्चाताप करे ताकि कषाय समाप्त हो जाये।

और भी अनेक प्रकार की विधियाँ हैं जो हमारी कषायों को उपशमित कर सकती हैं अथवा कषायों को पुष्ट होने से हमें बचा सकती हैं। उनमें से किसी भी विधि का उपयोग करके हमें इन कषायरूपी शत्रुओं से अवश्य बचना चाहिए।

उपर्युक्त विधियों में से हम कोई भी विधि अपनावें हमें लाभ ही होगा। यदि हम धार्मिक दृष्टि से देखें तो किसी भी कषाय की वासना ६ माह से ज्यादा रह जाने पर सम्यक्त्व हो भी तो नष्ट हो जाता है फिर ऐसे व्यक्ति को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो विचारणीय है ही। ऐसा विचार करके हम संसार-परिभ्रमण मिटाने के लिए यदि किसी से क्षमा माँगते हैं या किसी को क्षमा करते हैं तो पाँचों अंगुलियाँ घी में हैं क्योंकि इससे तो लौकिक और पारलौकिक दोनों सुख मिलते हैं। लेकिन आप शारीरिक दृष्टि से भी अर्थात् कषाय करने से/वैर बाँधे रखने से हृदयाघात, उच्च रक्तचाप, शुगर, सिरदर्द आदि अनेक प्रकार की बीमारियाँ होती हैं; वे बीमारियाँ मुझे न हों, मैं स्वस्थ रहूँ। इसलिए भी यदि आप क्षमा माँगते हैं और क्षमा करते हैं तो आपका स्वास्थ्य तो ठीक रहेगा ही, इसके साथ आप कमठ के समान दूसरे का बुरा करके, दूसरे को तकलीफ देकर नरकगति के कष्टों को नहीं भोगेंगे और बदला लेने के लिए साँप, व्याघ्र, श्याल, शेर आदि दुष्ट परिणाम वाले तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होंगे। यह लाभ तो आपको साक्षात् होगा और कषाय की मंदता के कारण सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के चरणों की आराधना का भाव होगा जिससे भविष्य में आपको भी मोक्ष का मार्ग मिलेगा। आप भी रत्नत्रय धारण करके मोक्ष को प्राप्त कर लेंगे। इसलिए आप भले ही किसी भी अपेक्षा क्षमा करें लाभ ही लाभ है। अत: आपको क्षमा कर ही देना चाहिए।

नीचे इन विधियों का उपयोग करने वाले कुछ लोगों के जीवन की घटनाएँ दी गई हैं। कुछ वैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों के मन्तव्य भी दिये गये हैं। ये सब धर्म से नहीं जुड़ने वाले लोग हैं फिर भी इन्होंने इनका उपयोग करके जीवन में शांति और स्वास्थ्य-लाभ लिया है इसलिए इनके दृष्टान्त यहाँ दिये गये हैं। हम तो धर्मात्मा हैं। हमें अपनी कषायों को मिटाने का प्रयास अवश्य करना चाहिए ताकि हमारा मनुष्य भव, उच्चकुल तथा जिनधर्म का पाना सार्थक हो जावे।

एलिजाबेथ नासाउ ने अपनी एक अच्छी महिला मित्र को उसके जन्मदिवस पर बधाई देने के लिए फोन लगाया। किन्तु बधाई स्वीकार के स्थान पर उसने उस पर शाब्दिक आक्रमण करके उसको हक्का-बक्का कर दिया। उस महिला मित्र ने उसे बहुत खरी-खोटी सुनाई और अपनी नाराजगी की एक लम्बी सूची गिना दी। नासाउ समझ नहीं पायी कि आखिर उसने ऐसा क्यों किया? इसलिए उसे अपनी मित्र पर बहुत गुस्सा आया और अन्दर में मित्रता में दरार आ जाने की सम्भावना से दु:ख भी हुआ। उसने उसके व्यवहार से खिन्न होकर उसी दिन से अपनी मित्र से बोलना बन्द कर दिया। अब जब भी

उसे वह मिलती/दिखती उसके हृदय की धड़कन बढ़ जाती थी, उसके अन्दर क्रोध की आग भभक उठती थी, उसके जीवन में इस कारण बहुत अशान्ति हो गयी और वह बेचैन रहने लगी। एक दिन उसको जब वह मिली तो उसने उसको रोककर कहा कि आपने जन्मदिवस की बधाई देते समय जो कड़वी-मीठी बातें सुनाई उसका कारण मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया। वे बातें मुझे बहुत बुरी लगीं। इतनी बातें सुनकर भी मित्र ने कोई प्रतिकार नहीं किया। उससे कहने का कोई सार नहीं निकला लेकिन उससे बोल लेने के कारण उसको स्वयं को बहुत शांति की अनुभूति हुई। नासाउ का कहना है कि अब वह मेरे सामने ही नहीं पास में आकर बैठ भी जाये तो मेरी धड़कन नहीं बढ़ती है, क्रोध की आग नहीं भड़कती है। यह भी एक उपाय है।

एक महिला अपने पिताजी की कार चलाने की विधि से बड़ी परेशान थी। उसने एक दिन अपने पिता से कहा - पिताजी, अब आप कार चलाना बंद कर दीजिए, क्योंकि आपके कार चलाने की विधि दिन-प्रतिदिन खतरनाक होती जा रही है। उसकी बात सुनकर उसके पिताजी इतने नाराज हुए कि वे क्रोध से काँपने लगे और बोले – मैं बचपन से कार चलाता रहा हूँ। आज तक मुझे किसी ने नहीं टोका। आज तुमने इतना साहस कैसे कर लिया? इस प्रकार सैकड़ों बातें सुनाते हुए यहाँ तक कह दिया कि अब मैं पुन: कभी तेरी सूरत भी नहीं देखना चाहता हूँ...। वह महिला अपने पिताजी के इस व्यवहार पर बहुत क्रोधित हुई। उसने पिता के यहाँ जाना-आना, बोलना तक बन्द कर दिया। लगभग सात माह निकल गये। जब-जब प्रकरण आया, स्मरण आता, पिता की याद आती तब-तब उस दिन पिता के द्वारा किया गया व्यवहार उसके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगता। उसका रक्तचाप बढ़ जाता। उसके हृदय की धड़कन तेज हो जाती। उसके दिल में उथल-पुथल मच जाती। उसका मन क्षुब्ध हो उठता। एक दिन उसने सोचा पिताजी बड़े हैं, वे मुझे बहुत प्यार करते हैं, मुझे उन पर इस प्रकार क्रोध नहीं करना चाहिए। एक बार मुझे उनके पास जाकर क्षमा माँग लेना चाहिए। वे अवश्य मुझे क्षमा कर देंगे। वह अपने पिताजी के पास जाकर बोली - पिताजी ! मैंने आपको कार चलाने के लिए मना करके जो विकल्प करवाया उसके लिए मैं क्षमा चाहती हूँ। मुझे बहुत खेद है कि मैंने आपको दु:खी किया। उसकी बात सुनकर पिता ने उसे अपने गले लगा लिया। उस दिन से उनके प्रेम रिश्ते पुन: स्थापित हो गये। विशेष यह हुआ कि उस महिला के दिमाग में उत्पन्न होने वाली उथल-पुथल समाप्त हो गयी।

एक महिला को उसके पति ने तलाक दे दिया। उसकी एक बेटी थी। उसके पास आर्थिक दृष्टि से कोई व्यवस्था नहीं थी इसलिए उसके मन में निराशाजनक हताशा उत्पन्न हो गयी थी। उसके मन में अपने पति के प्रति बड़े क्रोध के भाव रहते थे। वह उससे बहुत घृणा करती थी। उसको क्रोध इस बात का था कि परस्पर सम्बन्धों की दरार ने किस प्रकार उसका भविष्य बर्बाद कर दिया। उसके लम्बे समय तक इस प्रकार के क्रोध के कारण वह हमेशा तनावग्रस्त एवं कड़ेपन से रहने लगी, लगातार सर्दी और हमेशा थकावट का अनुभव करने लगी। उसको किसी ने समझाया कि तुम इस क्रोध को छोड़ दो, सब बीमारियाँ ठीक हो जायेंगी। उसने उनके कहे अनुसार अपने पूर्व पति को फोन किया कि सब कुछ

ठीक-ठाक चल रहा है। इतने मात्र से उसने अपना अनुभव बताया कि- इनसे इतना सा फोन करने पर मुझे लगा, मानो मेरे कन्धों से एक बड़ा बोझ उतर गया जिससे मैं अपेक्षाकृत अपने को अधिक स्वस्थ अनुभव करने लगी। विद्वान् लस्किन कहते हैं कि क्षमा माँग लेने से बैरपूर्ण भावनाएँ सकारात्मक सोच में बदल जाती हैं और आपके शरीर को शान्ति तथा आरामदायी अनुभव कराती हैं जिससे स्वास्थ्य में वृद्धि होती है।

इन्होंने आयरलैण्ड के १७ युवकों को, जिनके सम्बन्धी आतंकवादी हिंसा के शिकार हुए थे, उन्हें एक सप्ताह तक क्षमाशीलता का प्रशिक्षण दिया। मात्र सात दिन में क्षमा करने मात्र से उनके हताशापूर्ण दु:ख में ४० प्रतिशत की कमी आई तथा उनका सिरदर्द, कमरदर्द और अनिद्रा में ३५ प्रतिशत लाभ हुआ। उनका कहना था कि आप कभी भी क्रोध को उलट-पुलट कर देखेंगे तो क्षमाशीलता ही शक्तिशाली हो सकती है। भूतकाल को बदला नहीं जा सकता किन्तु जिनका समाधान नहीं हो पा रहा है उन मामलों का और उनके पीछे लगे हुए व्यक्ति के साथ मेल-मिलाप करके एक आह्लादपूर्ण और स्वस्थकर भविष्य की ओर बढ़ा जा सकता है।

कुछ छात्रों को पहले पूर्व की शत्रुता एवं अपने साथ दुर्व्यवहार को याद करने के लिए कहा गया तब इनके हृदय धमनी सम्बन्धी रोग में वृद्धि हुई थी और उन्हीं को क्षमा धारण करने को अर्थात् अपने शत्रुओं के अपराधों को भूल जाने का, क्षमा कर देने का प्रशिक्षण दिया गया तब उनके हृदय में रक्तप्रवाह अपेक्षाकृत अधिक हुआ और धमनियों का कड़ापन दूर हो गया। कई छात्रों के क्षमा अपना लेने से मन में होने वाला दुर्भाव और मलिनता समाप्त हो गयी। उसके फल में उनका रक्तचाप ढाई गुना कम हो गया। विलियट लिखते हैं- ऐसा प्रतीत होता है कि क्षमा क्रोध का प्रभावशाली/शक्तिशाली प्रतिरोधक हो सकता है क्योंकि क्रोध चिरकालिक बढ़ते हुए रक्तचाप से सम्बन्धित होता है जिससे हृदय रोग का खतरा बढ़ जाता है।

समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर यह निर्णय किया गया है कि मनोमालिन्य या गाँठ निकाल देने से व्यक्ति के मानसिक तनाव का दबाव स्तर कम-से-कम ५०% कम हो जाता है।

एक महिला ने बताया कि जैसे ही मैंने अपनी मित्र के सामने खेद प्रकट करने वाले शब्द उच्चारित किये, मैंने अनुभव किया कि मैंने उसे क्षमा कर दिया है। इसका प्रभाव भी तुरन्त हुआ। मेरा क्रोध पिघल गया। यद्यपि उससे मित्रता पुन: नहीं बनी, किन्तु अब उसको देखने पर क्रोध या घृणा के भाव नहीं आते, उसको देखने पर हृदय की धड़कन एवं श्वास-उच्छ्वास सामान्य रूप से शांत रहते हैं और मैं पूर्ण रूप से तनावमुक्त हो गयी।

कुछ लोगों को क्षमाभाव धारण करवा करके प्रशिक्षण दिया गया तो उनकी ऊर्जाशक्ति, मनोदशा, नींद की अवधि तथा गुणवत्ता और उनकी समस्त शारीरिक शक्तियों में पर्याप्त सुधार पाया गया।

सुझाव देते हुए लस्किन निष्कर्षत: लिखते हैं - ''आपके साथ कितना अनुचित व्यवहार किया गया है, इस कटुता और क्रोध के भार को ढोते रहना अत्यधिक विषैला है।''

जब हमारे अन्दर क्रोध उबल रहा होता है उस समय हमारा शरीर एडरीन लाईन (अधिवृक्क) और कारटीसोल (अधिवृक्क प्रांतस्पा से तैयार स्टेरायड) नामक दबाव या तनाव पैदा करने वाले हार्मोन विमोचित करता है। जो हमारे हृदय की धड़कन बढ़ाने, श्वास-उच्छ्वास की गति तेज करने एवं हमारे मस्तिष्क की दौड़ के लिए उकसाने का काम करते हैं। इसके साथ ही माँसपेशियों में शर्करा की गति बढ़ जाती है और रक्त में थक्का बनाने वाले कारक तरंगित होने लगते हैं। यह क्रोध और विद्वेष-ईर्ष्या-परिणाम उन दुर्घटनाओं के समान है, जिनका कभी अन्त नहीं होता और जो हमारे जीवन की रक्षा करने वाले हॉर्मोन्स को विष में परिवर्तित कर देते हैं। यह कारटीसोल मस्तिष्क की शक्ति को कम कर देता है जिससे कोशिक-क्षीणता एवं स्मरणशक्ति को हानि पहुँचती है। इससे रक्त दबाव (ब्लडप्रेशर), शर्करा बढ़ जाती है और धमनियों में कड़ापन आ जाता है जिससे हृदय रोग हो सकता है। क्षमाभाव से इन हार्मोनों का प्रभाव रुक जाता है।

निट विलियट का कहना है कि - ''महीनों और वर्षों तक अपनी नाराजगी लटकाए रखने का अर्थ है सदैव क्रोधित बने रहने के प्रति वचनबद्धता'' जो दूसरों को नहीं स्वयं अपने को अपार दु:खदायी और हताशा तथा निराशा के भँवर में पटकने वाली है।

इसी प्रकार मान माया और लोभ के भी ऐसे ही दुष्परिणाम होते हैं, इन कषायों में भी इसी प्रकार की घटनाएँ घटती हैं। इनसे भी हमारे शरीर और मन पर इतना ही दुष्प्रभाव पड़ता है अत: हमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चारों कषायों को नाश करने का प्रयास करना चाहिए।

चाणक्य की अनन्तानुबन्धी समाप्त हुई

चणक नामक ग्राम में चणक नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी भार्या का नाम चक्रेश्वरी था। उनके एक चाणक्य नाम का पुत्र था। वह दृढ़प्रतिज्ञ एवं पुरुषार्थी था। एक दिन वह दर्भों को उखाड़ रहा था तभी नन्द राजा का मंत्री शकट (जो राजा नन्द से अपमानित होने के कारण नंद वंश को मूल से उखाड़ना चाहता था) वहाँ पहुँच जाता है वह उसको दर्भ उखाड़ते देखकर पूछता है- हे मित्र ! कहो तो यह क्या कर रहे हो? फूल से रहित अर्थात् जिनको उखाड़ने से कोई लाभ नहीं है ऐसे इन दर्भों को क्यों उखाड़ रहे हो? तब चाणक्य नाम वाले इस पुरुष ने उत्तर में तत्काल ही कहा- इन दर्भों ने मेरा कई बार पैर बींध दिया है अर्थात् मेरे पैरों में चुभकर पीड़ा दी है। इसी कारण मैं जड़ सहित इन्हें आज ही खोदकर, सुखा कर पुन: उन्हें सावधानीपूर्वक जलाकर उनकी राख बनाकर उसे समुद्र में फेंक दूंगा तभी मैं नि:शल्य हो पाऊँगा। यह सुनकर शकट मंत्री ने अपने मन में विचार किया कि यह चाणक्य मनुष्यों में अत्यन्त विषम/तीव्र प्रचण्ड कषाय वाला है। इसके होते हुए मेरा वैर भाव (नंद के कुल को नाश करने का कार्य) पूरा हो सकता है/होगा। यह अच्छा उपाय रहेगा। नंद राजा के वंश का यही व्यक्ति क्षय करेगा। ऐसा जानकर उसने उससे स्नेह/मित्रता कर ली। फिर नृप की भोजनशाला में पधारने की प्रार्थना की और यह भी कहा कि मैं सुवर्णथाल में सबसे आगे आसन पर बैठाकर प्रतिदिन भोजन करवाऊँगा। आप वहाँ चलिए। एक दिन शकट ने उसके आसन का क्रम बदल दिया। चाणक्य ने आसन

का बदला क्रम देखकर शकट से पूछा - स्वर्णासन के स्थान पर किसने बाँस का आसन रखा है? शकट मंत्री ने कहा - राजा नन्द के आदेश से ही आपका आसन बदल दिया गया है। शकट ने उसे मध्यवर्ती आसन पर बैठने के लिए कहा तब चाणक्य ने कुछ दिन तक उसी आसन पर बैठ कर भोजन किया। कुछ दिनों के बाद जब चाणक्य के उस आसन को भी चलायमान कर दिया गया अर्थात् बदल दिया गया तो चाण्क्य अपने मन में क्रुद्ध हो गया। वह लोगों के सम्मुख यह कहता हुआ वहाँ से निकला कि मेरे हृदय रूपी कुटी में जो अपमान के कारण अग्नि सुलग रही है वह हे अभागे नन्द ! वह सब मैं तुझे सौंपता हूँ। इस प्रकार चिल्लाते हुए वह नन्द के महल की तरफ दौड़ पड़ा। उसके वचनों को सुनकर शत्रुजनों को नष्ट करने में पटु चन्द्रगुप्त नामक कोई वीर योद्धा उस चाणक्य के पीछे लग गया। पुन: वे दोनों (चन्द्रगुप्त और चाणक्य) मिलकर प्रचुर सहायता माँगने के लिए सीमांत निवासी अहिराज के समीप गये। अपने अपमान का बदला लेने में चतुर उस चाणक्य ने खून खौलाकर अर्थात् प्रचण्ड क्रोध से भरकर समरभूमि में राजा नन्द को उखाड़कर अर्थात् मूल से नष्ट करके चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र का राजा बना दिया।

उपर्युक्त प्रकरण से चाणक्य प्रचण्ड क्रोधी अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय में डूबा हुआ था। वही चाणक्य जब अपना लक्ष्य पूरा करके जैनेश्वरी दीक्षा ले लेते हैं अर्थात् तीन चौकड़ी कषाय का क्षयोपशम करके भावलिंगी सन्त बन जाते हैं। तब एक बार वे अपने ५०० शिष्यों के साथ दक्षिणा पथ स्थित वनवास नामक स्थान पर पहुँचे और वहाँ से पश्चिम दिशा में महाक्रौंचपुर के एक गोकुल नाम के स्थान में कायोत्सर्ग मुद्रा में बैठ गये। इस नगर का राजा सुमित्र था। नंद नरेश की मृत्यु के बाद उसका सुबंधु नामका एक मंत्री चाणक्य से कुद्ध होकर पाटलिपुत्र को छोड़कर राजा सुमित्र के यहाँ मंत्री बनकर कार्य करने लगा। वह चाणक्य से प्रतिशोध लेने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था। जब राजा सुमित्र को मालूम हुआ कि उसके राज्य में महामुनि चाणक्य संघ सहित पधारे हैं तो वह मंत्री सुबन्धु सहित उनके दर्शन करने गया। उन्हें देखकर सुबंधु ने बदले की भावना से चाणक्य मुनि के चारों ओर घेराबंदी करके आग लगा दी जिससे सभी साधुओं के साथ समाधिपूर्वक मरण करके वे सद्गति को प्राप्त हुए। यद्यपि चाणक्य में प्रचण्ड कषाय थी फिर भी उपसर्ग के समय उन्होंने सभी कषायों को जीतकर जैनधर्म के इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया।

वैसे उन्होंने जब दीक्षा ली थी तभी उनके अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हो गया था, लेकिन घोर उपसर्ग आने के बाद भी उनमें वैर भाव उत्पन्न नहीं हुआ, यही उनके अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव का प्रमाण है, उनके गुणों की गाथा गाते हुए बड़े समाधिमरण में कहा है-

चाणक मुनि गोगृह के माँहि मूंद अगनि पर जाल्यो,
श्री गुरु उर समभाव धारकै, अपनो रूप सम्हाल्यो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन उरधारी,
तो तुमरे जिय कौन दु:ख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।

यह कथा शास्त्रों में भिन्न प्रकार से आती है, यहाँ इसे भाव प्रधान समझना चाहिए।

इसी प्रकार कमठ के जीव ने १० भव तक पार्श्वनाथ भगवान से वैर लेकर भी उन्हीं के चरणों में अनन्तानुबन्धी का विसर्जन करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया था। व्याघ्री ने सुकौशल मुनि को खाकर भी वैर छोड़ दिया। ऐसे अनेकानेक जीव हुए हैं जिन्होंने अनन्तानुबंधी कषाय के विष को उगलकर सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान किया था। वे धन्य हैं, हमें भी उन्हीं के समान पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन रूप रत्न को प्राप्त करके अपना कल्याण कर ही लेना चाहिए।

इस प्रकार संक्षेप में उपशम सम्यक्त्व को कहा गया है, क्योंकि जीव को सबसे पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही होता है। मोक्षमार्ग में यह सम्यक्त्व सर्वोपरि है इसके बिना क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है। जीव अनिवृत्तिकरण परिणामों के माध्यम से उपर्युक्त सात प्रकृतियों का उपशम करके औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाता है। इसका उत्कृष्ट और जघन्य काल भी अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है इसलिए जब इसका काल पूरा हो जाता है तो यह सम्यक्त्व नियम से समाप्त हो जाता है। इस सम्यकत्व का काल समाप्त होने पर यदि जीव के मिथ्यात्व का उदय आ जाता है तो वह मिथ्यादृष्टि बन जाता है, यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आता है तो वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि बन जाता है, यदि उसी जीव के सम्यक् प्रकृति का उदय आता है तो वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है तथा इस सम्यक्त्व के काल में जघन्य १ समय और उत्कृष्ट ६ आवली प्रमाण काल शेष रह जाने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक का उदय आने पर सासादन सम्यग्दृष्टि बनता है। यह सासादन सम्यग्दृष्टि जीव नियम से गिरकर मिथ्यात्व में ही आता है। **(ल.सा.)**

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

जिन प्रकृतियों का उपशम हुआ था उन सात प्रकृतियों में से अनन्तानुबंधी चतुष्क, मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ सर्वघाति प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और इनही का सदवस्था रूप उपशम और देशघाति रूप सम्यक् प्रकृति का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यह सम्यक्त्व उपशम सम्यग्दृष्टि जो मिथ्यात्व में आ गया है ऐसे सादि मिथ्यादृष्टि को भी हो सकता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव के भी परिणामों की निर्मलता से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा से मिथ्यात्व के उदय का अभाव होकर सात प्रकृतियों का क्षयोपशम हो जाता है तो क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है। यह असंख्यात बार हो सकता है अर्थात् इसको छोड़कर जीव मिथ्यादृष्टि बनकर या सम्यग्मिथ्यादृष्टि बनकर एक अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में ही पुन: इसको प्राप्त कर सकता है अथवा यदि यह नहीं छूटे तो ६६ सागर तक भी बना रह सकता है। यह अनेक बार हो सकता है इसलिए इसे सस्ता, सुन्दर, टिकाऊ कहा गया है –

सस्ता - यह अनिवृत्तिकरण के बिना दो करणों से हो सकता है/हो जाता है।

सुन्दर - यह चारों गति के जीवों को होता है, अथवा इसी सम्यक्त्व से क्षायिक सम्पयत्व प्राप्त होता है इसलिए सुन्दर है।

टिकाऊ - यह जीव के साथ ६६ सागर तक बना रह सकता है। यद्यपि क्षायिकसम्यक्त्व सादि

अनन्त है अर्थात् उत्पन्न होने के बाद कभी समाप्त नहीं होता है फिर भी संसार में रहने की अपेक्षा यह ही अधिक काल तक रहता है।

जिस प्रकार मंत्र आदि के द्वारा विष की मारण शक्ति का अभाव करके विष को निर्विष कर दिया जाता है ऐसा विष मरण नहीं कराता है, उसी प्रकार शुद्धात्माभिमुख परिणाम रूप विशुद्धि विशेष मंत्र के द्वारा जिस मिथ्यात्व कर्म की शक्ति नाश कर दी गई है, ऐसा सम्यक्त्व प्रकृति रूप दर्शन मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यक्त्व स्वभाव अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप परिणामों को नाश नहीं करता है।

क्षायिक सम्यक्त्व

असंयत आदि ४ गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में अनन्तानुबंधी की चार व दर्शनमोहनीय की तीन इन सातों की सत्ता का नाश करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने की विधि कहते हैं- प्रथमत: ३ करण करता है। उनमें से अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त्त काल के अन्त में अनन्तानुबन्धी चतुष्क की एक साथ विसंयोजना करता है उन्हें १२ कषाय और ९ नोकषाय रूप परिणमाता है। विसंयोजना करके अन्तर्मुहूर्त्त तक विश्राम करता है फिर दर्शनमोह को नष्ट करने के लिए पुन: अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरण के काल अन्तर्मुहूर्त्त में संख्यात से भाग दें। संख्यात का बहुभाग प्रमाण काल बीत जाने पर जब एक भाग काल शेष रहे तब उसके प्रथम समय से लगाकर पहले मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय करता है। उसके पश्चात् मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) का और उसके पश्चात् सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। **(गो.क.जी. ३३६)**

क्षायिक सम्यग्दृष्टि सब इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले युक्ति-युक्त वचनों से, घृणा या निन्दा से तथा भयानक दृश्यों से भी विचलित नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर कितनी ही प्रतिकूल सामग्री क्यों न उपस्थित हो किन्तु वह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता है। **(धर्म. रत्ना.)**

अढ़ाई द्वीप समुद्रों में १५ कर्म भूमियों के भीतर जहाँ जिन, केवली व तीर्थंकर होते हैं अर्थात् जम्बूद्वीप धातकीखण्ड और पुष्करार्ध इन अढ़ाई द्वीपों में ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ हो सकता है। अन्य द्वीपों में नहीं, क्योंकि शेष द्वीपों में उसकी सम्भावना नहीं है तथा उनमें उत्पन्न होने वाले जीवों में उसके क्षय करने की शक्ति नहीं है। १५ कर्म भूमियों में ही क्षपणा का प्रारम्भ किया जाता है क्योंकि वहीं पर जिन, केवली व तीर्थंकर का रहना संभव है। इन ही के पादमूल में उसकी क्षपणा का प्रारम्भ किया जाता है। मानुषोत्तर पर्वत के बाह्य भागों में जिन व तीर्थंकर का रहना संभव नहीं है।

(ध. ६/२४३)

दु:षमा (अतिदु:षमा), सुषमासुषमा, सुषमा और सुषमादुषमा काल में उत्पन्न हुए मनुष्यों के दर्शनमोह की क्षपणा का निषेध करने के लिए 'जहाँ जिन होते हैं' यह वचन कहा है। जिस काल में

जिन सम्भव है उस ही काल में दर्शन मोह की क्षपणा कर प्रस्थापक कहलाता है, व्याख्यान के अभिप्राय से दु:षमा, अतिदु:षमा, सुषमासुषमा और सुषमा इन चार कालों में उत्पन्न हुए जीवों के ही दर्शनमोह की क्षपणा नहीं होती है। अवशेष दोनों कालों में उत्पन्न हुए जीवों के दर्शनमोहनीय की क्षपणा होती है, इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्याय से आकर तीसरे काल में उत्पन्न हुए वर्द्धनकुमार आदिकों के दर्शनमोह की क्षपणा देखी जाती है। यहाँ पर यह व्याख्यान ही प्रधानतया ग्रहण करना चहिए।

(ध. ६/२४६)

लवण और कालोदधि समुद्रों को छोड़कर अन्य समुद्रों में दर्शनमोह की क्षपणा के सहकारी कारण संभव नहीं हैं। क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही करते हैं।

प्रश्न : क्या सात प्रकृतियों का युगपत् नाश होता है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि तीन करण करके अनिवृत्तिकरण के चरम समय में पहले अनन्तानुबन्धी चार का एक साथ में क्षय (विसंयोजना) करता है। तत्पश्चात् फिर से तीन करण करके उनमें से अध: प्रवृत्त करण और अपूर्वकरण इन दोनों को उल्लंघन करके अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का क्षय करता है। इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत कर सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत कर सम्यक् प्रकृति का क्षय करता है। **(ध. १/२१६)**

प्रश्न : क्या क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बहिरंग कारण कुछ नहीं होते हैं?

उत्तर : नहीं, क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बहिरंग कारण भी होते हैं। वे हैं केवली और श्रुतकेवली के चरणमूल। यहाँ कोई कहे कि क्या बहिरंग साधन इतने बलशाली होते हैं कि जिनके बिना कार्य उत्पन्न ही नहीं होता है, तो इसका उत्तर है- हाँ, दर्शनमोहनीय एवं अनन्तानुबन्धी को नाश करने के योग्य विशुद्धि केवली-श्रुतकेवली के पादमूल में ही बढ़ती है, बढ़ सकती है अन्य स्थान पर नहीं। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि केवली श्रुतकेवली के पादमूल में बैठे सभी जीवों को क्षायिकसम्यक्त्व हो जावे, क्योंकि आचार्य पुष्पदन्त स्वामी ने सूत्र में पहले ही कह दिया कि पन्द्रह कर्मभूमियों में जन्मा हुआ मनुष्य होना चाहिए। इससे देव, भोगभूमिया आदि जीवों का निषेध हो ही जाता है।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि सभी पुरुषों को केवली श्रुतकेवली के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व हो जावेगा, क्योंकि केवली श्रुतकेवली के पादमूल क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण हैं करण नहीं। कारण होने पर कार्य की उत्पत्ति का निर्णय नहीं है फिर भी इन कारणों के बिना कार्य नहीं होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साधनों को जानकर हमें ऐसे साधन हमेशा जुटाते रहना चाहिए, ताकि कभी हमें भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावे, हमारा भी कल्याण हो जावे।

३. सम्यग्दृष्टि कैसा होता है

उपर्युक्त सम्यग्दर्शन के बारे में की गयी पूरी चर्चा को पढ़ने के बाद जिसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है वह घर में कैसे रहता होगा, क्या वह ढंग से भोजन भी नहीं करता है? क्या उसके बच्चे नहीं होते हैं? क्या वह व्यापार करते समय कभी झूठ नहीं बोलता है, क्या किसी के साथ अन्याय-अनीति नहीं करता है? क्या वह अपने बच्चों के साथ, पारिवारिक लोगों के साथ, रिश्तेदारों-मित्रों आदि के साथ कुछ भी प्रेम व्यवहार नहीं रखता है? क्या उसकी किसी से अनबन, लड़ाई-झगड़ा नहीं होता है? क्या वह कभी पर्यटन स्थलों पर घूमने नहीं जाता है? क्या वह किसी प्रकार की भोग सामग्री का उपयोग नहीं करता है आदि आदि अनेक प्रकार के प्रश्नों की शृंखला हमारे दिमाग में उत्पन्न होती है क्योंकि हमारी कल्पना में सम्यग्दृष्टि का एक बहुत बड़ा चित्र बना रहता है। उसके जीवन की एक-एक क्रिया को करने की विधि हमारे हृदय पटल पर अंकित रहती है लेकिन ऐसा कुछ नहीं है कि सम्यग्दृष्टि भोजन नहीं करता है या धन का अर्जन नहीं करता है। उसकी भी बाह्य क्रियाएँ मिथ्यादृष्टि के समान होती हैं लेकिन उनमें क्या आन्तरिक अन्तर होता है? उसी के बारे में यहाँ कुछ बिन्दुओं के माध्यम से विचार करते हैं -

१. सम्यग्दृष्टि का प्रेम दिखावटी होता है। २. वह शत्रु का भी बुरा नहीं करता है।

३. अपने दोष देखता है, दूसरे के नहीं। ४. किराये के मकान के समान मानता है।

५. मुनीम जैसा रहता है। ६. भोग सामग्री से ज्यादा धर्म को मानता है।

७. भ्रमर के समान होता है।

१. सम्यग्दृष्टि का प्रेम आसक्ति रहित होता है

सम्यग्दृष्टि के प्रेम को बताते हुए छहढालाकार ने कहा है -

गेही पे गृह में न रचें ज्यों, जलतैं भिन्न कमल है ।
नगरनारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल है ॥

सम्यग्दृष्टि जीव का अपने परिजनों-मित्रों, रिश्तेदारों से प्रेम आसक्ति रहित होता है। जिस प्रकार वेश्या का प्रेम दिखावटी होता है, उसका प्रेम दिखावटी नहीं दिखने पर भी ऊपर-ऊपर का ही होता है। अन्दर से नहीं होता है। वह जिससे प्रेम कर रही है उसे वह अपना स्वामी नहीं मानती है, उसे दुःख-सुख में साथ देने वाला जीवनसाथी नहीं मानती है। उसका विचार रहता है कि मुझे इससे तब तक ही प्रेम करना है जब तक यह मुझे धन-दौलत देता है। जैसे ही यह धन देना बंद कर देगा, मैं इससे प्रेम करना छोड़ दूंगी इसलिए जैसे ही उसके पास धन समाप्त हो जाता है या धन समाप्त होता दिखता है वह उससे प्रेम करने की बात तो बहुत दूर तिरस्कार करके घर से बाहर निकाल देती है। उसके दरवाजा खटखटाने पर बिना दरवाजा खोले ही दुत्कार देती है। चारुदत्त का जीवन इसका साक्षी है – चारुदत्त

ने १२ वर्ष तक अपने घर से धन मँगवा करके वेश्या को संतुष्ट किया था। वह इतने लम्बे काल तक भी वेश्या के प्रेम को नहीं समझ पाया था कि यह मुझसे नहीं मेरे धन से प्रेम करती है। एक बार जब चारुदत्त ने अपने घर से धन मँगवाया तो उसके माता-पिता, पत्नी के पास कुछ नहीं बचने से पत्नी ने अपना मंगलसूत्र खोलकर दे दिया। जब वेश्या ने मंगलसूत्र देखा तो समझ गई कि अब चारुदत्त के घर पर धन नहीं बचा है, उसने चारुदत्त को वेश्यालय से निकल जाने के लिए कहा लेकिन जब चारुदत्त किसी भी हालत में वेश्यालय छोड़ने को तैयार नहीं हुआ तो वेश्या ने उसे मादक वस्तुएँ खिलाकर मूर्च्छित कर दिया और एक कपड़े में बाँधकर कच्चे शौचालय अर्थात् मल के गड्ढे में डाल दिया। जब उसे होश आया तब वह समझा कि वेश्या का प्रेम कैसा होता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम भी आसक्ति रहित का होता है। जैसे ही उसे वैराग्य आ जाता है वह घर छोड़कर मुनि बन जाता है।

सम्यग्दृष्टि का प्रेम आसक्ति रहित होता है। इसका अर्थ यह नहीं सोचना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि का प्रेम छलपूर्वक होता है या सम्यग्दृष्टि जीवनभर अपने परिवार वालों के साथ छल ही करता रहता है। या उसका किसी से आन्तरिक प्रेम नहीं होता है। नहीं, उसका भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से अपने परिजनों से आन्तरिक प्रेम होता है। वह अन्तरंग से ही सबसे बोलता है, खाता है, पीता है, सब कुछ करता है फिर भी वह उसको उपादेय नहीं मानता है अर्थात् श्रद्धा में उसके प्रति आकर्षण नहीं रहता है इसलिए उसके प्रेम को छल नहीं कह सकते हैं। यह एक व्यवहार कुशलता है। जिस प्रकार किसी गृहस्थ के यहाँ कोई मेहमान आता है यदि समय की अनुकूलता नहीं होने से उसे उसका आना अच्छा नहीं लग रहा हो तो भी क्या वह उसे यह कह देता है कि आप क्यों आये हैं या आपका आना हमें अच्छा नहीं लगा। वह यही तो कहता है कि नहीं, नहीं आपका आना हमें बहुत अच्छा लगा, आप हमारे यहाँ आते ही कहाँ हैं, बड़ी मुश्किल से अपना मिलना हुआ है आदि। क्या यह छल है? क्या ऐसा कहना असत्य है? क्या ऐसा करना पाप है? नहीं, अपितु ऐसा करना/कहना किसी भी अपेक्षा अनुचित नहीं है। ऐसा करना लोक में गलत भी नहीं माना जाता है। यह सब लोकव्यवहार और व्यवहार कुशलता है। हाँ, इसमें यदि कुछ षड्यंत्र हो, अपना उल्लू सीधा करने का विकल्प हो तो अवश्य ही छल कहलायेगा। जिनेन्द्र भगवान ने आगम में कटु सत्य बोलने का निषेध किया है। कटु सत्य को असत्य की कोटि में ही कहा है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का प्रेम आसक्ति रहित होकर भी छलप्रद नहीं होता है। छल तो वह होता है जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किया जाता है। मीठे-मीठे बोलकर या षड्यंत्र बनाकर दूसरे को ठगा जाता है। दूसरे के धन आदि की हानि हो जावे उसका धन मुझे मिल जावे आदि उद्देश्य से दूसरे को वाग्जाल में फँसाना या फँसाया जाना छल कहलाता है। सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करता है अत: सम्यग्दृष्टि का प्रेम व्यवहार कुशलता पूर्वक होने से सभी को सुख देने वाला ही कहा गया है।

जिस प्रकार हमारे घर में अपनी बहिन, भाई, मामा, काका, बुआ आदि का बेटा बचपन से ही रहता है, हमारा पुत्र भी उसके साथ रहता है, दोनों बराबरी के हैं। हम दोनों की पढ़ाई-लिखाई, खाने-पीने, सोने-बैठने आदि की बराबर व्यवस्था करते हैं अथवा अपने बेटे से भी ज्यादा व्यवस्था

अपनी बहिन के बेटे की करते हैं अर्थात् आपके व्यवहार से कोई व्यक्ति अनुमान भी नहीं लगा सकता है कि वह आपका बेटा नहीं है। मानों आपका बेटा बी.ए. में द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ है और आपकी बहिन का बेटा सी.ए. में अथवा आई.ए.एस. की परीक्षा में प्रथम नम्बर लाया है। आप उसके प्रथम नम्बर लाने की खुशी में पार्टी दे रहे हैं, खुशियाँ मना रहे हैं लेकिन आप अपने अन्दर टटोलें। अनुभव करें कि आपको अपने बेटे के द्वितीय श्रेणी में आने की खुशी ज्यादा नहीं है। क्या आपको अन्दर ऐसा नहीं लगता है कि भले ही वह आई.ए.एस. ऑफिसर बन गया परन्तु मेरे काम आने वाला थोड़ी है, आखिर मेरे तो यह द्वितीय श्रेणी लाने वाला ही काम आयेगा, क्योंकि यह मेरा बेटा है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव बाहरी सब कार्य करता है, सबसे बोलता है, खाता है, पीता है, सोता है, कमाता है, बच्चों को लाड-प्यार करता है, लेकिन अन्दर से यह अनुभव करता रहता है कि ये मेरा नहीं है, ये मैं नहीं हूँ, मैं इनसे भिन्न हूँ। इन सब कार्यों से मेरा कल्याण होने वाला नहीं है।

रामचन्द्र और सीताजी का प्रेम

रामचन्द्रजी को सीताजी के प्रति इतना प्रेम, मोह भाव था कि सीता का हरण हो जाने पर वे नदियों से, वृक्षों से और कंकर-पत्थर से पूछते रहे, रोते रहे, कई बार मूर्च्छित हो गये थे। दिन-रात ढूंढते रहे लेकिन जैसे ही लोक अपवाद अर्थात् लोगों ने आकर प्रार्थना की कि हे स्वामी! सीताजी छह महीने तक रावण के घर पर रह कर आयी है अत: शुद्ध शीलवती कैसे हो सकती है, आपने अशुद्ध स्त्री को अपने घर में कैसे रख लिया? यह सुनकर रामचन्द्रजी ने बिना किसी से सलाह लिये उसको घर से निकाल दिया। इसी प्रकार सीता की खोज करते-करते बीच में जब सुग्रीव ने आकर अपनी पत्नी के खोने की पीड़ा व्यक्त की तो रामचन्द्रजी अपनी सीता की खोज करना गौण करके पहले सुग्रीव की पत्नी सुतारा की खोज में लग गये। बीच में मरण के सम्मुख जटायु दिख गया तो उसे णमोकार मंत्र सुनाकर समाधिमरण करवाने में लग गये। इसी प्रकार वे छह माह तक लक्ष्मण के शव को लेकर फिरते रहे लेकिन जैसे ही उसको (लक्ष्मण के शव को) छोड़ा उसके प्रति किंचित् भी राग नहीं बचा। यदि राग बचता तो वे कैसे दीक्षा लेते और कैसे निर्विकल्प बनकर केवलज्ञान प्राप्त करते।

इसी प्रकार सीताजी को भी रामचन्द्रजी से इतना प्रेम था कि वह रामचन्द्रजी के साथ वन के कष्टों को भी सहन करने को तैयार हो गयी। चौदह वर्ष तक उनके साथ वन में रही जबकि वनवास तो केवल रामचन्द्रजी को ही हुआ था परन्तु जब सीताजी अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण हो गई तो रामचन्द्रजी के द्वारा महल में चलने के लिए बार-बार मनाये जाने पर भी महल में न जाकर दीक्षा ले ली। ऐसा होता है सम्यग्दृष्टि का प्रेम, मात्र ऊपर का, दिखावटी। उसे अन्दर से आत्मा एवं शरीर की भिन्नता पर विश्वास रहता है अर्थात् वह आत्मा और शरीर को भिन्न मानता है इसीलिए वह सामान्य निमित्त मिलते ही घर छोड़कर सेठ सुदर्शन, राजकुमार वारिषेण आदि के समान दीक्षा लेकर अपना कल्याण कर लेते हैं।

शत्रु का भी बुरा नहीं करता

सम्यग्दृष्टि जीव शत्रु के द्वारा प्राण नष्ट करने की योजना बनाने पर उसका बुरा करने की नहीं

सोचता है। यद्यपि शत्रु का प्रतिकार करता है। युद्ध में शत्रु को मारता भी है लेकिन यदि मारे बिना काम चल सकता है तो वह कभी उसको नहीं मारता है। रामचन्द्रजी रावण के साथ युद्ध करते-करते भी यही सोच रहे थे कि रावण सीता को दे दे तो मुझे रावण की लंका से कोई प्रयोजन नहीं है और न ही रावण को जीतकर मैं अपना यश स्थापित करना चाहता हूँ। मुझे तो मात्र सीता के शील की एवं नीति की रक्षा करनी है। आज मैं यदि सीता का हरण होने का कोई प्रतिकार नहीं करता हूँ तो भविष्य में हर कोई व्यक्ति जिस किसी की पत्नी को उठा ले जायेगा। उसके साथ भोग करेगा तो संसार में शील (सतीत्व का और स्वदार संतोष व्रत) का क्या महत्त्व रहेगा? यदि मुझे अभी सीता मिल जाती है तो तत्काल युद्ध को बंद कर दूंगा। दूसरी बात जब रावण मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ था तो राम ने लक्ष्मण को नीति सीखने के लिए भेजा था। यह राम की गुणग्राहिता का चिह्न था। यह सम्यक्त्व का भी चिह्न है। तीसरी बात रावण के मर जाने पर राम ने स्वयं रावण का दाह संस्कार किया था तथा लंका का राज्य रावण के भाई विभीषण को सौंप दिया था। की यह उनकी निर्लोभता एवं सांसारिक भोगों के प्रति संवेग-वैराग्य को प्रगट करता है। रावण के मर जाने पर रामचन्द्र ने भगवान से यह प्रार्थना नहीं की कि हे भगवन् ! रावण मरकर नरक में चला जाये। उसने मेरे साथ इतना बड़ा छल-अन्याय किया। मेरी सीतारानी का हरण किया इसलिए उसे अनेक प्रकार के दु:ख भोगने पड़े आदि...।

सीताजी ने दीक्षा ले ली एवं समाधिपूर्वक मरण करके सोलहवें स्वर्ग में अहमिंद्र बन गयीं। उसने जब अपने अवधिज्ञान से रावण को श्वभ्रसागर (नरक) में देखा तो खुश होकर नाचने नहीं लगी। यह भी नहीं सोचा कि बहुत अच्छा हुआ। इस पापी ने मेरा हरण करके मेरे शील को नष्ट करने की कोशिश की उसका सही-सही फल मिल गया। इतने से क्या होगा, अभी तो इसको सागरोंपर्यन्त यहाँ (नरक में) और आगे के भी कई भवों तक दु:ख भोगने पड़ेंगे। ऐसे पापियों को तो ऐसी सजा मिलनी ही चाहिए...। अपितु वह करुणा भाव से रावण को सम्बोधन करने के लिए नरक में गई। उसने वहाँ उसको (रावण को) धर्मोपदेश देकर दु:ख से बचने का रास्ता बताया और यहाँ तक कि वह उसे नरक से उठाकर स्वर्ग में ले जाने की अर्थात् नरक के दु:खों से बचाने का प्रयास करने लगी। यही सम्यग्दृष्टि की विशेषता है कि वह अपने शत्रु का भी बुरा करने का विचार नहीं करता है, क्योंकि उसे इस बात का श्रद्धान रहता है कि मेरे पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से ही मुझे दु:ख मिले हैं। बाह्य निमित्त के रूप में कोई भी हो सकता है अर्थात् बाह्य में यह रावण निमित्त बना है। इसी प्रकार जब गर्भवती सीताजी को रामचन्द्रजी ने लोकापवाद के कारण जंगल में छुड़वा दिया तब उसने रामचन्द्रजी को यही संदेश भेजा था कि जिस प्रकार आपने मुझे लोकापवाद के कारण जंगल में छुड़वा दिया; इसी प्रकार कभी लोकापवाद अथवा लौकिक कारण से 'धर्म को मत छोड़ देना'। इतने विशाल हृदय वाला होता है सम्यग्दृष्टि।

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि को पूर्व में भोगे हुए भोगों का तथा 'किसी ने उसके साथ बुरा किया है' वह ६ महीने के बाद याद नहीं रहता है या उसको याद ही नहीं आता है?

उत्तर : ऐसा नहीं है कि सम्यग्दृष्टि सभी बातें भूल जाता है या उसे याद ही नहीं रहता है। सम्यग्दर्शन हो जाने से उसका स्मृतिज्ञान नष्ट हो जाता हो, ऐसी कोई बात नहीं है। छह महीने के बाद ही नहीं ६० या ६०० या ६००००० वर्ष बीत जावे तो भी उसको वे बातें याद रह सकती हैं क्योंकि लाखों-करोड़ों वर्ष की आयु वाले जीवों को अपना बचपन और बचपन में बीती हुई काफी बातें याद रहती हैं। यदि नहीं रहे तो वह अपने घर-परिवार, माता-पिता, रिश्तेदार आदि को भी भूल जायेगा। रामचन्द्रजी जब १४ वर्ष तक वन में रहे अथवा पूर्व काल में कई लोग १०-१२ वर्ष तक परदेश में धन कमाने के लिए चले जाते थे। भरत चक्रवर्ती जब ६०,००० वर्ष में छह खण्ड पर विजय प्राप्त करके अयोध्या लौटे थे तब क्या अपने माता-पिता, भाई-बन्धु आदि को नहीं पहचान पाये थे, क्या वे उन्हें भूल गये थे? क्या सम्यग्दृष्टि बचपन में या यौवन अवस्था में लिये नियमों को वृद्धावस्था में भूल जाते हैं? कोई कहे कि सम्यग्दृष्टि को अच्छी बातें/अच्छे संस्कार एवं धन-वैभव आदि की बातें याद रहती हैं। लेकिन भोगे हुए विषयभोगों की एवं किसी ने उनके साथ बुरा किया हो, षड्यंत्र बनाया हो, कड़वा-मीठा कहा हो, बदला लिया हो ऐसी खोटी/क्लेश कषाय उत्पन्न करने वाली बातें याद नहीं रहती हैं, क्योंकि ऐसी बातों का स्मरण सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाला होता है।

यदि सम्यग्दृष्टि को पुरानी बातें याद नहीं रहती होती तो परम पूज्य आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए तत्त्वार्थ सूत्र महाग्रंथ में 'पूर्वरतानुस्मरण' ७/६ का त्याग क्यों करवाते? मुनिराज को भी पूर्व में भोगे हुए भोगों की याद आ जाती होगी तब तो उन्हें याद नहीं करने के लिए कहा है। जो ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को पूर्व की बातें याद नहीं रहती हैं उन्हें सोचना चाहिए कि-

१. याद करना, २. याद आना, ३. याद करके पश्चाताप करना, ४. याद करके आनन्दित होना/उपादेय मानना, ५. याद करके पुन: भोग भोगने की योजना बनाना अथवा वैर याद आने पर प्रतिशोध लेने का विचार करना आदि में बहुत बड़ा अन्तर है।

सम्यग्दृष्टि कभी पुरानी बातें याद कर भी सकता है, कभी उसे पुरानी बातें याद भी आ सकती हैं। कभी पुरानी बातें याद आने पर उसे आक्रोश भी आ सकता है लेकिन उनको याद करके या उनकी याद आ जाने पर वह उन्हें उपादेय नहीं मानता है। वह पूर्व में भोगे हुए भोगों को याद करके आनन्दित नहीं होता और न ही आगे पुन: उन वैसे भोगों को भोगने की योजना ही बनाता है और न ही कभी प्रतिशोध लेने के विचार करता है। इस बात की पुष्टि के लिए यहाँ पद्मपुराण का एक अंश दिया जाता है -

पद्मपुराण में आचार्य रविषेण स्वामी ने कहा है कि लव-कुश ने राम-लक्ष्मण को जीत लिया। राम-लक्ष्मण से जब लव-कुश का मिलन हो गया, आपसी रिश्ता समझ में आ गया तब हनुमान, विभीषण के आग्रह से सीता रामचन्द्रजी के दरबार में गई तो उसे देखकर रामचन्द्रजी मैंने इसे निर्जन वन में एकाकी ही त्याग दिया था तथापि इस ढीठ चित्त का मेरे प्रति अनुराग किंचित् भी कम नहीं हुआ है। ऐसा सोचकर कुछ क्रोधित हो कर बोले - सीते ! तू मेरे सम्मुख क्यों खड़ी है? शीघ्र ही दूर हो जा। तेरा मुख देखने का अनुराग अब मुझमें नहीं है। मेरे ये नेत्र मध्याह्न के प्रचण्ड सूर्य को देख सकते हैं, विकराल विषधर

सर्प को देख सकते हैं परन्तु तेरे घृणित शरीर को नहीं देख सकते हैं। तू दशानन के राजमहल में दीर्घ काल तक रही, अतएव अब तुझे अपने घर में रखना मेरे लिए उचित नहीं है। यह सुनकर सीता कुछ रुष्ट होकर बोली- आप निर्दयचित्त हैं, आपने महापण्डित होकर भी मुझ गर्भवती को कुटिलता से तीर्थयात्रा करवाने का बहाना बनाकर भयानक जंगल में एकाकी ही छुड़वाया था। क्या यह आपने उचित किया? क्या आपका यह व्यवहार मूढ़जन सदृश नहीं था? यदि वन में मेरा कुमरण होता और मैं कुगति में जाती तो आपको कौनसी सिद्धि प्राप्त हो जाती? यदि आपके मन में मुझे त्याग देने का विचार था तो किसी आर्यिका के निकट मुझे छुड़वाते। वहाँ मुझ दीन-दु:खी अनाथ को जिनशासन की शरण तो मिलती जो मेरे लिए हितकारी होती। आपने अपनी समझ से मुझे कष्ट पहुँचाने में कोई न्यूनता नहीं की।

इस प्रकरण में सीताजी एवं रामचन्द्रजी दोनों को एक-दूसरे के लिए किये अपराध/गलतियाँ, दोष याद थे, फिर भी वे दोनों सम्यग्दृष्टि थे इसलिए सीताजी की बातें सुनकर रामचन्द्रजी बोले - हे कांते ! मैं यह भली-भाँति जानता हूँ कि तुम निर्दोष हो, शीलवती हो, निष्पाप हो, अणुव्रत पालन करने वाली हो तथा आज्ञाकारिणी हो परन्तु संसार के लोग कुटिल स्वभावी हैं इसलिए उन्होंने तेरा अपवाद किया। अब कोई ऐसा उपाय करो जिससे सबका संदेह दूर हो एवं सबके मन में तुम्हारे प्रति पूर्ववत् प्रीति उत्पन्न हो। इससे समझ में आता है कि उनमें तात्कालिक क्रोध होने पर भी अनन्तानुबन्धी क्रोध नहीं था क्योंकि दोनों में बैर-विरोध के भाव नहीं थे और न ही रागासक्ति थी।

इसी प्रकार जब सीताजी अग्निपरीक्षा में खरी उतरीं तब रामचन्द्रजी अत्यन्त अनुराग सहित उसके समीप जाकर बोले- हे देवि! मुझ पर प्रसन्न होकर मेरा अपराध क्षमा करो। मेरी आठ हजार रानियों में तुम सर्वश्रेष्ठ हो। लोकापवाद के भय से अज्ञानी होकर मैंने तुम्हें कष्ट पहुँचाया। मुझे क्षमा करो। हे कांते! अब मेरे साथ सुखपूर्वक विहार करो। रामचन्द्रजी के कोमल एवं विनम्र शब्द सुनकर सीताजी बोलीं- हे राघव! मैंने अपने पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म के उदय से कष्ट पाया है। इसमें आपका और आपकी प्रजा का कोई दोष नहीं है। मैंने आपके प्रसाद से स्वर्ग के समान सुख भोगे। अब मेरी इच्छा है कि मैं कोई ऐसा उपाय करूँ कि मेरे स्त्री लिंग का अभाव हो जाये। अत: मैं जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगी। इसमें सीताजी को भी तात्कालिक रामचन्द्रजी के ऊपर क्रोध का भाव था फिर भी वह कर्मोदय से प्राप्त दु:खों को स्वीकार करती थी इसलिए उसको रामचन्द्रजी के दोष याद होने पर भी अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं थी। अत: सम्यग्दृष्टि को किसी के पूर्वकृत अपराध याद आ जावें या याद रहें तो भी वह मिथ्यादृष्टि नहीं हो जाता है क्योंकि वह उससे बदला लेने की भावना नहीं रखता है और मिथ्यादृष्टि को किसी के दोष याद नहीं भी रहे तो भी वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो जाता क्योंकि उसमें क्षमा भाव दिखने पर भी अन्दर में अपराध करने वाले के प्रति आक्रोश भाव समाप्त नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टि अपने दोष देखता है दूसरे के नहीं

सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी दूसरे के दोष नहीं देखता है यदि उसकी दृष्टि कभी किसी के दोषों पर जाती तो वह तत्काल अपनी दृष्टि को संकुचित कर लेता है। उनके दोषों को देखकर संकल्प कर लेता

है कि मैं ऐसी गलती कभी नहीं करूँगा। जैसे कोई छुपकर शराब पीता है; सम्यग्दृष्टि जीव ने उसको शराब पीते देख लिया तो वह सबके सामने उसकी बातें नहीं करता है। जगह-जगह उसकी बुराई नहीं करता है अपितु वह स्वयं संकल्पित हो जाता है कि मैं कभी शराब नहीं पीऊंगा अथवा वह उसे एकांत में शराब के दोषों को बताकर छुड़ाने की कोशिश करता है। कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाये तो नीच गोत्र की बंध व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान हो जाती है। नीच गोत्र का बंध दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करने से होता है। दूसरे गुणस्थान वाला नियम से गिरकर मिथ्यात्व में आता है। सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान वाला होता है। वह दूसरे के दोषो को कैसे देख सकता है अथवा दूसरे के दोषों को देखकर किसी के सामने कैसे कह सकता है?

एक शिष्य नि:स्वार्थ भाव से अपने गुरुजी की सेवा करता था। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर गुरुजी ने उसे एक जादुई दर्पण दिया। उस जादुई दर्पण की यह खूबी थी कि उसे जिस व्यक्ति के सामने रखा जावे वह उसके भीतर के भावों को झलकाता था। शिष्य उस दर्पण को पाकर बहुत खुश हुआ। दूसरे ही दिन उसने गुरुजी के पास आने वाले सभी श्रद्धालु भक्तों के सामने वह दर्पण रख दिया। वह यह देखकर हैरान हो गया कि सभी भक्तों के भीतर क्रोध की ज्वाला है। सभी के मन में अहंकार रूपी पर्वत खड़ा है, सभी के हृदय में घृणा की भावना है, सभी के अन्दर ईर्ष्या की अग्नि भड़क रही है, सभी के भावों में लालच की तीव्रता है, सभी के अंतस में कपट पनप रहा है, सभी के विचारों में वासना के कीड़े कुलबुला रहे हैं। वह यह सब देखकर बड़ा परेशान हुआ कि क्या सत्संग में आनेवाले सारे भक्तजनों में इतनी अधिक बुराइयाँ हैं, क्या गुरुजी के उपदेश ने उनके भीतर के विकार एवं कषायों को समाप्त नहीं किया? बस, जादुई दर्पण मिल जाने के बाद उसका सारा दिन सबके भीतर की बुराइयों को देखने में ही व्यतीत होने लगा। एक दिन उसने सोचा- मैंने सभी भक्तों की बुराइयों को तो जान लिया अब मुझे गुरुजी के हृदय को भी टटोलना चाहिए। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिसकी मैंने वर्षों तक सेवा की है उनका मन भी विकारों से मलिन है। यही सोचकर उसने एक दिन जादुई दर्पण अपने गुरुजी के सामने रख दिया। वह देखकर दंग रह गया कि मैं दर्पण में क्या देख रहा हूँ? गुरुजी के मन में इतना अहंकार, क्रोध की ज्वाला, मोह का जाल, लोभ का आकर्षण! शिष्य तो आश्चर्यचकित हो गया और सोचने लगा, क्या मेरे गुरुजी के हृदय में भी ऐसे-ऐसे विकार भरे पड़े हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि दर्पण झूठी बातें झलकाता हो? नहीं, यह सामान्य दर्पण नहीं है। यह तो बड़ा जादुई दर्पण है। जो जैसा है वह भीतर से वैसा ही तो दिखायेगा। धीरे-धीरे उसका मन गुरुजी से विमुख हो गया। एक दिन मौका पाकर वह अपना दर्पण लेकर वहाँ से चल दिया। अब वह जहाँ-जहाँ जाता और जो-जो श्रद्धालु भक्त उसकी सेवा करने को उत्सुक रहते, उन सबके समक्ष वह जादुई दर्पण रख देता था। फिर निराश होकर उसके मुँह से शब्द निकलते थे- इस दुनिया में किसी का भी दिल साफ नहीं है। यहाँ तो सभी के हृदय में ईर्ष्या, अहंकार, द्वेष, छल-कपट और क्रोध आदि भरा पड़ा है। यह सब देखकर वह हैरान और परेशान हो गया। इस प्रकार उसने दुनिया के हर कोने में भ्रमण करके देखा उसे कहीं संतुष्टि नहीं हुई। कुछ वर्षों

बाद वह लौटकर पुन: गुरुजी के चरणों में आया और बोला - गुरुजी, मैं बहुत परेशान हो चुका हूँ। आप मुझे यह बताइये कि आखिर संसार के सभी व्यक्तियों के मन में नाना प्रकार के दोष क्यों भरे हुए हैं? मैंने दुनिया के हर व्यक्ति को इस जादुई दर्पण में देखा तो पाया कि किसी का भी हृदय साफ और पाप रहित नहीं है। क्या संसार में सभी लोग ऐसे ही होते हैं? किसी का मन पवित्र नहीं है। पूज्य गुरुवर, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं कहाँ जाऊँ, किसके साथ रहूँ? शिष्य को इस प्रकार व्यथित देखकर गुरुजी ने थोड़ा मुस्कुराते हुए उठकर शिष्य का हाथ पकड़ा और दर्पण का मुख शिष्य की ओर कर दिया। शिष्य ने आज प्रथम बार उस दर्पण में अपने मन का प्रतिबिम्ब देखा तो वह हक्का-बक्का रह गया कि स्वयं उसके मन में तो सबसे ज्यादा कचरा भरा हुआ है। उसके मन का हर कोना क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, वासना आदि से भरा पड़ा है। वह अपनी बुराइयों को देखकर इतना घबरा गया कि उसके पूरे शरीर से पसीना बहने लगा। उसने गुरुजी से पूछा - गुरुदेव ! मैं यह क्या देख रहा हूँ? मेरा हृदय तो सभी हृदयों से ज्यादा बुरा दिखाई दे रहा है! गुरुजी ने सस्नेह शिष्य की ओर देखते हुए कहा - यह दर्पण मैंने तुम्हें दूसरों के मन की बुराइयाँ देखने के लिए नहीं अपितु अपने मन की बुराइयों को देखने के लिए दिया था ताकि तुम स्वयं को पवित्र बना सको परन्तु तुमने इस दर्पण का प्रयोग दूसरे के ऊपर किया, अब इसका प्रयोग तुम्हें स्वयं को देखने के लिए करना होगा। ज्ञानियों ने कहा है कि हमें स्वयं के दोषों को देखकर उनका निवारण करना चाहिए। जो अपनी शक्ति को दूसरों की निन्दा, आलोचना करने में व्यर्थ करते हैं वे जीवन भर दु:खी रहते हैं। जो अपनी दृष्टि से अपने दोष देखते हैं वे जीवन भर सुखी रहते हैं और धीरे-धीरे अपने दोषों का सुधार करके निर्दोष जिनेन्द्र देव का पद प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने दोषों को देखकर सुधार करता है और जीवन का विकास करते हुए निर्वाण को प्राप्त कर लेता है तथा मिथ्यादृष्टि दूसरे के दोषों को देखकर भव को बढ़ाते हुए अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

किराये के मकान के समान मानता है

जिस प्रकार किराये के मकान में रहने वाला व्यक्ति मकान के टूट-फूट जाने पर दु:खी नहीं होता। मकान के रंग-रोशन, मजबूती आदि को देखकर कभी खुश होता हुआ दिख सकता है। दिखता है लेकिन अंदर से खुश नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि यह मकान मेरा नहीं है, किराये का है। आखिर एक दिन मुझे इसे खाली करना ही पड़ेगा और इसीलिए वह उसकी सुरक्षा, लिपाई-पुताई आदि नहीं करता है। तात्कालिक साफ-सफाई, सुरक्षा आदि करता है किन्तु उसे उपादेय नहीं मानता है, मजबूरी मानता है क्योंकि उसे पता है कि यह मकान मेरा नहीं है। जब कभी उसमें टूट-फूट हो जावे, कुछ बिगड़ जावे या सरकार की तरफ से अतिक्रमण किया गया है ऐसा कहकर तोड़ दिया जावे अथवा उसमें कभी आग लग जावे, वह जल जावे भूकम्प आदि के कारण गिर जावे तो भी उसे दु:ख नहीं होता है उसका कारण उसकी मकान के प्रति ममता नहीं है, ममत्व परिणाम नहीं है। वह मकान को अपना नहीं मानता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव का भी स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि चेतन तथा धन-सम्पत्ति, मकान-दुकान आदि

अचेतन पदार्थों में कुछ मोह भी रहता है लेकिन वह उनको अपना नहीं मानता है, उसे पता रहता है कि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है। जो आया है वह अवश्य जायेगा। जो इष्ट का संयोग हुआ है उसका एक दिन वियोग भी होगा। कहा भी है- ''जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग अवश्य होगा, लेकिन जिसका वियोग हुआ है उसका संयोग होना आवश्यक नहीं है।'' जिसका जन्म हुआ है वह अवश्य मरेगा लेकिन जिसका मरण हुआ है वह पुन: जन्म लेगा ही ऐसा नियम नहीं है क्योंकि जीव मोक्षगामी भी हो सकता है। इसलिए इष्ट का वियोग होने पर या पुत्रादि का मरण हो जाने पर भी उसे बहुत दु:ख नहीं होता है। चारित्रमोह के तीव्र उदय से दु:ख होता भी है तो वह जिन्दगी भर उसे लेकर नहीं बैठा रहता है। ६ माह के अन्दर-अन्दर उसको छोड़ देता है क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का वासना काल छह माह मात्र ही कहा गया है। पण्डित सदासुखदासजी के पुत्र का जब मरण हो गया तब वे उसे जलाकर भगवान के दर्शन करने मंदिर की ओर आ रहे थे। रास्ते में किसी ने पूछा - पण्डितजी, आज आपको मन्दिर आने में देर कैसे हो गई? पण्डितजी ने उत्तर दिया - भाई! कुछ दिन पहले मेरे घर एक मेहमान आया था। वह आज जा रहा था। मैं उसे छोड़ने चला गया था इसलिए देर हो गई। उसने कहा- पण्डितजी! मैं आपकी बात का रहस्य नहीं समझा। पण्डितजी ने उन्हें रहस्य समझाते हुए कहा - मेरे एक बच्चा मेहमान के रूप में आया था वह आज मेरा घर छोड़कर चला गया अर्थात् मरण को प्राप्त हो गया। सम्यग्दृष्टि इसी प्रकार पुत्र-पौत्रादि का सम्बन्ध क्षणिक कुछ दिनों का ही मानता है और उनका वियोग हो जाने पर अतिसंक्लेश परिणाम नहीं करता है और इष्ट का संयोग होने पर अति आनन्दित भी नहीं होता है।

मुनीम जैसा रहता है

जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी सेठ के यहाँ मुनीम का काम करता है तो सेठ से भी ज्यादा व्यापार सम्बन्धी जानकारी उसको रहती है। कहाँ से कितना माल खरीदा है, कितना माल किस भाव में किसके यहाँ बेचा है, किसका पैसा उधार है तथा किसका पैसा आ चुका है, वर्ष-माह में कितना व्यय हुआ है और कितनी आय हुई है, कितना कहाँ खर्च हुआ है और कितनी बचत हुई है आदि-आदि सभी विषयों की जितनी जानकारी मुनीम को रहती है उतनी सेठ को नहीं रहती। लाभ होने पर मुनीम बाहर से बहुत प्रसन्न नजर आता है लेकिन उसको पता है कि यह सब मेरा नहीं है। मैं मात्र सेठ के यहाँ काम देखने वाला मुनीम हूँ मालिक तो वास्तव में सेठ ही है। कितना भी लाभ हो जावे इससे मुझे क्या? क्योंकि मुझे तो मासिक वेतन उतना ही मिलेगा जितना प्रतिमाह मिलता है। अधिक मिलने वाला नहीं और यदि नुकसान भी हो जाये तो उससे मुझे क्या, क्योंकि मुझे तो मासिक वेतन उतना मिलेगा ही जितना प्रतिमाह मिलता है। मुझे कुछ भी नुकसान होने वाला नहीं है क्योंकि दुकान, माल, व्यापार सब सेठ का है, मालिक सेठ है इसलिए लाभ-हानि सब उसी की है मेरी नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी व्यापार-व्यवसाय करता है, युद्ध करता है, आक्रमण करता है। उनमें हानि-लाभ, हार-जीत होने पर अप्रसन्न और प्रसन्न दिखाई देता है। आगे के लिए लाभ प्राप्त करने की, विजयी होने की योजना बनाता हुआ भी दिखता

है लेकिन उसको अंतरंग में यह विश्वास-श्रद्धा रहती है कि यह सब मेरा नहीं है और न ही मैं इनका हूँ। यह सब क्षणभंगुर है, नष्ट हो जाने वाला है। इसलिए उसको उन सबके संयोग-वियोग में विशेष अर्थात् अंतरंग से हर्ष-विषाद नहीं होता है। इसको हम एक पण्डितजी की जीवनघटना से समझ सकते हैं –

रात्रि का तृतीय पहर था। कविवर पण्डित बनारसीदासजी अपने घर में लेटे हुए थे। उनकी नींद खुल चुकी थी। वे उठने ही वाले थे कि तभी एक चोर उनके घर में घुस गया। उसने देखा कि घर के सभी लोग सोए हुए हैं तो सावधानी से घर का सारा सामान एक स्थान पर इकट्ठा कर के एक कपड़े में बाँध कर उसने एक गठरी तैयार कर ली। चोर को देखकर पण्डितजी चुपचाप इस तरह से लेटे रहे कि कहीं चोर को उनके जागने का अहसास नहीं हो जावे, अन्यथा चोर अपना काम छोड़कर चला जावेगा। चोर ने गठरी को उठाने की कोशिश की किन्तु गठरी में वजन ज्यादा हो जाने से वह उससे उठ नहीं पा रही थी। वह गठरी को देख-देख सोच रहा था कि आखिर किस उपाय से इसको ले जाया जाय। उसको चिंतित देखकर पण्डितजी को दया आ गयी। वे उठे और चोर के पास जाकर नम्रता से कहने लगे-ले भाई, गठरी मैं उठवा देता हूँ। पण्डितजी की बात सुनकर चोर घबरा गया क्योंकि वह न भाग पा रहा था और न ही दृष्टि उठाकर पण्डितजी के सामने देख पा रहा था क्योंकि वह चोरी करते हुए रंगे हाथों पकड़ा गया था। उसकी इस दशा को देखकर पण्डितजी उसे धैर्य बँधाते हुए बोले - घबराओ मत, तुम्हें इन सामानों की आवश्यकता है तभी तो तुम चोरी जैसा पाप करने आये हो। मुझे इन सामानों की ज्यादा आवश्यकता नहीं है; लो, इसे ले जाओ। इस प्रकार कहते हुए उन्होंने गठरी उठाकर उसके सिर पर रख दी। चोर के पास कोई चारा नहीं था। वह विस्मित होता हुआ अपने घर पहुँचा और माँ के सामने आज घटी हुई आश्चर्यजनक घटना हूबहू सुना दी। घटना को सुनकर चोर की माँ ने कहा - बेटा, जाओ तुम जिस घर से यह धन लाये हो वहीं वापिस देकर आओ। ऐसे निःस्पृह और ईमानदार व्यक्ति का धन अपने को नहीं पच पायेगा। चोर ने माँ के कहे अनुसार चोरी करने का त्याग करते हुए धन वापिस पण्डितजी के घर पहुँचा दिया।

यह श्रद्धा के साथ चारित्र का भी एक उदाहरण है। यदि कोई सम्यग्दृष्टि चोर से अपना धन छुड़ा ले या घर में चोरी हो जाने पर चोर की खोज करे-करावे अथवा थाने में उसकी रिपोर्ट दर्ज करावे तो भी उसका सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता है क्योंकि उसके अन्दर श्रद्धा होने पर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से धन-सम्पत्ति के प्रति ममत्व का परिणाम है इसलिए वह ऐसा कर रहा है। सम्यग्दृष्टि को धन के प्रति तात्कालिक उपादेय भाव तो रहता ही है। यदि नहीं रहता होता तो चक्रवर्ती, राजा-महाराजा और श्रीरामचन्द्र, चक्रवर्ती सगर भरत आदि जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे राजाओं पर विजय प्राप्त करके क्यों अपने राज्य की वृद्धि करते। लाखों लोगों को मौत के घाट उतारते। इतना सब करने के बाद भी जब उन्होंने दीक्षा ली वे मुनि बने तब उनके दिल में उस राज्य, धन-सम्पदा आदि के प्रति किसी प्रकार का राग, स्नेह, अपनत्व, ममत्व का परिणाम उत्पन्न नहीं हुआ। उसीका फल था कि वे शुक्ल ध्यान से कर्मों का नाश करके परम निर्वाण को प्राप्त हो गये।

इसलिए उपर्युक्त पण्डितजी का दृष्टान्त उत्कृष्टता की अपेक्षा समझना चहिए। ऐसे सम्यग्दृष्टि विरले

ही होते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि कुछ ही भवों में निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे ही विरले साधुओं में परमपूज्य दादागुरु आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का नाम नहीं भूला जा सकता है। उन्होंने जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि ऐसे महाकाव्यों की रचना की जिनकी हिन्दी करना, समझना तो बहुत दूर उनके स्वयं के द्वारा की गयी हिन्दी को समझना भी अत्यन्त दुष्कर है। जिनकी तुलना विद्वानों ने 'मेघदूत' जैसे काव्य से की है। इसी प्रकार के अन्य भी लगभग २४-२५ ग्रन्थों की रचना की। रचना करके रख दिया लेकन कभी किसी के सामने उन्हें प्रकाशित करने-करवाने की बात तो बहुत दूर उनकी चर्चा तक नहीं करते थे। इसलिए उनके द्वारा लिखित साहित्य वर्षों तक अप्रकाशित ही रहा था। धन्य है उनकी नि:स्पृहता को, वे हमारे लिए आदर्श हैं। इसी प्रकार संतशिरोमणि आचार्य गुरुवर विद्यासागरजी महाराज से मेरी अग्रजा हमारी संचालिका पूज्य आर्यिका श्री विशालमती माताजी ने एक बार कहा - पूज्य गुरुवर! आप तो बहुत महान् हैं, आप इतने बड़े संघ के नायक होकर भी कितने नि:स्पृह हैं, निर्विकल्प रहते हैं...। पूज्य गुरुवर आर्यिका माताजी की बात सुनकर बोले - ''मैं संघ का नायक नहीं ज्ञायक (देखने वाला) हूँ।'' ऐसी होती है सम्यग्दृष्टि की दृष्टि। वे सब कुछ करते हुए भी अपने आपको उसके कर्तृत्व के अहंकार से दूर रखते हैं, धन्य है ऐसे पूज्य गुरुवर को।

भोगसामग्री से ज्यादा धर्म को मानता है

सम्यग्दृष्टि जीव भोगसामग्रियों की अपेक्षा धर्म को ज्यादा महत्त्व देता है। वह धर्म के लिए धन और भोग सामग्रियों की बात तो बहुत दूर अपने प्राणों की भी आहुति दे देता है लेकिन धर्म को नहीं छोड़ता है। पूर्व काल में असंख्य जीवों ने अपने धर्म/सम्यग्दर्शन की रक्षा के लिए अपने प्राणों का विसर्जन कर दिया, उन्हीं को हम उपसर्गविजयी मुनिराज कहते हैं और उन्हें ही हम सती साध्वी नारियाँ एवं उन्हें ही हम सच्चे धर्मात्मा मोक्षगामी जीव कहते हैं। इसी संदर्भ में एक पौराणिक कथा है- उज्जयनी का राजा विश्वन्धर एक नगर सेठ की कन्या बंधुश्री को देखकर मोहित हो गया। वह कामज्वर से पीड़ित होकर बीमार हो गया। अनेक प्रकार के उपचार के बाद भी राजा का स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ तब मंत्री आदि ने मिलकर सेठ के यहाँ समाचार भेजकर सेठ को बुलाकर कहा- श्रेष्ठिन् ! आपकी पुत्री से राजा विवाह करना चाहता है। उनकी बात सुनकर सेठ सोचने लगा कि नीति तो यह है ''कन्या सदा साधर्मी को ही देनी चाहिए। विधर्मी को कन्या देना महापाप है। राजा जैनधर्म को नहीं मानता है अत: चाहे जो कुछ भी हो मैं इस विधर्मी राजा के यहाँ अपनी कन्या का विवाह नहीं करूँगा। सांसारिक सुखों के लिए धर्म को बेचा नहीं जा सकता है। धर्म ही संसार से त्राण/रक्षा करने वाला है। यही जीवन का सच्चा साथी है, इसके बिना जीवन निरर्थक है। मेरी बेटी ने वीतराग प्रभु की सेवा-अर्चना की है, दिगम्बर मुनियों को आहार दिया है, रात्रिभोजन करना वह जानती नहीं है। बिना छने पानी को उसने कभी पिया नहीं है। वह किस प्रकार विधर्मी के यहाँ जाकर अपने धर्म की रक्षा कर सकेगी? क्या मैं राजा के दबाव में आकर धर्म को बेच दूँ? अपनी बेटी को कुए में धकेल दूँ। कभी नहीं, मैं अपनी बेटी का विवाह किसी जैन धर्मानुयायी के साथ ही करूँगा, चाहे वह गरीब ही क्यों न हो'', इस प्रकार अनेक प्रकार से विचार

करने के बाद बेटी को विधर्मी को नहीं देने का निर्णय करके अपनी धर्मपत्नी को बुलाकर उसका अभिप्राय जानने के लिए बोला - ''प्रिये, महाप्रतापी राजा विश्वंधर अपनी पुत्री बंधुश्री के साथ विवाह करना चाहता है, यह हमारे लिए गौरव की बात है। अपनी बंधुश्री पट्टरानी बनेगी जिससे राजदरबार में हमारा भी सम्मान होगा। अत: जल्दी से बंधुश्री के विवाह की तैयारियाँ शुरू करो।'' सेठ की बात सुनकर उसकी पत्नी धनश्री बोली - ''स्वामिन् ! आज आपको क्या हो गया है? क्या आपने कुछ नशे की चीज तो नहीं खायी है जिससे ऐसी विचित्र बातें कर रहे हैं। राजा विश्वंधर विधर्मी है, मिथ्यादृष्टि है, व्यसनी है, उससे मैं अपनी पुत्री का विवाह कभी नहीं कर सकती। वीतराग प्रभु की श्रद्धा के बिना रूप, लावण्य, धन, वैभव, विद्या, पवित्रता, कुल आदि सभी व्यर्थ है। मदोन्मत्त हाथी के पैर के नीचे दबाकर मार देना या लड़की का गला दबाकर हत्या कर देना अच्छा है पर मिथ्यादृष्टि से बेटी का विवाह करना अच्छा नहीं है। जो व्यक्ति धर्म की अपेक्षा राज्य को या वैभव को महत्त्व देते हैं वे निम्न कोटि के हैं। धर्म के सामने राजवैभव तुच्छ है। इन क्षणिक वस्तुओं की तुलना धर्म के साथ नहीं की जा सकती है। स्वामिन् ! आपने बिना विचारे ही ऐसा कहा है। मैं आपको क्या उपदेश दे सकती हूँ। आप स्वयं विचार कीजिए कि मेरा कहना सत्य है या असत्य? आप विशेषज्ञ हैं, लोक और शास्त्र की मर्यादा के जानकार हैं अतएव आपकी आज्ञा ही मेरे लिए शिरोधार्य है।'' पत्नी की बात सुनकर सेठ बोला - ''मैं आज तुम्हारे आदर्शमय विचारों को जानकर बहुत प्रसन्न हूँ। विधर्मी को कन्या देने के पक्ष में मैं कभी तैयार नहीं हो सकता हूँ। अब हमें बंधुश्री से पूछना चाहिए यदि वह राजवैभव को पसंद करे तो हमें फिर अन्य तरीके से विचार करना होगा।'' ऐसा सोचकर वे दोनों बंधुश्री को बुलाकर प्रेमपूर्वक बोले- ''बेटी, तेरे समान पुण्यशाली कौन नारी होगी जिसके साथ विवाह करने का प्रस्ताव मालव नरेश स्वयं रखे और विवाह के तत्काल बाद पटरानी पद पर अभिसिक्त करने का वादा भी करे अत: बेटी अपने भाग्य को सराहो, भगवान की पूजा करो और प्रभु को सौ-सौ बार नमस्कार करो।'' पिताजी की बात सुनकर बंधुश्री बोली- ''पिताजी! क्षमा करें, क्या आपकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है अथवा आप मेरी परीक्षा करने के लिए ही सांसारिक वैभव का प्रलोभन दे रहे हैं? मुझे विश्वास नहीं हो रहा है कि आप मेरा विवाह किसी विधर्मी के साथ करने का विचार भी कर सकते हैं। क्या आप उससे मेरा विवाह करके मुझे धर्मभ्रष्ट करना चाहते हैं? मैं वासना लोलुपी नहीं हूँ। समस्त सुखों को देने वाला यही धर्म है। यह जैन धर्म बड़े पुण्योदय से प्राप्त होता है, पापी जीव इसे कभी नहीं पा सकते हैं। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ही मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। मिथ्यात्व से इस जीव का त्रिकाल में भी हित नहीं हो सकता है। धर्म के सामने मेरे लिए राजवैभव खाक है। विधर्मी के साथ विवाह करने की अपेक्षा तो आप मेरी हत्या कर दें यही श्रेष्ठ है। मैं अहिंसा धर्म का पालन करते हुए अपने प्राण देना भी उचित समझती हूँ। आप पिता होकर भी मेरा अनिष्ट करने को तैयार हैं। क्या इस समय कोई भी मेरी रक्षा नहीं कर सकेगा।'' यह कह कर वह रोने लगी। बेटी की बात सुनकर सेठ बोला- ''धन्य हो पुत्री, आज मेरा जीवन सफल हो गया। तुम जैसी कन्या को पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। बेटी, यह तुम्हारी परीक्षा थी। तुम इसमें पूर्ण सफल हो गयी। बेटी, मेरे जीवित रहते तुम्हारा विवाह विधर्मी से कभी नहीं हो सकता।'' इस प्रकार पत्नी और बेटी के विचार

समझ कर अपने सम्यक्त्व की रक्षा करने के लिए वह एक अरब आठ करोड़ की सम्पत्ति को छोड़कर रात में ही पुत्री को लेकर नगर छोड़कर चला गया। जब राजा को यह समाचार मिला कि गुणपाल अपनी सारी सम्पत्ति को ज्यों का त्यों छोड़कर अपनी पुत्री को साथ लेकर चला गया है तो राजा सोचने लगा कि उस धर्मात्मा ने मुझ पापी को अपनी कन्या देना उचित नहीं समझा, इसीसे यहाँ से चुपचाप चला गया है। वास्तव में धर्म ही कल्याण करने वाला है। मैंने कुधर्म-सेवा में अपना जीवन यों ही बिता दिया। इस प्रकार विचार करने से राजा की कुधर्म से रुचि हट गयी। वह भी जिनेन्द्र भगवान का भक्त बन गया। **(धर्मा.)**

भ्रमर के समान होता है

जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर बैठता है, पराग पीता है, रस लेता है और बिना शोर मचाये उड़ जाता है। उसकी दृष्टि फूलों के रंगों पर नहीं जाती है, न फूलों के नाम पर जाती है और न ही उनके आकारों पर जाती है। भ्रमर को पाँखुड़ी से प्रेम नहीं होता। वह पाँखुड़ी में नहीं रमता है वह तो पराग में रमता है। उसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव इस शरीर रूप फूल के सुंदर रंगों से अर्थात् काले-गोरे रूप को नहीं देखता है। वह शरीर आश्रित रखे जाने वाले नाम में क्षोभ नहीं करता है और न ही प्रसन्न होता है। चाहे करोड़पति आदमी है उसका नाम गरीबचन्द्र रख दे और चाहे अंधे का नाम नयनसुख रख ले, कोई फर्क नहीं पड़ता है, क्योंकि नाम तो मात्र लोक में पहिचान के लिए रखा जाता है। उसको शरीर के अंगोपांग अर्थात् हाथ, पैर, आँख, नाक आदि शरीर की पाँखुड़ियों में कोई विशेषता नजर नहीं आती, उसे तो इस देह रूपी फूल में स्थित आत्मा रूपी पराग से प्रयोजन होता है। जिस प्रकार पराग की रक्षा करने के लिए फूल की रक्षा करना अनिवार्य है उसी प्रकार आत्मा की रक्षा के लिए शरीर रूपी फूल की रक्षा करना भी आवश्यक होती है इसलिए वह नहाना, धोना, खाना-पीना आदि शरीर की रक्षा करने वाले कार्यों को करता है फिर भी उसका मूल उद्देश्य तो आत्मकल्याण करना ही होता है। जिस प्रकार फूल में जब पराग कम होने लगती है तो भ्रमर का आना-जाना कम हो जाता है। उसी प्रकार जब यह आत्मा शरीर रूपी फूल में व्रत-संयम रूपी पराग कम होती हुई दिखती है तो यह आत्मा रूपी भ्रमर भी इस शरीर रूपी फूल को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है अर्थात् शरीर की सुरक्षा करना छोड़कर समाधि धारण कर लेता है। पराग से रहित फूल को छोड़ने में जिस प्रकार भ्रमर को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को शरीर छोड़ने में कष्ट नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टि की उदार भावनाएँ

सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दृष्टियों, श्रावकों और मुनियों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, व्रत आदि जो उत्तमोत्तम गुण हैं उनको अपनाने में मानसिक रुचि रखता है, वह उत्तम साधुओं की वैयावृत्य करता है, उन्हें नमस्कार करता है, उनके आने पर खड़ा होता है, उनको उच्चासन पर विराजमान करता है, उनके पैर धोता है, साधर्मी भाइयों में स्वाभाविक स्नेह करता है। जिसमें उपर्युक्त सभी बातें होती हैं वह जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। वह जीव और शरीर में जो परस्पर ऐसे मिले हुए हैं जैसे दूध में घी।

इसी कारण मूढ़ पुरुष शरीर को ही जीव समझते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि जीव ज्ञान गुण वाला है और शरीर पौद्गलिक है। अत: वह शरीर को जीव से वैसा ही भिन्न मानता है। जैसा ऊपर से पहना हुआ वस्त्र शरीर से जुदा है।

सम्यग्दृष्टि का कोई अविनय कर देता है अथवा कड़वा-मीठा कुछ कह देता है तो क्रोधित अथवा मदोन्मत्त होकर उसका उन्हीं शब्दों में उसी प्रकार प्रतिकार नहीं करता है, सहन कर लेता है, कभी प्रतिकार भी कर लेता है, लेकिन यदि कोई पूज्य पुरुषों का, गुरुओं का तिरस्कार करता है, अविनय करता है, तिरस्कार करने वाले कड़वे वचन कहता है तो अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिकार अवश्य करता है। जिस प्रकार मुनिराज के ऊपर उपसर्ग को देखकर सूअर ने सिंह का प्रतिकार किया था।

शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी होकर भी ज्ञान का मद नहीं करता। उच्चकुल और उच्चजाति पाकर भी कुल और जाति का मद नहीं करता। बलवान होकर भी अपनी शक्ति के नशे में चूर नहीं होता, पुत्र-स्त्री, धन-धान्य, हाट-हवेली, नौकर-चाकर आदि विभूति पाकर भी मदांध नहीं होता है। जगत् में आदर-सत्कार होते हुए भी अपनी प्रतिष्ठा पर गर्व नहीं करता। न सुंदर-सुरूप शरीर का ही अभिमान करता है और यदि तपस्वी हो गया है तो तप का अभिमान नहीं करता है। शत्रु-मित्र और कांच-कंचन को समान समझता है। रत्नत्रय और सोलह कारण भावनाओं को ही सदा भाता है तथा अपने को सबसे तुच्छ/तृण के समान मानता है। अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है और त्रस-स्थावर जीवों का जिसमें घात होता है ऐसे आरम्भों को भी करता है फिर भी वह यह जानता है कि यह सब मोह कर्म का विलास है, मेरा स्वभाव नहीं है। एक उपाधि है त्यागने योग्य है किन्तु यह जानते हुए भी कर्म से बलात् प्रेरित होकर उसे विषयभोग में लगना पड़ता है। उसकी दशा उस चोर के समान होती है जो कोतवाल के द्वारा पकड़ा जाकर फाँसी के तख्ते पर लटकाया जाने वाला है। पकड़े जाने पर चोर को कोतवाल जो-जो कष्ट देता है उसे वह चुपचाप सहता है और अपनी निन्दा करता है। इसी प्रकार कर्मों के वश हुआ सम्यग्दृष्टि जीव भी असमर्थ होकर विषय-सेवन करता है और पश्चाताप करता है।

जिस प्रकार सूर्यभक्त बंधूक पुष्प सूर्याभिमुख होकर रहता है उसी प्रकार भव्य जीव/सम्यग्दृष्टि भी जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट सन्मार्ग के प्रति अभिमुख होकर रहते हैं। बंगसेना (हाथियावृक्ष) सूर्य बिम्ब के अवलोकन से खिल जाता है इसी प्रकार भव्य जीव जिनपूजोत्सव को देखने से संतुष्ट होकर अपने आपको धन्य मानता है। **(दा. शा.)**

सम्यग्दृष्टि भय, व्यसन और सम्यक्त्व के मलों से रहित होता है, संसार शरीर भोगों से विरक्त होता है, अष्टांग गुणों से युक्त होता है और पंच परमेष्ठी का भक्त होता है। **(र.सा. ५)**

मोह का अभाव होने से जिनोपदिष्ट सम्यक्त्व की आराधना करने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष वात्सल्य, विनय, दान देने में दक्ष, दया, मोक्षमार्ग की प्रशंसा, उपगूहन, संरक्षण, स्थितीकरण और आर्जवभाव इन लक्षणों से जाना जाता है। **(चा.पा. ११)**

जिस प्रकार कोई स्त्री पति के परदेश जाने पर अपने घर का काम करती हुई भी बार-बार पति का स्मरण करती है, कभी स्थिर बैठकर पति के गुणों व प्रेम का विचार करती है। विचार करते-करते कभी प्रेम में आसक्त हो पति से मिलने का सा सुख अनुभव करती है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी गृहस्थी के भोजन बनाना, कमाना, खाना, खिलाना, आदि कार्यों को करते हुए भी बार-बार जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करता है। कभी देव-पूजा-अर्चना, सामायिक आदि के समय जिनपद के स्वरूप का, उनकी गुणावली का चिन्तन करता है और एकाग्र होकर उन जैसी ही सुख-शान्ति की अनुभूति करता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अन्य देश में विद्यमान अपनी मनोहर स्त्री के पास से आये हुए मनुष्यों का उस स्त्री की प्राप्ति के लिए अर्थदान (धन देना) सम्मान आदि करता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी अठारह दोषों से रहित परमात्मा के स्वरूप अर्हत् सिद्ध परमेष्ठी का, उनके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय और साधु को परमात्मा रूप की प्राप्ति के लिए और विषय-कषाय से बचने के लिए दान-पूजा आदि से अथवा गुणों की स्तुति आदि से परम भक्ति करता है और भोगों की वांछा आदि निदान से रहित परिणामों से कुटुम्बियों के पालन के समान निरिच्छकपने से विशिष्ट पुण्य का आस्रव करता है अर्थात् जैसे किसान जब चावलों की खेती करता है तब उसका मुख्य उद्देश्य चावल उत्पन्न करने का रहता है चावल के पलाल का नहीं।

सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में सम्यक्त्वाचरण चारित्र रहता है जिसके कारण नि:शंकितादि आठ अंगों से विभूषित तथा २५ दोषों से विमुख होता है। अन्याय, अभक्ष्य भक्षण एवं माया, मिथ्यात्व तथा निदान, इन तीन शल्यों से रहित होता है फिर भी व्रती नहीं कहलाता है क्योंकि उसने हिंसादि पाँच पापों को गुरु की साक्षीपूर्वक त्याग नहीं किया है। विषय वासनाओं से विरक्त नहीं हुआ है। इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है तथा विषयविरक्ति के अभाव में प्रतिक्षण आस्रवबन्ध होता रहता है। जो सर्वज्ञ की आज्ञा से वैषयिक सुख छोड़ने योग्य है और आत्मिक सुख उपादेय है' इस प्रकार का श्रद्धान रखते हुए भी पृथ्वी की रेखा के समान अप्रत्याख्यानावरण आदि १२ कषायों के अधीन होकर इन्द्रियों से होने वाले सुख को भोगता है और स्थावर तथा जंगम प्राणियों को पीड़ा भी पहुँचाता है किन्तु कोतवाल के द्वारा मारने के लिए पकड़े गये चोर के समान अपनी निन्दा-गर्हा करता है। वह अविरत सम्यग्दृष्टि भी पाप से उत्कृष्ट क्लेश को प्राप्त नहीं होता है। **(धर्मा)**

तोता यदि सोने के पिंजरे में रहकर मेवा (काजू किशमिश आदि) और खीर खाकर अपने आपको सुखी माने तो उसकी भूल ही है। पिंजरे के बंधन में वह अपने स्वामी की कृपा पर ही भोजन पा सकता है। यदि वह पिंजरे से बाहर निकल जाए तो स्वतंत्रता से जहाँ चाहे उड़कर जा सकता है और जो फल खाना चाहे खा सकता है। इसी तरह संसारी जीव भी शरीर के बंदीगृह (जेल) में स्वतंत्रता का सुख नहीं पा सकता है उसे शरीर के कारण जन्म-मरण, भूख-प्यास आदि की आकुलता सदा लगी रहेगी। तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन करते हुए और सुस्वादु जल पीते हुए मुझे अनन्त समय बीत गया है तथा अनेक तरह के विषयसुख भोगते हुए मुझे असंख्य वर्ष हो गये किन्तु न इस जीव की (मेरी) भूख प्यास मिटी

और न इन्द्रियाँ ही तृप्त हुईं बल्कि जिस तरह खारा पानी पीने से प्यास बढ़ती जाती है उसी प्रकार भोगों को भोगने से विषयों की लालसा बढ़ती ही जाती है। यदि विषयभोगों को छोड़ दिया जाय तो आत्मा को संतोष और शांति प्राप्त हो सकती है। सम्यग्दृष्टि सदैव इसी तरह से विचार करता रहता है। **(जी.पु.)**

जिस प्रकार पुत्र की मृत्यु के कुछ समय बाद ही कोई व्यक्ति अपनी बेटी का विवाह करता है उस समय वह बाहर में सभी रागरंग करता है, मिठाइयाँ बनवाता है, बाजे बजवा कर महोत्सव करते हुए दिखाई देता है किन्तु अन्तरंग में तो वह रोता ही रहता है उसे बार बार अपने पुत्र का वियोग खटकता रहता है। वह हँस-हँस कर अतिथियों का स्वागत करता है, उनसे मिलता है, उनके साथ खाता है, खिलाता है, बातें करता है, फिर भी उसका अन्तरंग पुत्र की स्मृतियों में डूबा हुआ शोक से विह्वल ही रहता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी व्यापार करता है, भोग भोगता है, पत्नी पुत्र आदि के साथ उठता बैठता है, मनोरंजन करता है लेकिन अन्तरंग से नहीं बाहर से। अन्दर से तो वह इन सब कर्मों को करता हुआ भी पश्चाताप ही करता है यह सब उसे आडम्बर लगते हैं। आन्तरिक जीवन का गला घोटने वाले ही प्रतीत होते हैं। लोगों को वह सब कुछ करता हुआ दिखता है पर वास्तव में वह स्वयं कुछ भी नहीं करना चाहता है। इसी को अरुचिपूर्वक करना कहते हैं। घर में रहते हुए भी वैरागी होना इसी का नाम है।

सम्यग्दृष्टि जीव भले ही स्वयं दीक्षा न ले पर किसी को दीक्षा लेने में बाधक नहीं बनता है। जो दीक्षा-शिक्षा का निषेध करता है वह नियम से संयम का प्रतिपक्षी है। **(आ.श्री.)**

सम्यग्दृष्टि यद्यपि पापों से बहुत डरता है, सदाचारी होता है फिर भी चारित्र मोहनीय का तीव्र उदय होने से न महाव्रत धारण करता है और न ही अणुव्रत धारण करता है अर्थात् वह किसी भी प्रकार से कोई त्याग नहीं कर सकता है। जिस प्रकार उत्तम कुल का नवयुवक जिसकी अभी शादी नहीं हुई है वह यद्यपि स्त्री प्रसंग से दूर रहता है अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करता है फिर भी ब्रह्मचर्य पालन का संकल्प नहीं होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अणुव्रती-महाव्रती नहीं होकर भी पापाचारी नहीं होता है। **(स.सा.श.)**

इस संसार में मिथ्यादृष्टि वेश्याओं के समान सभी मनुष्यों के साथ व्यवहार कर इस शरीर के सुख के लिए द्रव्य कमाते हैं एवं अपनी मूर्खता से शरीरसुख को ही सुख समझकर पापबंध करते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पतिव्रता स्त्री के समान गुरुओं के द्वारा दिये हुए व्रतों को पालन करते हुए अपने स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए इधर-उधर के विचारों को छोड़कर जिनेन्द्र भगवान की सेवा करने में ही दत्तचित्त रहते हैं एवं पुण्यबंध करते हैं। **(दा.शा.)**

अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि इन्द्रियविषयों में आसक्त है, त्रस-स्थावर जीवों का घात जिनमें होता है ऐसे आरम्भों में वर्तमान है अर्थात् विरक्त नहीं हुआ है तो भी सबको हेय मानता है और ऐसा जानता है कि यह मोह का विलास है। सम्यग्दृष्टि उत्तमगुण अर्थात् सम्यग्दर्शनादि गुणों के ग्रहण करने में अनुरागी होता है। गुणधारक उत्तम साधुओं में विनय संयुक्त होता है। साधर्मियों में अनुरागी होता है। यह जीव

देह से मिल रहा है तो भी अपना ज्ञान गुण है इसलिए अपने को देह से भिन्न ही जानता है। देह जीव से मिल रहा है तो भी उसको कंचुक (कपड़े) के समान जानता है। **(का.अ. ३१४-१६)**

एक विदेशी महिला थी। एक बार उसने पूरे विश्व का परिभ्रमण करने का निश्चय किया। वह एक सम्पन्न घर की थी इसलिए उसके पास पर्याप्त सम्पत्ति थी। अपने निश्चय के अनुसार वह विश्व परिभ्रमण के लिए निकल पड़ी। उसके पास मात्र एक झोला था। लोग उसे देखते, उसका संकल्प सुनकर उनकी आँखें विस्फुरित हो उठतीं। बात आश्चर्य के योग्य भी थी। जब वह गाड़ी से उतरकर पैदल यात्रा करती तो झोले में से कुछ निकालकर निरन्तर बाहर फेंकती जाती। लोगों ने उससे पूछा - देवीजी, अन्यथा न मानें। हमारी जिज्ञासा हमें आपसे पूछने के लिए बाध्य कर रही है। आप अपने झोले से निरन्तर कुछ निकाल कर यत्र-तत्र फेंकती जा रही हैं हमें बतायें वह क्या है? देवीजी ने अपनी मधुर मुस्कान विकीर्ण करते हुए समस्त वातावरण को मैत्रीपूर्ण भाव से आलोकित करते हुए कहा - ये सुन्दर-सुन्दर फूलों के बीज हैं। मैं इन्हें इस तप्त भूमि पर इसलिए फेंक रही हूँ कि जब भी वर्षा होगी वातावरण शांत, अनुकूल होगा ये अंकुरित होंगे और मौसम आने पर इन पर सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंगे फूल खिलेंगे। लोगों ने उनसे पूछा - देवीजी, क्या उन सुन्दर-सुन्दर फूलों को देखने के लिए आप पुन: इसी मार्ग से लौटेंगी? उसने पुन: उसी सहज मुस्कान में कहा- ''मैं निकलूँ या न निकलूँ इससे क्या फर्क पड़ता है। अरे, सुन्दर-सुन्दर फूल अनुकूल वातावरण में पुष्पित होंगे, खिलेंगे, उनकी मधुर भीनी-भीनी गंध से वातावरण प्रसन्न होगा। उसे देखकर मानवता मुकुलित होगी, आनन्दविभोर होगी। क्या यही मेरे लिए पर्याप्त आनन्ददायी नहीं है। मैंने अपने जीवन में प्रभु से यही वरदान मांगा है। उसने मेरे जीवन में फूल खिलाये हैं वे मैंने भी मुक्तहस्त से बाँटना शुरू कर दिया है। सच बिल्कुल इसी प्रकार होता है धर्मी का स्वभाव। इस प्रकार की होती है सम्यग्दृष्टि की उदार भावनाएँ एवं सभी के हित की विचारधाराएँ। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के बारे में और विचार करके अपने आपको टटोलना चाहिए कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ या मिथ्यादृष्टि। यदि मुझमें कुछ कमी है तो उसे दूर करके सम्यग्दृष्टि बनने का पुरुषार्थ करना चहिए।

४. सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के विचारों में अन्तर

संसार में सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों एक ही समान खाते-पीते, घूमते, ऐशो-आराम करते हुए दिखाई देते हैं तो क्या वे दोनों एक जैसे ही होते हैं, उन दोनों के जीवन में कोई फर्क नहीं होता है, क्या दोनों के एक जैसे कर्मों का बंध होता है? क्या उन दोनों की चर्या में कोई भेद नहीं होता है? यदि वे दोनों एक जैसे ही हैं तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से क्या लाभ हुआ? उससे मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी? यह सत्य है कि सम्यग्दृष्टि भी मिथ्यादृष्टि के समान ही खाता-पीता, ऐशो-आराम करता हुआ दिखता है लेकिन दोनों के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि भोग भोगते हुए आनन्दित होकर निरन्तर संसार की वृद्धि करता रहता है और सम्यग्दृष्टि के विचार इससे भिन्न होने के कारण उसके संसार की कभी वृद्धि नहीं होती है। बाहर की क्रियाएँ एक समान दिखने पर भी अंतरंग में उनके विचार भिन्न-भिन्न होने के कारण उसके संसार की कभी वृद्धि नहीं होती है। बाहर की क्रियाएँ एक समान दिखने पर भी अंतरंग में उनके विचार भिन्न-भिन्न होने से दोनों के कर्मबंधन में भी अंतर पड़ जाता है। इन दोनों के विचारों में किस प्रकार से, किस अपेक्षा, कितना और कैसा अन्तर होता है, उसको हम नीचे लिखे बिन्दुओं के आधार से समझने की कोशिश करते हैं-

१. भोग और योग की अपेक्षा २. कबूतर और तोते के समान ३. विचारों की अपेक्षा ४. भोगासक्ति की अपेक्षा ५. शरीर और आत्मा के ज्ञान की अपेक्षा ६. श्वान एवं सिंह के समान ७. कषाय की अपेक्षा ८. मरण के समय।

कहा भी है - जैसे सभी वृक्ष फलों के बिना समान दिखलाई देते हैं किन्तु फल आने पर सभी वृक्षों के गुण अलग-अलग प्रगट हो जाते हैं। आम और लीची के वृक्ष समान दिखाई पड़ते हैं किन्तु फल आने पर उनका भेद प्रगट हुए बिना नहीं रहता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की क्रियाएँ भी समान रूप से होती हैं परन्तु अवसर आने पर दोनों का भेद प्रगट हुए बिना नहीं रह सकता। **(धर्मा.)** अर्थात् आम के वृक्ष पर आम लगते हैं और लीची के वृक्ष पर लीची ही लगती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के कर्मबंध में भी अंतर होता है।

भोग और योग की अपेक्षा

सम्यग्दृष्टि जीव भोग में अर्थात् शादी-विवाह, व्यापार-व्यवसाय आदि लौकिक कार्यों में भी योग अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु का समागम, अभिषेक-पूजन, तीर्थयात्रा आदि धार्मिक आत्मकल्याणप्रद कार्यों के योग्य निमित्तों को ढूंढता है और मिथ्यादृष्टि जीव योग में अर्थात् धार्मिक अनुष्ठानों में तीर्थक्षेत्र आदि में जाकर भी भोग की सामग्रियों को ढूंढता है अथवा धर्मानुष्ठान की सामग्रियों को ही भोग की सामग्री बना लेता है। उनका भोग करने लग जाता है। जैसे- सम्यग्दृष्टि यदि जूनागढ़ घूमने जाता है तो गिरनार सिद्धक्षेत्र की यात्रा करने अवश्य जाता है और मिथ्यादृष्टि गिरनारजी की यात्रा करने जाता है तो वहाँ से सोमनाथ, दमनदीव, जूनागढ़ आदि स्थानों पर घूमने चला जाता है। सम्यग्दृष्टि घूमने का बहाना बनाकर

तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन आदि धार्मिक कार्य करता है और मिथ्यादृष्टि तीर्थयात्रा का बहाना बनाकर घूमने चला जाता है जैसे मिथ्यादृष्टि गोमटेश्वर बाहुबली की वन्दना करने जाता है तो क्षेत्र पर कम समय रुककर ऊटी, मैसूर आदि स्थानों पर घूमने में ज्यादा समय लगाता है और सम्यग्दृष्टि ऊटी घूमने जाता है तो ऊटी में कम समय रुककर गोमटेश, धर्मस्थल, मूडबद्री आदि धार्मिक स्थलों पर समय ज्यादा लगाता है। सम्यग्दृष्टि सब्जी खरीदने जाने का बहाना बनाकर मंदिर के दर्शन करता है, गुरुओं का उपदेश सुनता है और मिथ्यादृष्टि मंदिर का बहाना बनाकर जाता है और सब्जी खरीद लाता है। बाजार के काम करने चला जाता है। सम्यग्दृष्टि रिश्तेदारों से मिलने का बहाना बनाकर धार्मिक कार्य कर लेता है और मिथ्यादृष्टि मंदिर दर्शन के लिए जाता है वहीं रिश्तेदारों से बातें करने लगता है। उनके सुख-दुःख की पूछने लगता है, वहीं मंदिर में भी यदि कोई देनदार मिल जाये तो उससे वसूली करने में लग जाता है।

एक बार एक राजा और मंत्री क्रीड़ा करने के लिए जंगल में जा रहे थे। राजा और मंत्री जब कभी आपस में विनोद करते रहते थे। उस दिन भी राजा को कुछ विनोद सूझा। उसने मंत्री से कहा - मंत्रीजी, आज मुझे एक स्वप्न आया था। मंत्री ने कहा - महाराज, आपको क्या स्वप्न आया? मुझे भी बताइये। राजा ने कहा - सुनो, मंत्री मेरा स्वप्न बहुत अच्छा है। तुम और मैं आज की तरह ही एक दिन क्रीड़ा करने जा रहे थे। रास्ते में दो गड्ढे दिखे। उनमें से एक गड्ढा गोबर से तथा दूसरा गड्ढा शक्कर की चासनी से भरा हुआ था। अचानक तुम गोबर के गड्ढे में गिर गये और मैं शक्कर की चासनी के गड्ढे में। इस प्रकार कहते हुए राजा ठहाका लगाकर हँस पड़ा। मंत्री ने अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए कहा - राजन् ! मुझे भी ठीक ऐसा ही सपना आया लेकिन इससे थोड़ा और ज्यादा आया। राजा जिज्ञासा प्रगट करते हुए बोला - मंत्रीवर, तुम भी मुझे इसके आगे का स्वप्न बताओ। मंत्री बोला - महाराज, आप शक्कर के गड्ढे में पड़े-पड़े भी मेरे गड्ढे का अर्थात् मेरे गड्ढे में भरे हुए गोबर को खाने के लिए तरस रहे थे। लपक-लपक कर मेरे गड्ढे की ओर आने की कोशिश कर रहे थे और मैं गोबर के गड्ढे में पड़े-पड़े भी आपके गड्ढे का माल अर्थात् चासनी खाने की कोशिश कर रहा था। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग के पंचेन्द्रिय के विषय भोग रूपी गोबर के गड्ढे में पड़ा हुआ भी मनुष्य पर्याय में ही प्राप्त करने योग्य संयम रूपी चासनी को खाने के लिए तरसता रहता है, ललचाता है और मिथ्यादृष्टि जीव मनुष्य पर्याय जैसी संयम धारण करने योग्य पर्याय को प्राप्त करके भी स्वर्ग, भोगभूमि, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, नारायण-प्रतिनारायण आदि लौकिक सुखों को प्राप्त करने के लिए तरसता रहता है। मिथ्यादृष्टि मंदिर में भगवान की पूजा आदि धार्मिक कार्य करते हुए भी घड़ी देखता रहता है अर्थात् यह इंतजार करता रहता है कि यह पूजा, प्रवचन आदि धार्मिक कार्य कब पूरा हो, मैं घर जाऊँ, दुकान पर जाकर पैसा कमाऊँ और सम्यग्दृष्टि दुकान/घर आदि भोगों के स्थानों में रहकर भी यह इंतजार करता रहता है कि यह घर, दुकान का काम कब हो, पूरा हो और मैं गुरु के चरणों में जाऊँ, प्रवचन सुनकर अपने कल्याण का कार्य करूँ। जिस प्रकार कोई नौकर अपने स्वामी का कार्य करते-करते भी यही सोचता रहता है कि कब यह (काम देखने वाला) सेठ इधर-उधर हो और मैं काम छोड़कर आराम करूँ। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी आरम्भ-सारंभ के काम छोड़कर आत्मकल्याणपरक कार्यों को करने का अवसर ढूंढता रहता है।

मिथ्यादृष्टि कहीं यात्रा या धार्मिक कार्यक्रम पंचकल्याणक, वेदी प्रतिष्ठा, गुरु से नगरागमन का निवेदन, तीर्थयात्रा आदि करने जाता है तो भी वहाँ कभी सिनेमा देखने चला जाता है तो कभी प्रसिद्ध बाग-बगीचों में घूमने निकल जाता है, कभी वहाँ झूला झूलता है तो कभी विषयभोग की सामग्रियाँ खरीदने लगता है और सम्यग्दृष्टि कभी व्यापारिक दृष्टि से अर्थात् माल खरीदने-बेचने के लिए अथवा व्यावहारिक कार्य विवाह, जन्मदिवस आदि कार्यक्रमों में जाता है तो भी गुरुओं की, साधर्मियों की और जिनालयों की खोजबीन करके वहाँ पहुँचकर भोगों में होने वाले पापों को हल्का कर लेता है, कुछ धार्मिक कार्य कर लेता है। इन सब कार्यों में जाने के पहले ही वह उस स्थान पर रहने वाले धर्मात्माओं के बारे में जानकारी ले लेता है और मिथ्यादृष्टि इन स्थानों पर जाने के पहले ही वहाँ आस-पास में स्थित भोग सामग्रियों की जानकारी ले लेता है। इसीलिए कहा है - मिथ्यादृष्टि को धर्म/धार्मिक कार्य करने पड़ते हैं और सम्यग्दृष्टि को लौकिक कार्य करने पड़ते हैं। मिथ्यादृष्टि भोगों के कार्यों को प्रसन्नता से करता है और करके प्रसन्न भी होता है तथा सम्यग्दृष्टि धार्मिक कार्यों को प्रसन्नता से करता है और करके प्रसन्न भी होता है। आदि-आदि क्रियाओं से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियों की वृत्ति और विचारों में अन्तर समझ कर अपने आप में खोज करना चाहिए कि मैं मिथ्यादृष्टि हूँ या सम्यग्दृष्टि? मेरी वृत्तियाँ, आचरण, विचार सम्यग्दृष्टि जैसे हैं या मिथ्यादृष्टि जैसे? यदि मिथ्यादृष्टि जैसे हैं तो मुझे पुरुषार्थपूर्वक इन वृत्तियों को छोड़कर सम्यग्दृष्टि जैसे विचार और वृत्तियाँ बनाना चाहिए।

कबूतर और तोते के समान

जिस प्रकार कबूतर को कितना ही दूर उड़ाकर आ जावें या पकड़कर बहुत दूर लेजाकर छोड़ आवें अथवा पचासों बार उड़ाकर बाहर करें तो भी वह लौट-लौटकर पुन: वहीं आ जाता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव चाहे घर छोड़कर सम्मेदशिखर, गिरनारजी आदि सिद्ध क्षेत्रों पर चला जावे, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया आदि दूर देशों में चला जावे अथवा घर के पुत्र, पौत्र आदि घर से निकाल दें, दुत्कार दें अथवा घर को छोड़कर आश्रम आदि में जाकर रहने के लिए कह दें, तो भी वह अपने घर को छोड़कर कहीं जाना ही नहीं चाहता है। यदि कभी चला भी गया तो पुन: लौटकर वहीं आ जाता है। महीनों गुरुओं की सेवा करके भी वह भोगों से विरक्त नहीं हो पाता है अर्थात् भोग नहीं भोगते हुए भी उसके अन्दर भोग की वासनाएँ समाप्त नहीं हो पाती हैं। कबूतर से ठीक विपरीत प्रकृति वाला तोता होता है जिसको पिंजड़े में बंद करके रखा जाता है। उसको दूध-रोटी, किशमिश, काजू, अंगूर, अनार आदि उत्तमोत्तम वस्तुएँ खिलाई जाती हैं फिर भी वह (तोता) उसमें रहना नहीं चाहता है। जैसे ही कभी भूल से पिंजड़े का दरवाजा खुला रह जाता है तो वह उसमें से निकलकर उड़ जाता है अथवा वह दरवाजा खुला रहने का इंतजार ही करता रहता है। एक बार पिंजड़े से निकल जाने के बाद वह कभी भ्रमित होकर भी पुन: पिंजड़े में बंद नहीं हेाता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी घर रूपी पिंजड़े में रहता है। घर के सभी काम-काज करता है। मनोज्ञ विषयों का भोग करता है। फिर भी घर छोड़ने का छोटा सा निमित्त मिलते ही वह घर से विरक्त होकर मुनि बन जाता है।

किसी नगर के राजा ने एक तोता पाल रखा था। उसे अपने तोते से बहुत प्रेम था। उसका तोता बड़ा सुहावना एवं बुद्धिमान था। राजा ने उसे रत्नजड़ित स्वर्णनिर्मित पिंजरे में रखा था। राजा उसे अपने हाथों से सुवर्ण पात्रों में दाना-पानी तथा उसके मन को प्रिय लगने वाले आम, अंगूर, जामफल आदि ताजा मीठे फल खिलाता था। उसके सोने के लिए एक मखमल की सुन्दर कोमल गादी बनाई गई थी। ४-५ सेवक उसकी सेवा के लिए नियुक्त किये गये थे। राजा को प्यारा होने से उसे भरपूर राजसम्मान भी मिलता था। एक दिन राजा क्रीड़ा करने के लिए वन में जा रहा था तभी उसको लगा कि मैं पहले अपने प्यारे तोते से मिलूँगा उसके बाद क्रीड़ा करने जाऊँगा। यह सोच कर वह तोते के पास गया और बोला - मेरे प्यारे तोते! मैं जंगल में क्रीड़ा करने जा रहा हूँ, तुझे भी अपने साथियों को कुछ समाचार देना हो तो कहो। तोते ने कहा- राजन् ! तुम जंगल में मेरे मित्रों से कहना कि मैं सोने के पिंजड़े में रहता हूँ, मुझे बिना मेहनत के सारी सुख-सुविधाएँ सहज रूप से मिल जाती हैं, मैं मखमल की गादी पर सोता हूँ, राज्य के सभी लोग मुझे बहुत प्यार करते हैं। लेकिन तुम लोग कभी भूल कर भी पिंजड़े में मत फँसना। तोते के समाचार लेकर राजा क्रीड़ा करने जंगल की तरफ चल दिया। वह जिंदगी में पहली बार अपने प्यारे तोते के समाचार लेकर वन में क्रीड़ा के लिए जा रहा था इसलिए वह आज बहुत प्रसन्न था। जब वह घने जंगल में पहुँचा तो उसने एक वृक्ष पर सैकड़ों तोतों को बैठे हुए देखा। उन्हें देखते ही उसने अपने तोते की सारी बातें अर्थात् समाचार उन तोतों को सुना दिये। राजा के मुख से पिंजड़े में बंद अपने मित्र तोते के समाचार सुनकर सभी तोते एक-एक करके जमीन पर गिर गये। राजा को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। उसने उनके निकट जाकर देखा तो उसे ऐसा अहसास हुआ कि शायद सभी तोते मर गये हैं या मरणासन्न हैं। उसने उनको उठाया, उनके शरीर पर पानी छिड़का, उनको हिलाया, लेकिन किसी भी तोते की कोई चेष्टा/क्रिया नजर नहीं आयी तो राजा ने समझा कि ये सब तोते मर चुके हैं। मेरे समाचार देने के कारण इतने सारे तोते मरण को प्राप्त हो गये यह सोचकर उसके दिल में बहुत पश्चाताप हुआ। उसकी आँखों में आँसुओं की धारा बहने लगी और उसे अपने तोते के ऊपर क्रोध भी आया कि उसने ऐसे-कैसे समाचार दिये जिन्हें सुनकर बेचारे सैकड़ों तोते मौत के मुख में चले गये। वह मन-ही-मन में पश्चाताप करता हुआ अपने राजमहल में लौटा और तोतों के गिरने का रहस्य समझे बिना ही अपने प्यारे तोते को जंगल में घटी हुई तोतों के गिरने की घटना/समाचार सुना दिये। राजा के मुख से अपने मित्रों के गिरने की घटना सुनकर वह तोता भी पिंजड़े में गिर गया। पिंजड़े में अपने प्यारे तोते को गिरा देखकर राजा को बहुत दु:ख हुआ। उसने तत्काल राजवैद्य को बुलाकर तोते को दिखाया। वैद्य ने भी कई प्रकार से तोते की बीमारी जानने की कोशिश की अनेक प्रकार की औषधियों का प्रयोग किया लेकिन उसे कोई सफलता नहीं मिली तो उसने तोते के मरने की घोषणा कर दी। राजा ने तोते के अन्तिम संस्कार करने के लिए तैयारी करने का आदेश दिया। सेवकों ने शीघ्र ही तैयारी करके जब तोते को पिंजड़े में से निकाल कर सुन्दर डोली में बिछी हुई मखमल की गादी पर रखा तो तोता एक क्षण में ही उड़कर एक वृक्ष पर जाकर बैठ गया। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव होता है। वह भी घर रूपी पिंजड़े में से निकलने के लिए किसी निमित्त का इंतजार करता रहता है।

सम्यग्दृष्टि वैराग्य और ज्ञानभाव से समय को व्यतीत करता है, मिथ्यादृष्टि आकांक्षा, दुर्भाव, आलस्य और कलह से समय बिताता है। **(र.सा. ५३)**

सम्यग्दृष्टि के सबके प्रति मित्रता की भावना रहती है। वह सोचता है दूसरे कभी पाप न करें एवं कभी किसी पर संकट न आए। संकट के समय मैं दूसरों की सहायता करूँ ऐसी भावना नहीं भाता अपितु दूसरों पर संकट आए ही नहीं, ऐसी भावना भाता है। एक दिन प्रवचन सभा में रामायण का प्रसंग सुनाते हुए आचार्यश्री ने कहा कि - रावण से युद्ध जीतने के बाद रामचन्द्रजी, लक्ष्मण, सीता, हनुमान एवं सुग्रीव आदि सभी एक साथ बैठे हुए थे। आपस में चर्चा चल पड़ी कि इस विषय में राम को हनुमान, सुग्रीव आदि ने बहुत सहयोग दिया। सभी ने सोचा रामचन्द्रजी अब सभी के संकट के समय साथ देंगे। इसी बीच रामचन्द्रजी ने सभी के सहयोग की सराहना करते हुए कहा कि मैं आप लोगों के संकट के समय कभी काम नहीं आऊँ ऐसी भावना करता हूँ। यह सुनकर सभी लोग अवाक् रह गये। थोड़ी देर बाद बोले - रामचन्द्रजी ! यह आपके कैसी कृतघ्नता के भाव हैं? उनकी बात सुनकर रामचन्द्रजी बोले कि मैं यह नहीं चाहता हूँ कि आपके संकट के समय काम आऊँ बल्कि मैं ऐसी भावना भाता हूँ कि आप पर कभी संकट ही न आए।

विचारों की अपेक्षा

मिथ्यादृष्टि के समान सम्यग्दृष्टि भी भोग भोगता है तथा अपने कषायांश के अनुसार पाप के फल को बुरा और पुण्य के फल को अच्छा समझता है। अत: जब तक गृहस्थावस्था में रहता है तब तक पाप के फल से बचकर पुण्य फल को बनाये रखने की यथासाध्य बुद्धिपूर्वक चेष्टा भी करता है। फिर भी इन दोनों (मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि) की चेष्टाओं में पशु और मनुष्य के समान बहुत बड़ा अन्तर होता है। मनुष्य भी खाता है और पशु भी खाता है लेकिन पशु मात्र पेट भरने के लिए खाता है इसलिए वह घास के साथ कंकर, मिट्टी और यहाँ तक कि जीव-जंतु हो तो भी खा जाता है। जबकि मनुष्य भोजन को साफ करके खाता है। जिस प्रकार बछड़ा गाय का दूध पीता है तो गाय को भी आराम मिलता है और बछड़ा भी तृप्त होता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि की चेष्टाएँ स्वयं और दूसरे, दोनों के लिए लाभदायक होती हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि की चेष्टाएँ दोनों के लिए कष्टदायक होती हैं। जैसे - जौंक दूसरे का खून चूसती है तो स्वयं भी कष्ट पाती है और दूसरों को अर्थात् जिसका खून चूसा है उसको भी कष्ट पहुँचाती है। इस प्रकार दोनों ही दु:खी होते हैं। **(स.सा.श.)**

मिथ्यादृष्टि जीव नये से नये भोगों को भोगने के लिए लालायित बना रहता है। जैसे कौआ जब प्यासा होता है तो एक बूंद किसी घड़े में से पीकर फिर एक चंचु/चोंच किसी दूसरे घड़े में जा मारता है, इस प्रकार कई गृहस्थों के घड़ों को बिगाड़ डालता है तो भी तृप्त नहीं होता है। अव्रत सम्यग्दृष्टि भी भोग भोगता है किन्तु अपने कर्मोदय के अनुसार जो कुछ उसे प्राप्त हो जाता है वह उसी में संतोषपूर्वक भोग करता है। जैसे कि पालतू कुत्ता अपने मालिक की दी हुई रूखी-सूखी रोटियाँ खाकर भी मस्त रहता है। जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती और सुभौम चक्रवर्ती दोनों ही षट्खण्ड के अधिपति थे, दोनों ही चक्रवर्ती

के वैभव का भोग करते थे लेकिन दोनों के भोग भोगने के भावों में आकाश-पाताल का अंतर था। भरत चक्रवर्ती उन भोगों को आत्मानन्द रूपी सुखामृत के सम्मुख खल के टुकड़े जितना भी नहीं मानते थे इसलिए अंत में उन्होंने भोगों का त्यागकर क्षण भर में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और सुभौम चक्रवर्ती अपने राज्य को, भोगों को अपने बाहुबल से प्राप्त की हुई बहुत बड़ी वस्तु मानता था। धन को ही वह सब कुछ और सर्वोपरि सुख का कारण मानता था। धर्म को ढकोसला समझता था एवं भोगविलास में मग्न रहता था। इसीलिए वह एक आम्रफल के स्वाद में फँस कर अकाल में अर्थात् बेमौत मरकर घोर श्वभ्रसागर (नरक) में गया। **(स.सा.श.)**

सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक चेष्टा सद्भावना को लेकर होती है अत: वह पापापहारक होकर पुण्यवर्द्धक हुआ करती है किन्तु मिथ्यादृष्टि की वही चेष्टा दुर्भावना को लिये हुए होने से पापमय होती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियों के भोग भोगते समय होने वाली वैचारिक विषमता को बताने का एक दृष्टान्त हमने उज्जैन नगर में परम पूज्य मुनि श्री १०८ समयसागरजी महाराज (जो परम पूज्य संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के प्रथम शिष्य भी हैं और सहोदर भी हैं) के मुखारविन्द से सुना था वह इस प्रकार है –

एक परिवार में दादी-दादा, माता-पिता, पुत्र-पौत्र आदि अनेक सदस्य थे। एक दिन पिताजी किसी काम से बाहर गाँव अर्थात् बड़े शहर जा रहे थे। पिताजी के शहर में जाने की बात सुनकर पुत्र कहता है कि पिताजी मैं भी साथ चलूँगा। बच्चे के साथ चलने की बात सुनकर पिताजी ने उससे अपना पीछा छुड़ाने के लिए कहा - बेटा, अभी तुम साथ नहीं चलो, तुम्हें बाद में कभी शहर ले चलूँगा और सुनो मैं तुम्हारे लिए बहुत सारी मिठाइयाँ लाऊँगा। तुम अभी यहीं रुक जाओ। बच्चा मिठाई का नाम सुनकर खुश होकर घर पर ही रुक जाता है। पिताजी जब शहर से अपना काम करके मिठाई साथ में लेकर लौटे तो पिताजी को आते हुए देखकर बच्चा पिताजी से लिपट जाता है। पिताजी थैले में से मिठाई निकालकर २-३ बर्फी, जलेबी आदि पुत्र को देते हैं और दूसरे हाथ में दादाजी के लिए भी मिठाई दे देते हैं। बच्चा दादाजी की मिठाई दादाजी को दे देता है और नाचते हुए उछलते-कूदते हुए मिठाई खाने लगता है। दादाजी भी शांत भाव से वहीं बैठे-बैठे थोड़ी मिठाई पौत्र को देकर स्वयं खाने लगते हैं। वे उछलते नहीं हैं, कूदते नहीं हैं, हर्षित नहीं होते हैं और न खाते हुए अतिप्रसन्न ही होते हैं क्योंकि वे ऐसी मिठाइयाँ अनेक बार खा चुके हैं। उनका आनन्द ले चुके हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव पंचेन्द्रिय की भोगसामग्रियों को देखते ही बच्चे के समान आनन्दित होता है। उनको भोगते समय नाचता है, कूदता है, खुश होता है क्योंकि वह विषय-भोग की सामग्रियों को नयी-नयी ही मानता है और सम्यग्दृष्टि को इन भोगसामग्रियों को देखकर आनन्द नहीं आता है। वह उनको नयी नहीं मानता है। भले ही उसे तात्कालिक आनन्द आ भी जावे तो भी वह जानता है कि -

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मयासर्वेऽपि पुद्गला: ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ (इष्टो. ३०)

मैं ये सामग्रियाँ अनन्त-अनन्त बार भोग कर छोड़ चुका हूँ। अनन्त बार भोगने पर भी मुझे आज तक इनसे तृप्ति नहीं हुई अपितु इनको भोगने से तृष्णा की ही वृद्धि हुई है। एक बार भोगने पर भी वस्तु उच्छिष्ट हो जाती है तो अनन्तबार भोगने पर ये उच्छिष्ट क्यों नहीं होंगी। अत: इन जूठन के समान भोग सामग्रियों को मैं कैसे भोग सकता हूँ। इस प्रकार विचार करता हुआ वह भोगते हुए भी विरक्त रहता है इसकी यही विरक्ति/विचार भविष्य में भोगों को छोड़ने में सहयोगी बनते हैं। इसीलिए वह शीघ्र ही मुनि बनकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

भोगासक्ति की अपेक्षा

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के भोग भोगने में आसक्ति की अपेक्षा बहुत बड़ा अन्तर होता है। जिस प्रकार हिरण और बिल्ली दोनों के भोग में अन्तर होता है। यद्यपि दोनों ही तिर्यंचगति के जीव हैं फिर भी दोनों की भोजन के प्रति आसक्ति में आकाश-पाताल जैसा अन्तर होता है। हिरण घास खाता है वह भी ऊपर-ऊपर की, वह कभी जड़-मूल से उखाड़कर घास को नहीं खाता है। इस समय भी यदि किसी के आने की आहट आ जावे तो अर्थात् पैरों से चलने की या खाँसने की आवाज आ जावे तो वह तत्काल घास खाना छोड़कर भाग जाता है। बिल्ली माँस-चूहा, कबूतर आदि खाती है। छिप करके, छल करके घरों में जाकर दूध पीती है, दही खाती है, उस समय यदि कोई उसे देखकर उसको लाठी भी मार दे, लाठी से उसकी कमर भी टूट जावे तो भी वह चूहे को नहीं छोड़ती है। जब तक दूध-दही खतम नहीं हो जाता तब तक वह उसे खाना नहीं छोड़ती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के भोग भोगने में अन्तर समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव हिरण के समान नि:स्पृह होता है। वह भोग भोगते समय सब कुछ भूल नहीं जाता है जैसे ही थोड़ा कुछ बाह्य निमित्त मिला कि वह भोग छोड़ देता है अथवा भोगों को छोड़ने का विचार करता ही रहता है। इसी विषय को पुष्ट करने वाली एक पौराणिक कथा इस प्रकार है–

अयोध्या नगरी का अधिपति 'सुरत' नामका राजा था। उसके ५०० रानियाँ थीं। उनमें से 'सती' नामकी पटरानी उसे सबसे ज्यादा प्यारी थी। वह दिन-रात पटरानी के साथ ही रहता था। वह एक क्षण के लिए भी अपनी रानी के बिना नहीं रह सकता था इसलिए उसने राज-काज की चिन्ता छोड़कर रनिवास में ही रहना प्रारम्भ कर दिया था। उसने अपने अन्त:पुर के पहरेदारों से कह रखा था कि यदि मेरा कोई खास काम ही हो अर्थात् जो मेरे बिना नहीं हो सकता हो या कभी कोई दिगम्बर साधु महात्मा आवे तो मुझे सूचना देना। इनके अलावा किसी काम की सूचना मुझे मत देना। एक दिन पुण्ययोग से मासोपवासी दमदत्त और धर्मरुचि नामके मुनिराज राजमहल की तरफ आहार के लिए आ रहे थे। पहरेदारों ने मुनिराज को देखते ही राजा को सूचना दी। उस समय राजा अपनी रानी के मस्तक पर तिलक लगा रहा था। सूचना सुनते ही राजा ने कहा - प्रिये ! जब तक यह तिलक न सूखे, मैं मुनिराज को आहार देकर तत्काल आता हूँ। ऐसा कहकर वह मुनिराज को आहार देने के लिए चला गया। उसने नवधाभक्ति पूर्वक अपने आपको भाग्यवान मानते हुए मुनिराज को आहार करवाया। इधर रानी भोग में अन्तराय का कारण मुनिराज को समझ उनकी निन्दा करने लगी, उनके लिए यद्वा-तद्वा बोलने लगी। फलत: उसका शरीर तत्काल

काला पड़ गया। उसके शरीर में से कुष्ठ झरने लगा, बदबू आने लगी। जब राजा मुनिराजों को आहार देकर आया और अपनी पटरानी के शरीर की दुर्दशा देखी तो उसे संसार से विरक्ति आ गयी। वह समझ गया कि यह मुनिनिन्दा का ही दुष्परिणाम है। उसने दीक्षा लेकर कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर लिया। ऐसा होता है सम्यग्दृष्टि, वह भले ही बाहर में विषयासक्त दिखता हो लेकिन वह अन्दर विषयों के सुख से अधिक मूल्यवान धर्म को ही मानता है और मिथ्यादृष्टि बिल्ली के समान होता है। उसको भोग-भोगते समय गुरु कितना भी तर्क, युक्ति, आगम और दृष्टान्त देकर भी समझावें तो भी वह भोग नहीं छोड़ता है। कभी स्वास्थ्य की दृष्टि से वैद्य या चिकित्सक कोई वस्तु खाने के लिए मना कर दे, जैसे कोई चिकित्सक कैंसर, क्षय रोग, श्वास आदि की बीमारी के कारण पान, गुटखा, बीड़ी, सिगरेट आदि खाने के लिए मना कर दे तो कुछ दिन मौत के डर से वह छोड़ भी दे तो भी थोड़े ही दिनों में वापस खाने लग जाता है। वह यहाँ तक कह देता है कि मरना है तो खा-पीकर ही मरो।

शरीर और आत्मा के ज्ञान की अपेक्षा

एक सईस जी घोड़े पर बैठकर अपनी धर्मपत्नी को लेने के लिए ससुराल जा रहे थे। जाते-जाते रास्ते में अचानक आँधी-तूफान के साथ वर्षा भी होने लगी। थोड़ी देर में ही पानी के साथ ओले भी गिरने लगे। चारों तरफ दिन में रात्रि की अनुभूति होने लगी। बिजली की कड़कड़ाहट और बादलों की भयंकर गर्जना भय उत्पन्न करने लगी। फिर भी सईस जी धैर्य के साथ घोड़े की लगाम थामे आगे बढ़े जा रहे थे क्योंकि रास्ते में ऐसा कोई स्थान नहीं था जहाँ वे कुछ देर रुक करके ओले-पानी से बच जाते। असमय में पानी में भीग जाने के कारण ससुराल में पहुँचते-पहुँचते उन्हें खाँसी चलने लगी, जुकाम हो गया और बुखार का भी अनुभव होने लगा। जैसे ही वे ससुराल पहुँचे उन्हें घर के बाहर सालाजी मिल गये। सालाजी ने उन्हें अभिवादन किया और इतने खराब/विकृत मौसम में भी सुरक्षित यहाँ (घर) तक पहुँच जाने के बारे में पूछा। सईसजी ने रास्ते में बीती हुई सभी बातें सालाजी को बता दीं और अन्त में अपने घोड़े की प्रशंसा करते हुए बोले - भाईसाहब, वास्तविकता तो यह है कि इस घोड़े की कृपा से ही मैं यहाँ अर्थात् आपके घर तक पहुँच पाया हूँ। अन्यथा आँधी, तूफान, ओले, पानी और रास्ते में मिलने वाले नदी-नालों में से किसी एक के कारण तो मैं अवश्य ही मर जाता। सालाजी ने जब सईसजी के मुँह से घोड़े की प्रशंसा सुनी तो उनके मन में घोड़े के प्रति कृतज्ञता का भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा सच आज यदि यह घोड़ा नहीं होता तो मेरी बहिन विधवा हो जाती। मेरी बहिन जिन्दगी भर कितने दु:ख भोगती, कहा नहीं जा सकता। अत: मुझे इस घोड़े की अच्छी हिफाजत करनी चाहिए, इसकी सेवा करके इसके उपकार को चुकाना चाहिए। उसने अपनी माँ से कहा - माँ, अच्छी उकाली बनाओ और पहले थोड़ा सरसों का तेल गरम करके दो तब तक मैं मालिश करके आता हूँ। उसने घोड़े की अच्छी मालिश की और उकाली लाकर घोड़े को पिला दी तथा टाट आदिसे उसको ढक दिया। दो-तीन घण्टे के बाद माँ के द्वारा जँवाई (सईसजी) के लिए बनाये गये सभी मिष्टान्न लाकर घोड़े को खिला दिये। बेचारे जँवाई जी पूरे दिन ठिठुरते हुए बैठे रहे।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपूर्व और दुर्लभतम मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके यह समझने लगता है कि इस शरीर रूपी घोड़े से ही मुझ आत्मा रूपी सईस की रक्षा है। इससे ही मेरा जीवन है। इसके बिना तो मैं जी ही नहीं सकता हूँ। इसलिए मुझे (सालाजी के समान) इस शरीर रूपी घोड़े की ही अच्छी से अच्छी व्यवस्था करनी चाहिए। सुरक्षा करनी चाहिए। यही सोचकर वह इस शरीर रूपी घोड़े को ही खिलाता है, पिलाता है, सुलाता है और यों कहना चाहिए कि वह अपनी पूरी शक्ति, पूरा धन और पूरा समय केवल शरीर की व्यवस्था में ही लगा देता है तथा ऐसा करते हुए अपने जीवन की सफलता मानता हुआ समझता है कि मैं अपनी शक्ति, धन तथा समय का उपयोग कर रहा हूँ। इस कारण उसे अपनी आत्मा का कोई ख्याल ही नहीं रहता है। वह तो यही समझता है कि यह सब मैं अपने लिए ही कर रहा हूँ क्योंकि वह आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानता ही नहीं है। उसकी दृष्टि में आत्मा है वही शरीर है और शरीर है वही आत्मा है। इसलिए वह शरीर की सेवा, व्यवस्था, सुरक्षा में अपना जीवन लगा देने से दुर्गति को प्राप्त करके अनन्त भवों तक दु:ख भोगता है। ठीक इससे विपरीत सम्यग्दृष्टि जीव शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न मानता है इसलिए वह शरीर की व्यवस्थाएँ अर्थात् खाना-पीना, कमाना, सोना-बैठना आदि कार्य करता है। वे सब औषधि सेवन और औषधि के साथ खाये जाने वाले पथ्य के सेवन के समान करता है। जिस प्रकार रोगी औषधि खाते हुए एवं पथ्य के रूप में आराम करना, फलों का सेवन करना, दूध पीना, मेहनत से बचना आदि कार्यों को करते हुए भी हमेशा यह विचार करता रहता है कि यह औषधि खाना और पथ्यों का पालन मुझे तभी तक करना है जब तक मैं स्वस्थ नहीं हो जाऊँ। वह समय-समय पर भगवान से प्रार्थना भी करता है कि हे भगवन्! कब मैं स्वस्थ हो जाऊँ ताकि मुझे यह औषधि नहीं खानी पड़े, इन पथ्यों का पालन नहीं करना पड़े। वह यद्यपि औषधि खाना नहीं चाहता लेकिन वेदना सहन नहीं हो पाने के कारण उसे औषधि खानी पड़ती है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी भोग नहीं भोगना चाहता है वह उन्हें उपादेय नहीं मानता है लेकिन चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उसे भोगों का सेवन करना पड़ता है। भोग भोगते हुए भी वह विचार करता रहता है कि कब मैं इन विषयभोगों को छोड़कर अपनी आत्मा का कल्याण करूँ। कब मेरे तीव्र कर्म के उदय रूपी बीमारी ठीक हो जावे जिससे मुझे ये भोग रूपी औषधि नहीं खानी पड़े और स्त्री-पुत्र-पौत्र आदि के साथ बोलना हँसना खेलना-खाना आदि रूप पथ्य का सेवन नहीं करना पड़े। मुझे कर्मोदय से रहित अशरीरी अवस्था रूपी स्वास्थ्य को प्राप्त कर सिद्धशिला रूप महल में शांति से आनन्द का जीवन प्राप्त हो। कहा भी है–

सम्मादिट्ठी णाणी, अक्खाणसुहं कहं पि अणुहवदि।
केणावि ण परिहरणं वाहीणविणासगट्ठ भेसज्जं ॥ (रयणसार १३५)

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव किसी प्रकार अनिच्छा से इन्द्रियों के सुख का अनुभव करता है, जैसे रोग को दूर करने के लिए औषधि किसी के द्वारा छोड़ी नहीं जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ देव से प्रणीत निश्चय और व्यवहार नय को साध्य-साधक भाव से मानता है परन्तु भूमि की रेखा के तुल्य क्रोध आदि द्वितीय कषाय भेद के उदय से मारने के लिए कोतवाल से

पकड़े हुए चोर की भाँति आत्मनिंदादि सहित होकर इन्द्रियों के सुख का अनुभव करता है। **(वृ.द्र.सं. १३ टी.)**

इस संसार में मिथ्यादृष्टि जीव वेश्याओं के समान सभी मनुष्यों के साथ व्यवहार कर इस शरीर के सुख के लिए द्रव्य कमाते हैं एवं अपनी मूर्खता से शरीरसुख को ही सुख समझकर पापबंध करते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पतिव्रता स्त्री के समान गुरुओं के द्वारा दिये हुए व्रतों का पालन करते हुए अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए इधर-उधर के विचारों को छोड़कर जिनेन्द्र भगवान की सेवा करने में ही दत्तचित्त रहते हैं एवं पुण्यबंध करते हैं।

श्वान एवं सिंह के समान दृष्टि में अन्तर होता है

श्वान एवं सिंह दोनों मांसाहारी क्रूर परिणाम वाले जीव हैं लेकिन दोनों की दृष्टि में आकाश-पाताल जैसा अन्तर होता है। श्वान (कुत्ता) की दृष्टि निमित्त पर होती है इसलिए वह निमित्त पर झपटता है, उसे ही अपना घातक समझता है। जब कभी कोई उसे लाठी से मारता है तो वह लाठी को पकड़ता है उसे ही मुँह में लेकर चबाता है, उसे तोड़ कर नष्ट करने की कोशिश करता है। उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता है कि मुझे लाठी से मारा जा रहा है, लाठी मुझे नहीं मार रही है, मारने वाला तो कोई और ही है। वह यह नहीं सोच पाता है कि मैं एक लाठी को तोड़ दूँगा, उसके टुकड़े-टुकड़े भी कर डालूँगा तो भी लाठीवाला दूसरी लाठी लेकर मुझे मारेगा/मार सकता है इसलिए वह लाठी को पकड़ता है। इससे विपरीत सिंह को जब कोई गोली/बाण मारता है तो वह गोली या बाण पर नहीं झपटता, वह बाण मारने वाले पर प्रहार करता है जिससे वह मृत्यु से बच जाता है। वह जानता है कि यदि गोली मारने वाला नहीं होगा तो न गोली मुझे मार सकती है और न ही बन्दूक मेरा कुछ बिगाड़ सकती है क्योंकि बन्दूक और गोली तो जड़ है, मारने का निमित्त है, गोली चलाने वाला तो कोई और है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव हमेशा निमित्तों की ओर दृष्टि रखता है इसलिए जो कोई उसके साथ एक बार बुरा व्यवहार करता है तो वह उसके साथ १०० बार बुरा व्यवहार करने का विचार करता है। कोई उसके १०० रुपये का नुकसान करता है तो वह उसके १००० रुपये का नुकसान करने के विचार बनाता रहता है। यदि कोई उसकी दुकान के पास वैसी ही दुकान लगाता है तो वह उसकी दुकान में हानि होने की, ग्राहक नहीं आने की भगवान से प्रार्थना करता है क्योंकि उसको लगता है कि इसकी (दूसरी) दुकान खुल जाने से मेरी दुकान पर ग्राहक कम हो गये हैं। कभी कोई नुकसान होने पर वह सोचता है उसने मेरा नुकसान कर दिया है, इसके कारण ही मेरे साथ ऐसी घटना घटी है अन्यथा मेरे साथ ऐसी घटना कभी घट ही नहीं सकती। इस डॉक्टर ने लापरवाही की इसलिए मेरा बेटा मर गया अन्यथा मेरा बेटा कभी मर ही नहीं सकता, आदि-आदि। सम्यग्दृष्टि कभी इस प्रकार के विचार नहीं करता है। वह जानता है कि मेरे भाग्य में सम्पत्ति आना लिखा है तो एक नहीं दस दुकानें भी मेरी दुकान के इर्द-गिर्द खुल जावें तो भी ग्राहक आयेंगे, मुझे धनलाभ होगा। कोई मेरा कितना ही बुरा करने की कोशिश करे यदि मेरे पूर्वोपार्जित पाप का उदय नहीं होगा तो कोई भी मेरा बुरा नहीं कर सकता है। यदि मेरे पाप का

उदय है तो कोई मेरा बुरा नहीं भी करे तो भी बुरा होगा। इस प्रकार विचार करने से उसके अन्दर ईर्ष्या की आग नहीं जलती है। वह दूसरे का बुरा करने के विचार बनाकर अनावश्यक पाप का अर्जन नहीं करता है वह यह भी जानता है कि मेरे बुरे विचार करने से अथवा बुरा करने से सामने वाले का बुरा हो ही कोई नियम नहीं है। जिस प्रकार प्रद्युम्नकुमार को राजा कालसंवर एवं उसके बेटों ने १६ बार मारने की कोशिश की लेकिन प्रद्युम्न का कुछ नहीं बिगड़ा बल्कि उसके पूर्वोपार्जित पुण्य का उदय होने से १६ ही बार उसे विशेष-विशेष लाभ ही मिला था। इसी प्रकार श्रीदत्त सेठ ने धनकीर्ति को ५ बार मौत के मुँह में ढकेल दिया फिर भी पूर्व में मछली को जीवनदान देने से प्राप्त पुण्य के फल में उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ था। प्रद्युम्नकुमार, धनकीर्ति आदि पुण्यात्माओं का तो कुछ नहीं बिगड़ा लेकिन उन बुरा करने वालों का तो सब कुछ बिगड़ ही गया था अर्थात् वे दुर्गति को प्राप्त हुए। उन्होंने पापमय विचार करने के कारण तंदुल मत्स्य के समान व्यर्थ में पापों का अर्जन करके इस लोक में अपकीर्ति एवं परलोक में दुर्गति को प्राप्त किया। इस प्रकार के उत्तमोत्तम विचारों का धनी होने से सम्यग्दृष्टि कभी अपना बुरा करने वाले के प्रति भी बुरा नहीं करता है अपितु वह भगवान से प्रार्थना करता है कि हे भगवान्! इनको भी अर्थात् बुरा करने वालों को सद्बुद्धि मिले जिससे उसे भी पाप का बंध न हो और वह अपकीर्ति से भी बच जावे।

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि खोटे निमित्तों से दूर नहीं रहता है, उन्हें दूर हटाकर अच्छे निमित्त नहीं मिलाता है? क्या मेरे पुण्य का उदय होगा तो मैं नहीं मर सकता इस प्रकार सोचकर साँप की बाम्बी में हाथ डाल देता है, दुकान को खुली ही छोड़कर चला जाता है?

उत्तर : नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी खोटे निमित्तों से दूर रहता है, खोटे निमित्त मिल जाने पर उन्हें दूर हटाने का प्रयास भी करता है और बुद्धिपूर्वक घर में धन की वृद्धि हो, स्वास्थ्य ठीक रहे, घर का क्लेश मिट जावे आदि के लिए अनुकूल निमित्त मिलाता है। अपने गाँव में योग्य वैद्य आदि नहीं हो तो बहुत दूर-दूर तक भी बीमारी ठीक करने के लिए वैद्यों के पास जाता है। लाखों रुपये चिकित्सकों के हाथ में थमा देता है। इसी प्रकार अपने गाँव में दुकान नहीं चल रही हो तो दूसरे गाँव, दूर परदेश में जाकर अर्थ पुरुषार्थ करता है। कभी घर में पर्याप्त मात्रा में धन होने पर भी धन की वृद्धि के लिए १२ वर्ष तक अपरिचित स्थानों पर भटकता रहता है। घर में कई पत्नियाँ होने पर भी स्वयंवर में नयी सुन्दर पत्नी प्राप्त करने के लिए जाता है। इसके उदाहरण के रूप कोटिभट श्रीपालजी, सेठ पुत्र सुखानन्द (मनोरमा के पति) आदि सम्पन्न परिवार के होकर भी धन कमाने परदेश गये थे। वहाँ उन्होंने करोड़ों दीनारें कमाईं और कई लड़कियों से विवाह भी किया। बीमार हो जाने पर औषधि करवाता है लेकिन किसी का बुरा करके नहीं, किसी के प्राणों के साथ खिलवाड़ करके नहीं, जैविक औषधि खाकर वह ठीक नहीं होना चाहता है। कभी नहीं चाहते हुए भी मजबूरी से ऐसी औषधि लेनी पड़ती है तो पश्चाताप करता रहता है। किसी के बुरा करने पर वह सोचता है कि समझदार लोगों को यदि कुत्ता काट खाता है तो वह कुत्ते को नहीं काटता अपितु अपनी औषधि करवा कर रोग से मुक्त होता है। वह कभी, मैं

आयु खत्म होने के पहले मर नहीं सकता चाहे कुछ भी हो जावे यह सोच साँप की बाम्बी में हाथ नहीं डालता है, फिर भी कभी अकस्मात् साँप काट ले तो वह साँप को इस भय से कि कहीं यह और किसी को न काट ले या मुझे ही पुन: न काट ले इसलिए उसको पकड़कर या पकड़वा कर ऐसी जगह पर छुड़वा देता है कि जहाँ उसकी भी रक्षा हो और उसके काटने से किसी को तकलीफ भी नहीं हो। वह उसको मार कर या किसी से मरवा कर अपनी रक्षा नही करता या कोई मार रहा हो तो मध्यस्थ नहीं रहता है क्योंकि उसके अंदर अनुकम्पा गुण होता है। वह अपनी दुकान का ताला खुला छोड़कर यहाँ-वहाँ नहीं चला जाता है क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करने से पुण्य भी (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से) पाप में परिवर्तित हो जायेगा जिससे मेरी दुकान में चोरी हो जायेगी, मेरा धन नष्ट हो जायेगा। लापरवाही नहीं करने के बाद भी यदि चोरी हो जाती है तो आगे अपने धन की सुरक्षा के लिए विशेष पेटी, तिजोरी आदि की व्यवस्था करता है फिर भी धन से नि:स्पृह ही रहता है। वह चोरी का धन पुन: प्राप्त करने के लिए चोर को मारकर या किसी के घर या चोर के घर डाका डालकर/डलवाकर धन वापिस नहीं लेता है। अनेक प्रकार से चोरी के धन को प्राप्त करने के प्रयास करता है, धन मिलने की भगवान से प्रार्थना अवश्य करता है परन्तु इतना करने पर भी यदि धन नहीं मिलता है तो वह चोर के सत्यानाश होने, धन नष्ट होने की अथवा बीमारी आदि में धन खर्च हो जाने जैसी खोटी भावनाएँ नहीं करता है। सार यह है कि सम्यग्दृष्टि भी खोटे निमित्तों से बचता है और अच्छे निमित्तों को मिलाता है। वह निष्कर्मण्य होकर नहीं बैठता है फिर भी निमित्त मात्र में दृष्टि रखकर संक्लेश करके भव नहीं बिगाड़ता है।

कषायों के आवेश की अपेक्षा

क्रोध दो प्रकार का होता है। १. दूध के उफान के समान और २. घी के उबाल के समान। दूध के उफान में पानी डालते ही उफान तत्काल शांत हो जाता है। दूध अपनी स्थिति में आ जाता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के कभी कषायों का उफान/वेग आता है तो वह सद्गुरु के वचन रूपी जल से अथवा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु या किसी सज्जन व्यक्ति के उपदेश रूपी जल से शीघ्र ही शांत हो जाता है और घी के उबाल में अर्थात् उबलते हुए (तेज गरम) घी में यदि पानी गिर जाता है तो घी की ज्वाला भभक जाती है। वह स्वयं जलता है और आसपास में स्थित चेतन-अचेतन वस्तुओं को भी जलाकर भस्म कर डालता है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि की कषायें होती हैं। यदि किसी मिथ्यादृष्टि को क्रोध, मान आदि कषायों का आवेश आ रहा हो उस समय कोई दयालु उसे उपदेश देने लगे तो वह उससे (समझाने वाले से) ही लड़ने लगता है। लड़ने लगेगा, उसी के ऊपर कषायों का उगाल उगलने लगेगा। भविष्य में उसी से वैर लेने का भाव कर लेगा, उसी का बुरा सोचने लगेगा। जिस प्रकार पार्श्वनाथ भगवान का जीव मरुभूति की पर्याय में कमठ को समझाने/वापिस घर लाने के लिए गया। उसका हित करने गया था फिर भी कमठ ने उसी से बैर लेने की ठान ली जबकि उसको देशनिकाला देने में मरुभूति की न कोई गलती थी और न कोई उसका हाथ ही था अर्थात् उसे तो पता ही नहीं था कि भाई कमठ को देश निकाला भी दिया गया है। वह तो उस समय युद्ध करने गया था उसके युद्ध से लौटने के पहले ही कमठ को देशनिकाला मिल चुका था।

मरते समय दोनों के विचारों की अपेक्षा

जब कभी मृत्यु के चिह्न या मृत्यु आती है तब मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के विचार कैसे बनते हैं इसी बात को बताते हुए कहा है - जब देवों की ६ मास मात्र आयु अवशेष रह जाती है तब उनके शरीर की कांति मंद पड़ जाती है। दुर्विपाक से गले में स्थित उत्तम पुष्पों की माला म्लान हो जाती है और मणिमय आभूषणों का तेज मंद हो जाता है। इस प्रकार मृत्यु के चिह्न देखकर मिथ्यादृष्टि देव अपने मन में इष्टवियोग आर्तध्यान रूप इस प्रकार का शोक करते हैं कि हाय ! संसार की सारभूत स्वर्ग की इस प्रकार सम्पत्ति छोड़कर अब हमारा अवतरण स्त्री के अशुभ निंदनीय और कुत्सित गर्भ में होगा अहो ! विष्टा और कृमि आदि से व्याप्त उस गर्भ में दीर्घकाल तक अधोमुख पड़े रहने की दुस्सह वेदना हमारे द्वारा कैसे सहन की जायेगी? इस प्रकार के आर्त्तध्यान रूप पाप से भवनत्रिक और सौधर्म ऐशान कल्प में स्थित मिथ्यादृष्टि देव स्वर्ग से च्युत होकर तिर्यग्लोक में दु:खों से युक्त बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जलकायिक और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों में जन्म लेते हैं।

इन्हीं उपर्युक्त चिह्नों को देखकर हिताहित के विचार में दक्ष सम्यग्दृष्टि उत्तम देव मानसिक कलुषता को दूर करने के लिए इस प्रकार विचार करते हैं कि अहो! यहाँ स्वर्गों में इन्द्रों के भी न किञ्चित् यम नियम हैं और न तप है और न दान आदि है और तप आदि के बिना मोक्ष रूप शाश्वतसुख की प्राप्ति नहीं होती है अत: आज अद्भुत पुण्य परिपाक से हम लोगों को मनुष्य भव और उत्तम कुल की प्राप्ति हो रही है। उसे प्राप्त कर हम लोग अनन्त सुख की खान स्वरूप मोक्ष की साधना करेंगे। इस प्रकार के विचार कर उत्तम देव अर्हंत देव की नाना प्रकार की पूजन करके मरण के अंतिम समय में अपने चित्त को अत्यन्त निश्चल करते हुए अपने दोनों हाथ जोड़कर पंच परमेष्ठियों का ध्यान करते हैं तथा इस लोक और परलोक में आत्मसिद्धि देने वाला नमस्कार करते हैं। मरण वेला में किसी पुण्य रूप उत्तम क्षेत्र में जाकर बैठ जाते हैं। वहाँ आयुक्षय होते ही उन देवों का शरीर मेघों के सदृश विलीन हो जाता है। शुद्ध सम्यक्त्व के धारण करने वाले वे उत्तम देव वहाँ से चय कर कोई तो पुण्य प्रभाव से विश्ववंदनीय तीर्थंकर के वैभव को प्राप्त करते हैं। कोई चक्रवर्ती पद को, कोई बलभद्र, बलदेव पद और कोई कामदेव आदि के उत्तम पद को प्राप्त करते हैं।

स्वर्गों में उत्पन्न होने वाले मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों द्वारा समझाये जाने पर पुण्य की वांछा से जिन मन्दिरों में जाकर जिनेन्द्र भगवान की पूजन करते हैं किन्तु जो सम्यग्दृष्टि देव उत्पन्न होते हैं वे जिनेन्द्र भगवान के गुणों में रंजायमान होते हुए कर्मक्षय के लिए भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं। मिथ्यादृष्टि देव अपने विमानों में स्थित जिन प्रतिमाओं को अपने मन में कुलदेवता मानकर पुण्य की प्राप्ति के लिए पूजते हैं। **(सि.सा. दी.)** सम्यग्दृष्टि अपने पद का, जाति का, कुल का और स्वयं अपने जीवन का गौरव अवश्य रखता है लेकिन घमण्ड नहीं करता है। गौरव होने से वह अपने कुल, जाति और धर्मविरुद्ध कार्य अर्थात् हँसी कराने वाले कार्य कभी नहीं करता है। एक स्थान पर दो घनिष्ट मित्र रहते थे। दोनों ही धर्मात्मा थे, स्वाध्यायशील थे लेकिन उन्हें आचरण के प्रति आस्था कम थी। एक दिन दोनों ही एक

मुनिराज के चरणों में दर्शन करने गये तो एक ने अपने मित्र की शिकायत करते हुए कहा – महाराज! यह मेरा मित्र मंदिर नहीं जाता है। इसे मंदिर जाने का नियम दिलवा दीजिए। यह सुनकर मित्र बोला– महाराज! मैं तो खुद ही भगवान के समान हूँ क्यों मंदिर में भगवान के दर्शन करने जाऊँ? सम्यग्दृष्टि इस प्रकार के विचार वाला नहीं होता है। वह भी जानता है कि मैं भगवान के समान हूँ लेकिन वर्तमान में मुझमें भगवद्पना प्रकट नहीं हुआ है इसलिए मुझे जो भगवान बन चुके हैं उनके चरणों में तब तक दर्शन करने जाना ही है जब तक कि मैं अपने में भगवद्पना प्रगट न कर लूँ और मेरा भगवद्पना इनके दर्शन किये बिना, चरणों में गये बिना प्रगट नहीं हो सकता है इसलिए मुझे जिनेन्द्र भगवान के दर्शन के लिए जाना ही चाहिए। रामचन्द्रजी, पाण्डव आदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने के बाद भी वनवास के समय जब किसी गाँव के आस-पास पहुँचते तो सबसे पहले नगर में जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर की खोज करते थे। मंदिर का शिखर देखते थे और शिखर के माध्यम से मंदिर को ढूंढते थे, यही सम्यग्दर्शन का एक चिह्न है। उसे विश्वास रहता है कि यदि मैं जिनेन्द्र भगवान की शरण में नहीं गया, उनके दर्शन-पूजन नहीं की तो मुझे कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता है तब तक मुझे जिनेन्द्र भगवान के दर्शन, पूजन आराधना करना चाहिए।

एक व्यक्ति अपने मित्र का स्वास्थ्य देखने के लिए चिकित्सालय गया। उसने अपने मित्र से कहा- वकील साहब! दवा आदि जो लेना है ले लो, रात होने वाली है। उसकी बात सुनकर वकील साहब बोले- 'विपत्ति काले मर्यादा नास्ति' अर्थात् विपत्ति के समय व्रत-नियम और मर्यादा नहीं रहती है। ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं कहता है। वह तो जानता है कि चाहे विपत्ति हो या सम्पत्ति, सुख हो या दु:ख धर्म का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता। धर्म तो आज हो या अनन्त काल के बाद में भी वही रहेगा, एक ही रहेगा। रात्रिभोजन करना पाप है तो पाप ही रहेगा, पुण्य नहीं हो सकता।

सम्यग्दृष्टि इस प्रकार का चिंतन करता रहता है कि जो वस्तुएँ संयोग से उत्पन्न हुई हैं वे सब मुझसे जुदी हैं तथा मुझे इस बात का ज्ञान है कि उन संयोगों से पैदा हुई समस्त वस्तुओं के त्याग से मैं मुक्त हूँ। मेरी आत्मा में किसी प्रकार के कर्म का सम्बन्ध नहीं है। **(प.पं.वि.)**

एक बार दो भाई साथ-साथ घूमने के लिए जा रहे थे। चलते-चलते किसी बात पर उनमें तकरार हो गई। बड़े भाई ने गुस्से में छोटे भाई को एक चाँटा मार दिया। छोटे भाई ने कोई प्रतिकार नहीं किया। मात्र एक तिनका लेकर धूल में लिख दिया कि आज मेरे प्यारे भाई ने मुझे चाँटा मारा, वे आगे बढ़ गये। चलते-चलते छोटे भाई को प्यास लगी। पास में एक तालाब था उसमें पानी पीते-पीते अचानक पैर फिसल गया और वह तालाब में ऊपर-नीचे होने लगा, वह डूबने वाला था तभी बड़े भाई के कानों में बचाने की आवाज आयी तो उसने शीघ्र ही तालाब में छलांग लगाई और छोटे भाई को बचा लिया। जब उसे होश आया तो उसने बड़े भाई को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया तथा पास में पड़े हुए पत्थर पर कील से कुरेदते हुए लिखा, आज मेरे सबसे प्यारे भाई ने मेरी जान बचाई। बड़े भाई को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने छोटे भाई से पूछा- तुमने चाँटा मारने पर धूल में लिखा और जान बचाने

की बात को पत्थर पर क्यों लिखा ? छोटे भाई ने कहा- मैं जब भी इस रास्ते से निकलूँ मुझे आपके द्वारा किया गया उपकार तुरंत याद आ जाए क्योंकि धूल वाला वाक्य तो हवा के आते ही साफ हो जायेगा पर पत्थर पर लिखा वाक्य सदा बरकरार रहेगा। सम्यग्दृष्टि किये उपकार को कभी नहीं भूलता है। मिथ्यादृष्टि उपकार को याद रखने की बात तो बहुत दूर उपकार को स्वीकार तक नहीं करता है। प्रत्युत् उपकार का भी विपरीत अर्थ ग्रहण करते हुए विचार करता रहता है कि इसमें कोई-न-कोई रहस्य अर्थात् इसका (उपकार करने वाले का) स्वार्थ अवश्य छुपा हुआ होगा।

सम्यग्दृष्टि के विचार पाण्डवों के समान युधिष्ठिर की आज्ञापालन, विनय, सरलता, सत्यवादिता आदि गुणों से युक्त होते हैं जबकि मिथ्यादृष्टि के विचार कौरवों की चेष्टा के समान क्रूरता, छल, विश्वासघात, गुरुद्रोह आदि दोषों से भरे होते हैं। जब अयोध्या के लोग सीताजी की बुराई बताने आते हैं तो लक्ष्मण उन्हें मारने के लिए तैयार हो जाते हैं और क्षायिकसम्यग्दृष्टि राम उनको गले लगाकर उनकी बात को सुनते हैं और उस पर विचार करते हैं।

संसारी प्राणी रूप, रस, गंध आदि में इतना अधिक आसक्त हो गया है कि स्पर्श, रस, गंध आदि के अभाव में स्वयं को निर्जीव जैसा अनुभव करता है अर्थात् पुद्गलादि पर द्रव्यों के अभाव में दुःखी होता है, आँखों में आँसू लाता है। यह मिथ्यादृष्टि जीव की परिणति होती है। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव को पाप बंध होने पर, रागद्वेष होने पर, आत्मचिन्तन से च्युति होने पर, आँखों में आँसू आते हैं। उसे विचार आता है कि ये रागद्वेष परिणाम कब छूटें? मेरे पापों की प्रवृत्ति कब छूटे? यह सब कैसे छूटेगा? पर द्रव्यों के प्रति प्रीति का भाव कैसे छूटेगा? मैं कब संयम को ग्रहण कर लूँ? इत्यादि। **(समयोपदेश १/१५४)**

५. सम्यग्दर्शन की दृढ़ता कैसे होती है

हमें जो सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है वह प्रतिकूल द्रव्य क्षेत्र काल भाव के मिलने पर नष्ट न हो, इसके लिए हमें क्या उपाय करना चाहिए? कैसे परिणामों को सम्हाले रखना चाहिए, आदि बातों पर यहाँ विचार किया जाता है –

परिणामों की स्थिरता रखना, जिनायतन आदि धर्मक्षेत्रों में रमण करना, स्वभाव से उनका अच्छा लगना, उत्तम भावनाएँ भाना और शंका आदि दोषों से रहित होना, ये सब सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखने के उपाय हैं। **(प.पु. १०५/२१४)**

समीचीन मार्ग रूप ज्ञान मार्ग में उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धा करता हुआ पुरुष जिनोपदिष्ट सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है। **(चा.पा. १४)** अर्थात् ऐसे जीवों का सम्यक्त्व दृढ़ बना रहता है।

अयोध्या में पधारे हुए सप्तऋषि मुनिराज जिनेन्द्र भगवान की वन्दना करके आकाशमार्ग से पुन: अपने स्थान पर गमन कर गये। जब वे आकाश मार्ग से गमन कर रहे थे तब उन्हें चारणऋद्धि धारक जानकर द्युति भट्टारक के शिष्य जो अन्य मुनि थे वे अपनी निन्दा-गर्हा आदि करते हुए निर्मल हृदय को प्राप्त हुए अर्थात् जो मुनि पहले उन्हें (सप्तऋद्धिधारी मुनियों को) उन्मार्गगामी समझकर उनकी निन्दा का विचार कर रहे थे वे ही मुनि उन्हें चारणऋद्धि धारक जानकर अपने अज्ञान की निन्दा करने लगे तथा उन्होंने अपने चित्त की कलुषता को दूर कर दिया। जब अर्हदत्त सेठ (जिसने ऋषियों की निंदा की थी) जिनालय में गया तो द्युति भट्टारक ने उससे कहा – हे सेठ, क्या आज तुमने उत्तम मुनिराजों के दर्शन किये हैं, जो सबके द्वारा वन्दित हैं, महाधैर्यशाली हैं एवं महाप्रतापी हैं, वे मथुरा के निवासी हैं और उन्होंने मेरे साथ वार्तालाप किया है, वे महातपस्वी हैं, अत्यन्त उदार हैं, वन्दनीय हैं और आकाश में गमन करने वाले हैं ऐसे ऋषिराज के मैंने दर्शन किये हैं। द्युति भट्टारक के मुख से साधुओं का प्रभाव सुनकर अर्हदत्त सेठ बहुत खेद-खिन्न हुआ, उसका चित्त पश्चाताप से संतप्त हो गया। वह विचार करने लगा कि यथार्थ अर्थ को नहीं समझने वाले मुझ मिथ्यादृष्टि को धिक्कार हो। मेरा अनिष्ट आचरण अयुक्त था, अनुचित था, मेरे समान दूसरा अधार्मिक नहीं है। इस समय मुझसे बढ़कर दूसरा मिथ्यादृष्टि कौन होगा? जिसने उठकर मुनियों की पूजा नहीं की तथा नमस्कार कर उन्हें आहार से संतुष्ट नहीं किया। जो मुनि को देखकर आसन नहीं छोड़ता है तथा उन्हें देखकर उनका अपमान करता है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ, पापात्मा हूँ, पाप का पात्र हूँ अथवा जिनागम की श्रद्धा से दूर रहने वाला जो कोई निंद्यतम है वह मैं हूँ। जब तक मैं हाथ जोड़कर उन मुनियों की वन्दना नहीं कर लेता तब तक शरीर एवं मर्मस्थल में मेरा मन दाह को प्राप्त होता रहेगा। **(प.पु. ९२)** इस प्रकार जो अपनी निन्दा-गर्हा आलोचना करने वाला होता है उसका सम्यग्दर्शन नष्ट होकर भी पुन: उत्पन्न हो जाता है और वह दृढ़तम हो जाता है।

जब रावण ने बाली मुनि के तप का प्रभाव देखा तो वह उनके चरणों में बार-बार क्षमा माँगते

हुए कहने लगा - ''हे पूज्य! आपने जो प्रतिज्ञा की थी कि मैं जिनेन्द्र देव के चरणों को छोड़कर अन्य के लिए नमस्कार नहीं करूँगा। यह उसी की सामर्थ्य का फल है। आपके अँगूठा दबाने मात्र से मैं पर्वत के नीचे दब गया। हे भगवन्! आप तीन लोक को अन्यथा करने में समर्थ हैं। आपके समान शक्ति तो इन्द्रों में भी नहीं देखी गयी है। आपके गुण, आपका रूप, आपकी कान्ति, आपका बल, आपकी दीप्ति, आपका धैर्य, आपका शील आश्चर्यकारी है। ऐसा जान पड़ता है कि मानों कर्मों ने तीनों लोकों से समस्त सुन्दर पदार्थ ला-लाकर पुण्य के आधारभूत आपके शरीर की रचना की है। मैंने आपके लिए जो अन्यथा करना चाहा था अर्थात् मैं पर्वत सहित आपको उठाकर समुद्र में फेंकने लगा था, वह मुझ असमर्थ के लिए केवल पाप-बंध का ही कारण बना। मुझ पापी के शरीर को, हृदय को, वचन को धिक्कार है कि जो अयोग्य कार्य करने के सम्मुख हुए। हे द्वेषरहित! आप जैसे नर रत्नों और मुझ जैसे दुष्ट पुरुषों के बीच में उतना ही अन्तर है जितना कि सुमेरु और सरसों के बीच होता है। हे मुनिराज! मुझ मरते हुए को आपने प्राणदान दिया है, अपकार करने वाले पर जिसकी ऐसी बुद्धि है उसके विषय में क्या कहा जावे? मैं सुनता हूँ, जानता हूँ और देखता हूँ कि संसार केवल दुःख का अनुभव कराने वाला है फिर भी मैं इतना पापी हूँ कि विषयों से वैराग्य को प्राप्त नहीं होता।'' इस प्रकार गुरुओं की स्तुति करने वाले का सम्यक्त्व दृढ़ होता है। **(प.पु.)**

जो जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए कहता है - हे भगवन् ! आप देवों के देव हैं, लोक और अलोक को देखने वाले हैं, आपने अपने तेज से समस्त लोक को आक्रान्त कर दिया है, आप ही कृतकृत्य हैं, आप ही महात्मा हैं, आप तीन लोक से पूजित हैं, आपने मोह रूपी महाशत्रु को नष्ट कर दिया है। आप संसार के समस्त महाकल्याणों के मूल कारण हैं। आपने ध्यानाग्नि के द्वारा समस्त पापों को जला दिया है, आप ही तीन लोक में शरणभूत हैं, आप ही उत्तम हैं, मंगलों में सर्वोत्तम मंगल हैं, आपके दर्शन मात्र से भव-भव के पाप क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य के दिखने मात्र से रात्रि का भ्रमर के समान काला अंधकार पलभर में नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार आपके चरणों में आने मात्र से मिथ्यात्वादि निधत्त-निकाचित कर्म भी खण्ड-खण्ड जो जाते हैं। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करने से सम्यग्दर्शन की दृढ़ता होती है। जो दूसरे की निन्दा करने में मौन रखते हैं तथा अपनी प्रशंसा से उदासीन रहते हैं। कभी अपनी बढ़ाई नहीं करते हैं वे सम्यग्दर्शन को दृढ़ करते हैं। जो सरस्वती की स्तुति करते हुए कहता है कि हे सरस्वती माता ! जिस मनुष्य पर आपकी कृपा अर्थात् जो आपका कृपापात्र नहीं है वह चिरकाल तक पढ़ता हुआ भी शास्त्र को नहीं जानता है किन्तु जिसको आप थोड़ा भी स्नेह सहित नेत्र से देख लेती हो वह समस्त गुणों का भण्डार हो जाता है। भगवान भी सभी पदार्थों को जानते-देखते हैं वह सब आपकी कृपा से ही जानते-देखते हैं। जिस प्रकार मनुष्य अंधकार से व्याप्त घर में दीपक के आश्रय से इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेता है; उसी प्रकार हे माता! बड़े-बड़े ऋषि पहले आपका आश्रय करते हैं पश्चात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं। हे माँ ! संसार में कामधेनु, चिंतामणि तथा कल्पवृक्ष एक ही भव में इष्ट फल देते हैं किन्तु आप इस भव में तथा परभव में मनुष्यों को इष्ट फल देने वाली हो। जो इस प्रकार गद्गद होकर जिनवाणी की स्तुति करता है उसका सम्यग्दर्शन दृढ़ होता है।

जहाँ पर जिनेन्द्र भगवान का पूजन महोत्सव होता है वहाँ जाकर हर्ष मनाना, जिनेन्द्र भगवान की महिमा सुनकर और देखकर आनन्द मनाना, जैन शास्त्रों के महान् विस्तार को देखकर हर्ष मनाना, जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करने में आनन्दित होना, जिनागम में सार तत्त्व का विवेचन देखकर प्रसन्न होना, जिन चैत्यालय को देखकर हर्षित होना, इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला शुद्ध सम्यक्त्वी होता हुआ सम्यग्दर्शन में दृढ़ होता चला जाता है।

सम्यक्त्व का नष्ट होना मिट्टी के घड़े के टूटने के समान है और चारित्र का नष्ट होना सुवर्ण के घड़े के टूटने के समान है। यानी मिट्टी का घड़ा टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ सकता किन्तु सोने का घड़ा टूट जाने के बाद भी फिर जुड़ जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर आत्मा का सुधार नहीं हो सकता, चारित्र के नष्ट हो जाने पर फिर भी आत्मा सुधर जाती है। इसलिए हमें सदैव सम्यग्दर्शन को दृढ़ बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

दुख का संवेदन या राग-द्वेष का संवेदन होने के बाद भी यह मेरा नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन को पुष्ट करता है। राग का अधिकरण आत्मा है अर्थात् आत्मा में ही राग उत्पन्न होता है। आत्मा के बिना राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यह श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन को बढ़ाता है। भले ही निर्विकल्प समाधि का अविनाभावी वीतराग सम्यग्दर्शन हो फिर भी क्षायिक व क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होने में यही श्रद्धान कार्यकारी होता है। **(समयोपदेश १/१५०)**

सम्यग्दर्शन की दृढ़ता में जिनदास सेठ की कथा को नहीं भूला जा सकता है जिसने अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं करते हुए जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा को नहीं छोड़ा था, उसकी कथा इस प्रकार है-

जिनशासन अनादि है

पाटलिपुत्र नगर में एक जिनदास नामका श्रावक रहता था। जो पाँच अणुव्रत रूप गृहस्थ धर्म/श्रावक व्रतों से सुशोभित था। एक बार वह धन कमाने के लिए स्वर्णद्वीप गया। उस नगर के अनेक सेठ भी धनार्जन के लिए उसके साथ गये थे। बहुत अल्प काल में ही उन्होंने पर्याप्त धन का अर्जन कर लिया था। जब सेठ जिनदास सभी सेठों के साथ पाटलिपुत्र लौट रहा था तब समुद्र के मध्य में पूर्व भव के शत्रु कालिका नामके असुर ने गर्जना करते हुए रोषपूर्वक उनसे कहा - यदि आप लोगों को जीवन प्यारा है तो कहो कि ''जिनेन्द्र भगवान का शासन नहीं है'' अर्थात् संसार में जिनेन्द्र के शासन का कोई अस्तित्व नहीं है। यह सुनकर सभी लोग व्याकुल होकर जिनदास से पूछने लगे - हे स्वामी, हम क्या करें, कैसे हमारे जीवन की रक्षा हो। अब हमें यह असुर शीघ्र ही मार डालेगा। अब हमारे माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि का क्या होगा? इस प्रकार कहते-कहते वे सब रोने लगे। उनकी बातें सुनकर सेठ जिनदास बोला - समस्त धर्मों में सम्यक्त्व चन्द्रमा के समान निर्मल एवं उत्तम है। देव के भय से जो जीवन की इच्छा से भ्रमित होकर यदि इसे त्यागते हैं तो वे अधोलोक में जाते हैं। जिसने पुरातन महामंत्र को अपने पैर से मिटाया था वह (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) अधोलोक (नरक) में गया। क्या आप इस बात को नहीं जानते हैं? आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, भविष्य में सिद्ध होंगे, वे सब जिनशासन की शरण लेकर ही हुए

हैं। अनादिकाल से जिनशासन शाश्वत है। अन्य जितने भी मत-मतान्तर अथवा शासन हैं वे सब मिथ्यामत हैं। तात्कालिक किसी मिथ्यादृष्टि के द्वारा स्थापित किये गये हैं। इन मतों की शरण में जाकर अनन्त जीव संसार-सागर में डूब गये और आगे भी जो इनकी शरण लेंगे, संसार में ही डूबेंगे। जिस प्रकार पत्थर की नाव कभी पानी में नहीं तैरती तो उसमें बैठने वाले कैसे समुद्र से पार हो सकते हैं? उसी प्रकार वे मिथ्यामती ही संसार में डूबते हैं तो उनकी शरण लेने वाले कैसे संसार से पार हो सकते हैं अत: हमारे प्राण चले भी जावें तो भी हम 'जिनशासन का अभाव है' ऐसा नहीं कह सकते हैं और न ही इसकी शरण ही छोड़ सकते हैं, आदि-आदि सेठ के अमृतमय वचन सुनकर सभी धीर चित्त वणिक् अपने अन्त:करण में त्याग की भावना लिये जिनशासन से भावित हो गये। उनका मन सम्यक्त्व में लग गया। वे मस्तक पर अपने दोनों हाथों को रखकर भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार करके कहने लगे – यह राक्षस चाहे जहाज को अन्यत्र ले जावे अथवा अत्यधिक चूर्ण-चूर्ण कर दे किन्तु हम जिनेन्द्र भगवान का अपवाद नहीं करेंगे अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के शासन का अभाव है, जिनेन्द्र शासन का अस्तित्व नहीं है, इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रकार कहते हुए उन्होंने भगवान महावीर स्वामी को पुष्पांजलि दी। उसी समय उत्तरकुरु की तरफ जाने वाले कुछ देवों ने उस असुर के मुकुट को छिन्न-भिन्न कर उसका मानमर्दन करते हुए इस प्रकार नष्ट कर दिया जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी किरणों से छिन्न-भिन्न होकर आकाश से बड़वानल में गिर रहा हो। वरुण (देव) ने जहाज की रक्षा का भार लिया और लक्ष्मी भी हाथ जोड़े दौड़ती रही। जहाज समुद्र के किनारे निर्विघ्न पहुँच गया। सभी व्यापारी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर और देवों के द्वारा प्रातिहार्य को प्राप्तकर अपने नगर पाटलिपुत्र पहुँच गये। यह सब जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन में दृढ़ रहने का ही फल है।

मैं सोचती हूँ कि यदि राक्षस उनके प्राण भी ले लेता अर्थात् वे समुद्र में डूब भी जाते तो भी उनका कल्याण ही होता, वे कुछ भवों में नियम से मोक्ष प्राप्त करते। मैं भी भगवान से प्रार्थना करती हूँ कि मेरी भी श्रद्धा उनके समान ही जिनशासन में अटल-अचल बनी रहे।

जिनेन्द्रदेव ही वन्दनीय हैं

वनवास के समय रामचन्द्रजी ने एक दिन मरुनगर को मनुष्यों से रहित देखकर एक व्यक्ति से नगर के धन-जन से रहित होने का कारण पूछा तो वह व्यक्ति बोला - भाई! एक दिन दशांगपुर का राजा वज्रकर्ण शिकार खेलने गया था। वहाँ उसने मुनिराज के मुख से पंचेन्द्रिय के सुखों का भोग करने से प्राप्त होने वाली नरकादि दुर्गतियों के दु:खों का विवरण सुना तथा निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा के फल में प्राप्त होने वाले आत्मिक सुख एवं निर्वाण के सुखों को सुना जिससे उसने अपनी शक्ति के अनुसार गृहस्थ धर्म को एवं ''मैं देव-शास्त्र-गुरु को छोड़कर किसी को नमस्कार नहीं करूँगा।'' इस प्रकार का संकल्प लिया। एक दिन उसने सोचा कि मैं उज्जयिनी के राजा सिंहोदर का सेवक हूँ। मुझे राजदरबार में जाते समय राजा को प्रणाम करना पड़ेगा और मैंने प्रणाम नहीं किया तो मेरा राज्य कैसे मेरे पास रह सकता है आदि-आदि विचार करने के बाद उसने अपनी अंगूठी में छोटी सी जिनप्रतिमा जड़वा ली। जब वह

अपने स्वामी सिंहोदर के समीप जाता तब वह अपनी अंगूठी की जिनप्रतिमा को नमस्कार करता था। राजा सिंहोदर समझता था कि वज्रकर्ण मुझे ही नमस्कार करता है। एक बार वज्रकर्ण के शत्रु वज्रजंघ ने उसके रहस्य को किसी प्रकार जानकर सिंहोदर के सामने कह दिया। जिसको सुनकर सिंहोदर ने क्रोधित होकर कपटपूर्वक उसे मारने के लिए वज्रकर्ण को दरबार में उपस्थित होने के लिए संदेश भेजा। संदेश सुनकर वज्रकर्ण सिंहोदर के राजदरबार में जाने के लिए उद्यत हुआ तभी विद्युदङ्ग नाम का कोई चोर आकर सिंहोदर का कपट/षड्यंत्र वज्रकर्ण को बता रहा था तभी सिंहोदर की सेना नगर के पास आ पहुँची। वज्रकर्ण अपने गढ़ में छुप गया। जब गढ़रक्षक ने राजा सिंहोदर की सेना को गढ़ में प्रवेश नहीं करने दिया तो सेना ने गढ़ को चारों तरफ से घेरकर वज्रकर्ण के पास एक दूत भेजा। दूत ने राजा वज्रकर्ण से कहा – हे राजा वज्रकर्ण ! राजा सिंहोदर का कहना है कि तुम जिनशासन के गर्व से उनकी विभूति के रास्ते में कण्टक हुए हो। लगता है कि किसी मुनि ने तुम्हें बहकाया है जिससे तुम न्याय को भूल बैठे हो। जिसके द्वारा प्रदत्त प्रदेश पर राज्य कर तुम सम्पत्तिशाली एवं प्रतिष्ठावान हुए हो उन्हीं को भूलकर अर्हंत को शीश झुकाते हो। निश्चय ही तुम मायावी हो। अब तुम शीघ्र ही उनके पास जाकर अपना मस्तक झुकाकर विनय करो, अन्यथा मारे जाओगे।

दूत के मुख से ऐसे कठोर वचन सुनकर राजा वज्रकर्ण ने कहा - हे दूत, तुम मेरी ओर से अपने स्वामी से निवेदन करके कहना कि यह सारा देश, नगर, भण्डार, हाथी-घोड़े तथा सम्पूर्ण सम्पत्ति आपकी है। आप जब चाहें उसे ले लें परन्तु मुझे अपनी स्त्री के साथ धर्म द्वार देकर बाहर निकल जाने दें। अर्थात् मेरी धर्माराधना में बाधा नहीं डालिए। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं एकमात्र जिनेन्द्र देव-गुरु एवं जिनवाणी को छोड़कर अन्य किसी को मस्तक नहीं झुकाऊँगा। वे मेरे द्रव्य के स्वामी हैं मेरी आत्मा के नहीं। वे प्रसन्नता पूर्वक द्रव्य ले लें। दूत ने लौटकर सिंहोदर से वज्रकर्ण की पूरी बातें यथावत् कह दीं। दूत की बातें सुनकर सिंहोदर ने क्रोधित होकर पूरे नगर को जला कर राख कर डाला।

उस व्यक्ति के मुख से वे सब बातें सुनकर राम-लक्ष्मण सीता के साथ दशांगपुर के समीप श्री चन्द्रप्रभ चैत्यालय में आये और वहीं ठहर गये। राम की आज्ञा लेकर वज्रकर्ण के धर्म की रक्षा के लिए लक्ष्मण सिंहोदर के दरबार में गया और वहीं युद्ध में विजय प्राप्त करके राजा सिंहोदर को बंदी बनाकर राजा वज्रकर्ण से क्षमा मांगने की प्रेरणा दी। वज्रकर्ण सिंहोदर के बन्दी होने का समाचार सुनकर सभी रानियों सहित रामचन्द्र के पास आया। उसे देखकर रामचन्द्र ने कहा – हे दृढ़ प्रतिज्ञ ! तुम धन्य हो, तुम्हारी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अटल श्रद्धा है। तेरी यह श्रद्धा अत्यन्त श्रेष्ठ है। जिस प्रकार मेरु पर्वत की चूलिका प्रलयकाल की वायु के आघात से कम्पित नहीं होती उसी प्रकार तेरी यह बुद्धि मिथ्यामतों से रंचमात्र भी कम्पित नहीं हुई। मुझे देखकर भी तेरा यह मस्तक नम्रीभूत नहीं हुआ सो तेरी यह चेष्टा अत्यन्त मनोहर और शांत है अथवा शुद्ध तत्त्व के जानकार पुरुष को क्या कठिन है? खासकर धर्मानुरागी सम्यग्दृष्टि मनुष्यों को। जिनके उन्नत सिर से तीन लोक के द्वारा वन्दनीय परम कल्याण स्वरूप जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार किया जाता है उसी सिर से दूसरे लोगों को कैसे प्रणाम किया जाये? मकरंद रस

के आस्वादन में निपुण उन्मत्त होने पर भी क्या गधे की पूँछ पर भी अपना स्थान जमाता है? तुम बुद्धिमान हो, धन्य हो, निकट भव्यपना प्राप्त कर रहे हो और चन्द्रमा से भी अधिक धवल तुम्हारी कीर्ति संसार में भ्रमण कर रही है। अपने गुणों को सुनकर वज्रकर्ण लज्जा से नीचा मुँह करके बोला कि हे देव ! यद्यपि आपको यहाँ रहते बहुत कष्ट हुआ है तो भी हे महाभाग ! आप मेरे परम बांधव हुए हैं। इस समय मेरे जीवित रहते हुए मेरे नियम का पालन आपके प्रसाद से हुआ है और मेरे भाग्य से ही आप पुरुषोत्तम यहाँ पधारे हैं। इस प्रकार सुनकर लक्ष्मण बोले – हे वज्रकर्ण ! जो तेरी अभिलाषा हो वह कह, मैं शीघ्र ही उसे पूरी करूँगा। लक्ष्मण की बात सुनकर वज्रकर्ण बोला – आप जैसे अत्यन्त दुर्लभ मित्र को पाकर संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अत: मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि मैं जिनमत का पालक होने से यह नहीं चाहता हूँ कि तृण को भी पीड़ा हो इसलिए इस मेरे स्वामी राजा सिंहोदर को छोड़ दो। वज्रकर्ण के इतना कहते ही लोगों के मुख से धन्य-धन्य शब्द निकल गया। देखो यह भद्र पुरुष शत्रु के ऊपर भी शुभ बुद्धि धारण कर रहा है। अपकारी के ऊपर जो दया करता है वही सज्जन है। वैसे माध्यस्थ अथवा उपकार करने वाले पर किसे प्रेम उत्पन्न नहीं होता। यह सुनकर लक्ष्मण ने वज्रकर्ण और सिंहोदर की मित्रता करवा दी। **(प.पु.)**

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ़ श्रद्धान होता है और साधर्मी के प्रति वात्सल्य का परिणाम होता है।

प्रश्न : तो क्या सम्यग्दृष्टि अपने माता-पिता वृद्धजनों को अपने शिक्षागुरु (गृहीत मिथ्यादृष्टि) स्वामी, सेठ, राजा आदि को नमस्कार नहीं करता है?

उत्तर : ऐसा नहीं है कि सम्यग्दृष्टि अपने माता-पिता, गुरु, वृद्धजनों को नमस्कार नहीं करता हो। अपने साधर्मियों से अभिवादन नहीं करता हो, क्योंकि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने मात्र से वह इतना उद्दण्ड और अभिमानी नहीं हो जाता कि वह अपने वृद्धों/पूज्यों का सम्मान नहीं करें लेकिन वे ही पूज्य पुरुष यदि जिनधर्म को छोड़कर कुलिंग अर्थात् दिगम्बर मुनि-आर्यिका-क्षुल्लक-ऐलक आदि को छोड़कर अन्य किसी लिंग को अर्थात् श्वेताम्बर, रक्ताम्बर, पीताम्बर आदि वेष को धारण कर लेते हैं। बाबा बन जाते हैं या हिमालय आदि में साधना करके योग मंत्र-तंत्र आदि सीख लें अर्थात् मांत्रिक-तांत्रिक आदि बन जावे तो उसे सम्यग्दृष्टि पूज्य मानकर अर्थात् गुरु मानकर नमस्कार नहीं करता है क्योंकि उनको नमस्कार करना अनायतन सेवा है। अनायतन सेवा से सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, मलिन हो जाता है। दूसरी बात माता-पिता, वृद्धजन आदि कोई लिङ्गी अर्थात् गुरुओं में नहीं आते हैं इसलिए उनको नमस्कार करना सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाला नहीं है। तीसरी बात लौकिक विनय एवं पारलौकिक विनय में बहुत अन्तर है। लौकिक विनय सभ्यता है। इसमें सम्मान के भाव होते हैं। अपने बड़ों के प्रति आदर का भाव रहता है और पारलौकिक विनय आत्मकल्याण के लिए होता है। आत्मिक शांति एवं मोक्ष का मार्ग है। लौकिक विनय से (यदि स्वार्थ से रहित है तो) पुण्य का बंध होता है और पारलौकिक विनय पुण्यबंध के साथ-साथ कर्मनिर्जरा तथा परम्परा से निर्वाणप्राप्ति का कारण है। इसलिए माता-पिता आदि सम्माननीय बड़े जनों को नमस्कार करने पर भी उसका सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता है और न ही मलिन होता है।

ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि वज्रकर्ण ने राजा सिंहोदर को नमस्कार नहीं किया इसलिए उसकी आगम में प्रशंसात्मक कथा कही गयी है। सो कैसे? यह अपवाद मार्ग है। उसने एक ऐसा संकल्प कर लिया था कि मैं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को छोड़कर किसी के आगे सिर नहीं झुकाऊँगा। इसलिए उसने अपने स्वामी राजा सिंहोदर की बात तो बहुत दूर, अपने परम उपकारी राम-लक्ष्णम को भी नमस्कार नहीं किया। इसका अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि उसका राम-लक्ष्मण के प्रति आदर का भाव नहीं था। वह राम-लक्ष्मण के द्वारा किये गये उपकार को भूलकर कृतघ्न बन गया था, नहीं। उसका उन पूज्य पुरुषों के प्रति आदर-सम्मान की भावना थी लेकिन उसने अपने प्राणों की भी चिंता नहीं करते हुए नियम का पालन किया था। इसी कारण आगम में उसकी प्रशंसात्मक कथा कही गयी है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि लौकिक विनय के रूप में अपने वृद्धों-बड़ों को नमस्कार करता है लेकिन कुलिङ्गी चाहे उसके माता-पिता हों, शिक्षागुरु हों, ख्यातिप्राप्त साधु हों या पहुँचे हुए मांत्रिक-तांत्रिक हों उन्हें नमस्कार नहीं करता है।

प्रभावती ने नमस्कार नहीं किया

वत्सदेश के रौरव पुर के राजा उदायन की रानी का नाम प्रभावती था। वह जैन धर्म का विशुद्ध रूप से पालन करती थी। उसकी धाय का नाम मंदोदरी था। वह विधर्मी थी इसलिए वह किसी समय अपने मत में अर्थात् मिथ्यामत में दीक्षा लेकर कुलिङ्गी साध्वी बन गयी। एक दिन वह बहुत साध्वियों के साथ रौरवपुर के बाहर आकर ठहर गई। उसने अपने आने की सूचना देने के लिए किसी स्त्री को प्रभावती के पास भेजा। उसने प्रभावती के पास जाकर कहा कि हे रानी प्रभावती ! तुम्हें देखने के लिए साध्वी मंदोदरी नगर के बाहर रुकी हुई है। यह सुनकर प्रभावती बोली, उससे मेरे निवासस्थान पर आने के लिए कह दो। मंदोदरी की स्त्री ने प्रभावती का संदेश अपनी साध्वीगुरु को सुना दिया। संदेश सुनकर रानी के अपने सम्मुख न आने से उसे क्रोध उत्पन्न हुआ। वह उसी क्रोध के आवेश में प्रभावती के घर पहुँच गयी। प्रभावती उसे नमस्कार न करके अपने आसन पर बैठी रही और इसी अवस्था में उसने मंदोदरी के लिए आसन दिलवा दिया। तब मंदोदरी बोली कि हे पुत्री ! पूर्व में मैं तेरी माता थी और इस समय तपस्विनी हूँ। तू मुझे प्रणाम क्यों नहीं करती है? इसके उत्तर में प्रभावती ने कहा कि मैं समीचीन धर्म का पालन करती हूँ, सही मार्ग में स्थित हूँ और तुम कुमार्ग (मिथ्यामार्ग) में प्रवृत्त हो इसलिए मैं तुम्हें नमस्कार नहीं कर रही हूँ। इस पर मंदोदरी बोली कि क्या महादेव के द्वारा प्ररूपित मार्ग समीचीन नहीं है? प्रभावती ने कहा - नहीं, तब दोनों में अनेक प्रकार का विवाद होने लगा फिर भी प्रभावती ने उसे नमस्कार नहीं किया। जो इस प्रकार स्नेह या भय आदि के वश होकर कुलिंगियों को नमस्कार नहीं करता है उसका सम्यग्दर्शन दृढ़ हो जाता है।

६. किसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है

संसार में सामान्य रूप से कितनी भी मजबूत वस्तु हो उसको भी प्रतिकूल सामग्रियाँ मिल जाने पर वह नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी सम्यक्त्व को नष्ट करने वाली सामग्रियाँ अर्थात् अनायतन सेवा, निदान, भोगों की आकांक्षा आदि निमित्तों के मिलने से नष्ट हो जाता है। कहा भी है-

जो लज्जा, भय और गारव से कुत्सित देव, कुत्सित धर्म और कुत्सित लिङ्ग की वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। **(मो.पा. ९२)**

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करता है परन्तु कभी अज्ञानी गुरु के उपदेश को सर्वज्ञ का ही उपदेश समझकर अतत्त्व का भी तत्त्व रूप से श्रद्धान कर लेता है तो भी उसका सम्यक्त्व भ्रष्ट नहीं होता है। यदि कोई विद्वान कभी सूत्र के प्रमाण से उसके श्रद्धेय तत्त्व को विपरीतपना सिद्ध करके बतला देता है कि तुमने जैसा श्रद्धान कर रखा है, तत्त्व ऐसा नहीं है किन्तु शास्त्र में तो ऐसा कहा गया है। ऐसा बतलाने पर भी आग्रहवश वह उसको स्वीकार न करे तो उसी समय से वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। **(गो.जी. ३२-३३)**

जैसे शूरवीर पुरुष शत्रुओं को मारने का संकल्प करके भी युद्ध में यदि ऐसे घोड़े पर चढ़ा हो जो वेग से दौड़ता हुआ कभी पूर्व, कभी पश्चिम की ओर जाता है तो वह शत्रुओं के द्वारा मारा जाता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मोह रूपी शत्रु को मारने का निश्चय करके भी यदि सर्वज्ञ के वचनों में ''यह ऐसा ही है या अन्यथा'' इस प्रकार दोनों ही कोटियों को स्पर्श करने वाली प्रतीति का आश्रय लेता है अर्थात् संशय को प्राप्त होता है तो वह मोह रूपी शत्रुओं के द्वारा सम्यक्त्व से च्युत कर दिया जाता है।

जो सम्यग्दृष्टि पुरुष युक्ति आदि प्रमाणों से सिद्ध व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य वाले जीवादि सर्वज्ञकथित समस्त तत्त्वों को सत्य नहीं समझता है और इस बात की शंका करता है कि क्या मालूम? ये ही तत्त्व हैं या इनमें कुछ कम-ज्यादा है। वह पुरुष अपने शुद्ध सम्यग्दर्शन का नाश करता है। उसमें धब्बा लगाता है। जो पुरुष सम्यग्दर्शन प्राप्त करके भी सुर-असुर और चक्रवर्ती आदि विशाल विभूतियों को देखकर मन में यह इच्छा करता है कि मेरे भी यह सम्पत्ति हो, मैं भी वैसी विभूति वाला होऊँ, वह अपने सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न करता है। **(सु.र.सं.)**

जो रत्नत्रय से दैदीप्यमान तपस्वियों के मल से मलिन या रोगादि से पीड़ित शरीर से घृणा करता है वह मूर्ख पुरुष अपने सम्यग्दर्शन को कलंकित करता है। पंचाग्नि तप करने वाले, जंगल में रहकर कंदमूल फल खाकर पेट भरने वाले, चिलम, तम्बाकू, भाँग आदि मादक चीजें पीने वाले आदि पाखण्डियों को देखकर जो सम्यग्दृष्टि यह मानता है कि ये भी अपने कर्मों का क्षय कर रहे हैं, इनके व्रतों से भी कर्मों का नाश होता है वह अपने सम्यग्दर्शन को नष्ट करता है। जो लोग कुदर्शन, कुज्ञान, कुचारित रूप मल से मलिन आत्मा वाले मिथ्यात्व श्रद्धानियों की मन, वचन, काय से या किसी एक से भी सेवा शुश्रूषा करते हैं वे महाफल को प्राप्त कराने वाले सम्यग्दर्शन रूपी वृक्ष को काटते हैं, वे सम्यक्त्व को दूषित करते हैं। **(सु.र.सं. १७४-७८)**

निदान करने से सम्यक्त्व नष्ट हुआ

वसुदेव का जीव मगधदेश के शालिग्राम में एक ब्राह्मण के यहाँ उत्पन्न हुआ। गर्भ में आते ही पिता का एवं जन्म लेते ही माँ का मरण हो गया था। मामा-मौसी ने उसका पालन-पोषण किया। उसका शरीर मल से ग्रस्त था। उसके शरीर से बकरे के बच्चे के समान तीव्र गंध आती थी। उसने यौवन अवस्था प्राप्त होने पर अपने मामा की पुत्रियों से शादी करने का विचार किया तो पुत्रियों ने उसको अपने घर से निकाल दिया जिससे वह बहुत दु:खी हुआ। अंत में वह दुर्भाग्य रूपी अग्नि की शिखाओं से झुलसकर ठूंठ के समान मलिन हो गया और पतंग की तरह कूदकर मरने की इच्छा से वैभारगिरि पर गया परन्तु मुनियों ने उसे रोककर धर्म का उपदेश दिया। जिसको सुनकर उसने अपनी निंदा की और मुनिराज के चरणों में दीक्षा धारण कर ली और अन्य मनुष्यों के लिए दुष्कर ऐसे कठिन तप तपने लगा। उसका नाम नंदिषेण था। उसको तप के फल में ऋद्धियाँ प्रकट हो गईं। सब तपों में से वह वैयावृत्य तप को विशेष रूप से करता था जिसके फल में उसको अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्रगट हो गई थीं इसलिए वैयावृत्य में उपयोग आने वाली जिस औषधि और पथ्य भोजन का वह विचार करता था वह शीघ्र ही उसके हाथ में आ जाती थी। इस प्रकार नंदिषेण मुनिराज को तप करते हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो गये। तब एक दिन इन्द्र ने देवों की सभा में उनके वैयावृत्य तप की प्रशंसा की। इन्द्र के मुख से नंदिषेण मुनिराज के वैयावृत्य तप की प्रशंसा सुनकर एक देव उनकी परीक्षा करने के लिए मुनि का रूप बनाकर नंदिषेण मुनिराज के पास आकर बोला - हे मुनिवर! मेरा शरीर व्याधि से पीड़ित हो रहा है इसलिए मुझे कुछ उपाय बताइये। नंदिषेण मुनि ने अपनी अखण्ड अनुकम्पा से कहा- हे साधो, मैं आपकी वैयावृत्य करूँगा, योग्य प्रासुक औषधि से आपकी व्याधि को दूर करने का पुरुषार्थ करूँगा। परन्तु तुम यह बताओ कि तुम्हारी किस भोजन में रुचि है? मुनि रूपधारी देव ने कहा - पूर्व देश के धान का शुभ सुगन्धित भात, पांचाल देश के मूंग की स्वादिष्ट दाल, पश्चिम देश की गायों का तपाया हुआ घी, कलिंग देश की गायों का मधुर दूध और नाना प्रकार के व्यंजन मिल जावे तो अच्छा है क्योंकि मेरी श्रद्धा इन्हीं वस्तुओं में अधिक है। इस प्रकार कहने पर ''मैं अभी आता हूँ'' यह कहकर नंदिषेण मुनि बड़ी श्रद्धा के साथ उक्त आहार लेने के लिए चल दिये। विरुद्ध देश की चाह होने पर भी उनके मन में कुछ भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ और आहार के समय में जाकर तथा उपर्युक्त सभी आहार लाकर उन्होंने शीघ्र ही उस कृत्रिम मुनि को दे दिया। कृत्रिम मुनि ने इस आहार-पानी को ग्रहण किया परन्तु रात्रि में शरीर के अन्तर्गत मलों अर्थात् बहुत सारा मल-मूत्र निकल कर उसके शरीर पर लग गया और नंदिषेण मुनि ने बिना किसी ग्लानि के उसे अपने हाथों से साफ किया।

मुनि नंदिषेण महाराज की ग्लानि रहित और प्रशंसनीय वैयावृत्य को देखकर दिव्य रूप धारण करने वाले देव ने कहा – हे ऋषे ! देवों की सभा में इन्द्र ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, मैं देख रहा हूँ कि आप इसी तरह वैयावृत्य करने में उद्यत हैं। अहो! आपकी ऋद्धि, आपका धैर्य, आपकी ग्लानि जीतने की क्षमता, संशय रहित आपका शासन और वात्सल्य सभी आश्चर्यकारी हैं। आदि-आदि स्तुति

करके देव स्वर्ग में चला गया। इस प्रकार तप करते हुए नन्दिषेण मुनिराज के ३५००० वर्ष व्यतीत हो गये। तब अंत समय में उन्होंने ६ माह का प्रायोपगमन (जिसमें न स्वयं वैयावृत्य की जाती है और न ही दूसरे से करवायी जाती है) संन्यास धारण कर उन्होंने सभी प्रकार के आहार का एवं शरीर के ममत्व का भी त्याग कर दिया किन्तु इतना होने पर भी मोह की तीव्रता से उन्होंने ''मैं अगले भव में लक्ष्मीवान एवं सौभाग्यशाली बनूँ।'' इस प्रकार के निदान से अपने आपको बद्ध कर लिया। यदि वे मुनि निदान नहीं करते तो उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता। इस प्रकार निदान करने से उनका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया।

गुरु निंदक का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है

एक बार श्रीमन्यु, सुरमन्यु, श्रीनिचय, सर्वसुन्दर, जयवान, विनयलालस तथा जयमित्र नामके सप्तऋषि मुनिराज मथुरा नगरी में आये। वे सप्तर्षि मुनिराज रसपरित्याग आदि तथा बेला-तेला आदि उपवासों के साथ अत्यन्त उत्कट तप करते थे। वे बहुत दूरवर्ती आकाश को निमेष मात्र में लाँघकर, विजयपुर, पोदनपुर आदि दूर-दूरवर्ती नगरों में पारणा करते थे। एक दिन वे धीर-वीर मुनिराज ४ हाथ भूमि देखते हुए अयोध्या नगरी में आये। वे नगर में भ्रमण करते हुए अर्हदत्त सेठ के घर पहुँचे। उन मुनियों को देखकर संभ्रम (उठकर सामने आना, नमस्कार करना आदि) से रहित अर्हदत्त सेठ इस प्रकार विचार करने लगा कि यह ऐसा वर्षाकाल कहाँ और यह मुनियों की चेष्टा कहाँ? इस नगरी के आसपास प्राग्भार, पर्वत की कन्दराओं में, नदी के तट पर, वृक्ष के मूल में, शून्य घर में, जिनालय में तथा अन्य स्थानों में जहाँ कहीं जो मुनिराज स्थित हैं उन सबकी तो मैंने वंदना की है और उत्तम चेष्टाओं वाले मुनिराज इधर-उधर परिभ्रमण नहीं करते हैं परन्तु ये मुनि आगम के अर्थ को विपरीत करने वाले हैं, ज्ञान से रहित हैं, आचार्यों से रहित हैं और आचार से भ्रष्ट हैं इसीलिए इस समय यहाँ घूम रहे हैं। इस प्रकार मुनिराज की निंदा करने वाले उन्हें आहार आदि न देकर उनकी चर्या को दूषित बताने वाले, जीवों का सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है।

आहार के बाद वे सप्तर्षि अर्हंत भगवान के दर्शन करने के लिए जिनालय में गये। वहाँ मुनिसुव्रत भगवान की प्रतिमा विराजमान थी। जो पृथिवी से चार अंगुल ऊपर चल रहे थे ऐसे उन ऋद्धिधारी उत्तम मुनियों को मंदिर में विद्यमान द्युतिभट्टारक ने देखा। उन मुनियों ने श्रद्धा के साथ पैदल चलकर ही जिनमंदिर में प्रवेश किया तब द्युतिभट्टारक ने खड़े होकर नमस्कार करना आदि विधि से उनकी पूजा की। ये हमारे आचार्य जिस किसी की वंदना करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। यह जान द्युतिभट्टारक के शिष्यों ने उन सप्त ऋषियों की निन्दा का विचार किया। **(प.पु. ९२)** ऐसे लोगों का सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है जो अपने गुरु को भी अज्ञानी समझ लेते हैं। उनको यद्वा-तद्वा वृत्ति करने वाले समझकर उनका अनुकरण नहीं करते हैं। उनके बताये मार्ग पर नहीं चलते हैं। उनको अल्पबुद्धि वाले तथा स्वयं को बुद्धिमान सम्यग्दृष्टि समझते हुए उनकी निन्दा करते हैं, उनका सम्यग्दर्शन अवश्य नष्ट हो जाता है।

अज्ञान और मोह के मार्ग रूप मिथ्यामत में उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धा करता हुआ पुरुष जिनोपदिष्ट सम्यक्त्व को छोड़ देता है। **(चा.पा. १३)** अर्थात् ऐसे जीवों का सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है।

एक बार अग्निभूति और सोमभूति नामके दो भाई विद्याध्ययन करके लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने जिनमती आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा तथा सुभद्रा आर्यिका को अपने ससुर जिनभद्र मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा। इस पर दोनों भाइयों ने उपहास किया कि 'जवान की स्त्री वृद्धा और वृद्ध की स्त्री जवान' विधाता ने अच्छा उलटफेर किया है। इस प्रकार गुरु को देखकर गलत शंका और कलंक लगाना सम्यक्त्व को नष्ट कर डालता है। यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो उसका मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है।

जो लज्जा, रस ऋद्धि और सात इन तीन गारवों से अथवा यह राजमान्य है, नमस्कार न करने पर कुछ उपद्रव करा देगा इत्यादि भय से नमस्कार करते हैं, वे उनके उस पाप की अनुमोदना करने वाले हैं अत: उनको रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है।

जो दूसरों के छोटे-छोटे दोष ढूंढने में सदा जागृत रहते हैं और अपने हाथी जैसे बड़े-बड़े दोषों के प्रति नेत्र बंद कर लेते हैं वे मोक्षमार्ग में क्या कर सकते हैं? हे भगवन्! वे आपके मत धर्म रूपी लक्ष्मी के अपात्र हैं। **(स्वयम्भू स्तोत्र)** (उनमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता और सम्यग्दर्शन हो तो नष्ट हो जाता है।)

जो मुनि सिंह के समान निर्भय होकर उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, बहुत प्रकार के परिकर्म अर्थात् व्रत-उपवास आदि करते हैं तथा आचार्य आदि के पद का गुरुतर भार संभालते हैं परन्तु स्वच्छंद वृत्ति करते हैं अर्थात् आगम की आज्ञा का ध्यान नहीं रखते हुए मनमानी प्रवृत्ति करते हैं। वे पाप को प्राप्त होते हैं एवं मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। **(सू.पा.)** अर्थात् स्वच्छन्द वृत्ति से सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है।

सूत्र के अर्थ और पद से भ्रष्ट हुआ मनुष्य विष्णु और रुद्र के समान होने पर भी अर्थात् उनके समान ऋद्धिमान होकर भी स्वर्ग में जाता है और वहाँ से आकर करोड़ों भव धारण करता है, मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है वह संसारी ही कहा गया है। **(सू.पा. ८)** अर्थात् आगम के अर्थ और पद की अश्रद्धा करने वाला सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यादृष्टि बन जाता है अथवा वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।

मेरा रूप कामदेव के हृदय को पीड़ा देने वाला है, मेरा रूप इस भूतल में अलंकार स्वरूप है, मेरी जाति अन्य जाति को मलिन करने वाली स्याही के समान है। मुझे जो भोग्य धन प्राप्त हुआ है उसके लिए कुबेर भी मेरे सामने किंकर आज्ञाकारी सेवक के समान है, मेरे बुद्धि वैभव के सामने सर्वज्ञ भी मूर्ख है। मेरे शिल्प के सामने सरस्वती भी मूर्खा है, मुझमें जो बल है उसके आगे भीम भी निर्बल है तथा मेरे तप से तपस्वियों के अधिपति प्रसिद्ध हुए हैं इस प्रकार झूठे अभिमान से नष्ट हुए मनुष्य निरर्थक कथावार्ता में सम्यग्दर्शन रूप धर्म की जड़ को उखाड़ने के लिए निरन्तर गर्व रूप कुदाली को ग्रहण किया करते हैं। **(धर्म रत्ना.)**

संघश्री मंत्री का सम्यक्त्व नष्ट हो गया

कनकपुर का राजा धनदत्त जैन धर्मावलम्बी था। वह गुरुओं का परमभक्त था। उसकी भक्ति के प्रभाव से ही एक दिन उसके महल की छत पर चारण ऋद्धिधारी मुनिराज पधारे। उनके दर्शन करके वह गद्‌गद हो गया। उसके आनन्द का पार नहीं रहा। उसका मंत्री संघश्री जो बौद्ध धर्मावलम्बी था, उसने भी भक्ति से उनको नमस्कार किया, उनकी वंदना की। फलत: उसका मिथ्यात्व खण्ड-खण्ड हो गया। उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गयी। जब बौद्ध गुरुओं को यह ज्ञात हुआ कि संघश्री जैन गुरुओं से प्रभावित होकर जैन बन गया है, उसने बौद्ध गुरुओं को मानना बन्द कर दिया है तो उन्होंने उसको बुलाकर बौद्ध धर्म की महिमा बताई और अपने पास आने के लिए प्रेरित किया। इसी प्रकार उन्होंने उसको बार-बार बुलाकर विपरीत धर्म की शिक्षा दी। संघश्री उनकी बातों में आ गया। उसकी जैन धर्म में श्रद्धा समाप्त हो गई। एक दिन राजा ने अपनी सभा में चारण ऋद्धिधारी मुनिराज की महिमा का बखान किया और साक्षी के लिए संघश्री मंत्री से कहा तो संघश्री ने राजा की बात को नकारते हुए कहा - राजन्! न मैंने किसी चारण ऋद्धिधारी मुनि को देखा है, न ही ऐसा कभी हो सकता है। ये सब बातें मात्र छलभरी हैं। ऐसा कहते ही झूठ बोलने के कारण उसकी आँखें फूट गईं। इस प्रकार कुगुरु रूप अनायतन की सेवा/संगति में संघश्री मंत्री का सम्यक्त्व नष्ट हो गया और जीवन भी बर्बाद हो गया। इसी विषय में **रयणसार** ग्रन्थ में कहा है -

मिथ्यातप, कुलिंगी, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याव्रत, मिथ्याशील, मिथ्यादर्शन, मिथ्याशास्त्र और झूठे निमित्तों की संस्तुति, स्तुति और प्रशंसा करने से सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। **(र.सा. ४७)**

७. सम्यग्दृष्टि के चिह्न

जैसे पुरुष की शक्ति अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों से उसे देखा नहीं जा सकता है फिर भी सन्तानोत्पादन से और विपत्ति में धैर्य के धारण करने से और प्रारम्भ किये गये कार्य को समाप्त करने से अर्थात् पूरा करना आदि कार्यों से उसकी शक्ति का निश्चय किया जाता है; वैसे ही सम्यग्दर्शन रूपी रत्न भी आत्मा का स्वभाव होने के कारण यद्यपि बहुत सूक्ष्म है फिर भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि के द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है। **(य.ति.च. २३१)**

प्रश्न : क्या सम्यग्दर्शन को हम जान सकते हैं?

उत्तर : वास्तव में सम्यक्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है जो या तो केवलज्ञान का विषय है या अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान का। यह मति-श्रुतज्ञान इन दोनों का किंचित् भी विषय नहीं है। साथ ही वह देशावधि ज्ञान का भी विषय नहीं है, क्योंकि इन ज्ञानों के द्वारा सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती है। सात प्रकृतियों का उपशम होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। पौद्गलिक कर्म सूक्ष्म है जो पाँच इन्द्रियों व मन का विषय नहीं है। अत: सम्यग्दर्शन मति या श्रुतज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता। **(मुख्तार.) ''प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्य लक्षणं सम्यक्त्वं'' (ध.१०/१५)**

क्षमा वैराग्य संतोष दयावान विषयातिग:।
कषायमद संहारी सम्यक्त्वभूषणो भवेत् ॥

जो क्षमा, वैराग्य, संतोष और दया से सहित, विषयों से परे है, कषाय रूपी मद का संहरण करने वाला है वही सम्यक्त्व रूपी आभूषण सहित होता है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धा और भक्ति रखना, संसार और भोगों से विरक्त रहना, समता भाव रखना, दया पालन करना, समस्त पदार्थों को अपने-अपने लक्षणों से अच्छी तरह समझ कर पर-पदार्थों का त्याग करना, विरक्त रहना और अपने आत्म-तत्त्व में लीन रहना, अपनी आत्मा का स्वराज्य प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्न करते रहना सम्यग्दर्शन के चिह्न हैं। इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान दर्शन होता है उस दर्शन के मार्ग को छोड़कर केवल अपनी आत्मा को जानना, देखना व अपनी आत्मा का ज्ञान दर्शन सम्पादन करना, प्रयत्नपूर्वक उसी का चिंतन करना ये निश्चय सम्यग्दर्शन के चिह्न हैं।

स्त्री के साथ संभोग करने से होने वाले पुत्र की उत्पत्ति से, विपत्ति के समय में धैर्य धारण करने से तथा प्रारब्ध कार्य के निर्वाह आदिक हेतुओं से जिस प्रकार पुरुष की अतीन्द्रिय शक्ति स्पष्ट जानी जाती है उसी प्रकार आत्मा का स्वरूपभूत वह प्राणियों का सम्यग्दर्शन भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि हेतुओं से निश्चय से जाना जाता है। **(धर्म. रत्ना.)**

आगम सुनने की इच्छा, धर्म में अनुराग, जिनेश्वर और निर्ग्रन्थ गुरु-चरणों की पूजा आदि में उपयुक्तता, संवेग, अतिशय निर्वेद, अनुपम समता (राग-द्वेष का अतिशय अभाव) आस्तिक्य ये

सम्यग्दर्शन के चिह्न जिनके विद्यमान हैं, जो शंका व कांक्षा आदि दोषों से रहित होकर जिनवचन के प्रेमी ऐसे धार्मिक जनों में बन्धु-बुद्धि रखते हैं तथा जिनकी जीवादिक सात तत्त्वों में दृढ़ श्रद्धा होती है ऐसे गुणों के विविध स्वरूप वे सम्यग्दृष्टि भी पूज्य हैं। **(धर्म. रत्ना.)**

वेदक सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर जीव की बुद्धि शुभानुबंधी या सुखानुबंधी हो जाती है। शुचिकर्म में रति उत्पन्न होती है, श्रुत में संवेग अर्थात् प्रीति पैदा होती है, तत्त्वार्थों में श्रद्धान, प्रिय धर्म में अनुराग एवं संसार से तीव्र निर्वेद अर्थात् वैराग्य जागृत हो जाता है। इन गुणों को आदि लेकर इस प्रकार के जितने गुण हैं वे सब वेदक सम्यकत्वी जीव के प्रकट हो जाते हैं। **(पं.सं.प्रा. १६३-६४)**

सराग सम्यक्त्व के ४ चिह्न हैं –

१. प्रशम २. संवेग ३. अनुकम्पा ४. आस्तिक्य

अर्थात् इन गुणों से सामान्य सम्यग्दृष्टि पहचाना जाता है। यह बात अलग है कि इन गुणों के होने पर सम्यग्दर्शन हो ही ऐसा नियम नहीं है लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होगा उसमें ये चिह्न अवश्य होंगे।

प्रशम-प्रथमानुयोग भले ही बहुत चक्कर लगाकर तत्त्व पर आता है किन्तु उसके पठन-पाठन से प्रशम भाव की प्राप्ति होती है, वैराग्य की ओर कदम बढ़ाने में सुविधा होती है। जिन लोगों की यह धारणा बन चुकी है कि प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में सिर्फ कथा-कहानियाँ हैं उन्हें **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** के प्रसंग को भली-भाँति पढ़ लेना चाहिए। आचार्य **समंतभद्र स्वामी** ने प्रथमानुयोग को बोधि-समाधि का निधान कहा है। वास्तव में शलाका पुरुषों के जीवन चारित्र को पढ़ने से कषायें शान्त होती हैं और मार्ग पर बढ़ने का साहस आता है **(आ.विद्या.)**।

सम्यग्दृष्टि के यह प्रशम गुण प्रकट हो जाने से वह दुनिया के सम्पूर्ण पदार्थों में से किसी को भला और किसी को बुरा मानकर भयभीत नहीं बनता है। यद्यपि चारित्रमोह के उदय से किसी कार्य को करता है तो उसमें बाधक होने वाले पदार्थ से बचकर उसके साधक अर्थात् अनुकूल सामग्रियों को इष्ट मानकर उन्हें प्राप्त करने और बनाये रखने की तथा प्रतिकूल निमित्तों को दूर करने की चेष्टा भी करता है किन्तु मिथ्यादृष्टि के समान उन्हीं के पीछे नहीं लगता है। जैसे - सीता रामचन्द्रजी को प्रिय थी लेकिन जब उसके निमित्त से अपवाद होने लगा तो उसे जंगल में छुड़वा दिया। वह उनके अंतरंग में होने वाले प्रशम गुण की महिमा थी।

बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना का न होना या कम-से-कम होना सो प्रशम भाव है जो ''श्री अरहंत भगवान की आज्ञानुसार न तो कोई पदार्थ इष्ट ही है और न अनिष्ट ही'' इस प्रकार के विचारों से उत्पन्न होता है अर्थात् आज्ञाविचय धर्मध्यान कारण एवं प्रशम भाव कार्य है।

पंचेन्द्रियों के विषयों में और असंख्यात लोकप्रमाण क्रोधादिक भावों में स्वभाव से तन का शिथिल होना प्रशम भाव है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों के विषय में कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजन बुद्धि का नहीं होना प्रशम भाव है। परिणामों में शांतपना आ जाना प्रशम भाव है।

कषायों के उपशमन में मात्र क्रोध कषाय की ही मंदता नहीं होती वरन् मान-माया-लोभ कषाय की भी मंदता होती है। एक पण्डितजी थे जो राजपरिवार में नौकरी करते थे। एक बार महाराजा ने उन्हें बुलाकर उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए उनके वेतन में वृद्धि करने की घोषणा की। वेतनवृद्धि की बात को सुनकर पण्डितजी ने विनम्र भाव से हाथ जोड़ कर निवेदन किया कि महाराजा, मुझे अधिक वेतन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वर्तमान में मुझे जितना वेतन मिल रहा है उससे मेरा काम भली भाँति हो जाता है और यदि आप मेरे कार्यों से सचमुच प्रसन्न हैं तो मेरे वेतन में वृद्धि के स्थान पर मेरे काम के कुछ घण्टे कम कर दें और वेतन भी कम कर दें ताकि मैं स्वाध्याय के लिए अर्थात् अपने आत्मकल्याण के लिए समय का उपयोग कर सकूँ। पण्डितजी के भीतर छिपी हुई ज्ञान की ऐसी अलौकिक ललक को देखकर महाराजा इतने भाव विभोर हुए कि उन्होंने अपने आसन से उठकर पण्डितजी को गले लगा लिया और स्वाध्याय तथा आत्मकल्याण के लिए सभी अपेक्षित आवश्यक सुविधाएँ देने की घोषणा की। यह पण्डितजी का लोभ कषाय के विषय में प्रशम भाव था।

पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार ने आगम के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए तथा वकालात में होने वाले असत्य पाप से बचने के लिए वकालत छोड़ दी। यह अनन्तानुबन्धी लोभ के अभाव से उत्पन्न हुआ प्रशम भाव है।

रागादि दोषों में चित्तवृत्ति का नहीं जाना ज्ञानी पुरुषों के द्वारा प्रशम गुण कहा गया है। मिथ्यादृष्टि के समान विषय कषाय में स्वच्छंद प्रवृत्ति का अभाव होना ही प्रशम है। सद्य कृतापराधी अर्थात् तत्काल अपराध करने वाले जीवों पर भी रोष उत्पन्न नहीं होना प्रशम कहलाता है। रामचन्द्रजी को युद्ध में पराजित करने के लिए बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने वाले रावण जैसे महाअपराधी जीव पर भी रोष उत्पन्न नहीं होना रामचन्द्रजी का प्रशम भाव था।

प्रश्न : क्या यह प्रशम भाव केवल सम्यग्दृष्टि के ही होता है?

उत्तर : हाँ, यह प्रशम भाव केवल सम्यग्दृष्टि के ही होता है। यह बात अलग है कि मिथ्यादृष्टियों के भी कषायों की मंदता रूप प्रशम भाव देखा जाता है, उसे प्रशम भाव नहीं प्रशमाभास कहा जाता है क्योंकि प्रशम भाव तो सम्यग्दृष्टि का चिह्न है। जिस प्रकार छुहारा मुनक्का आदि से बनाई हुई मिठाई शक्कर की मिठाई जैसी मीठी होती है लेकिन उसे शक्कर की तो नहीं कहा जा सकता है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के कषाय की मंदता को प्रथम भाव नहीं कहा जा सकता है, उसका वह भाव प्रशमाभास ही होता है। इसके पास सम्यग्दर्शन नहीं होने से उस प्रशम भाव के फलस्वरूप संवर यानी कर्म का आस्रव नहीं रुकता है और न ही उसका वह प्रशम भाव परम्परा से मोक्ष का कारण ही बनता है। इसी प्रकार संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणों में जानना चाहिए इसलिए यहाँ प्रशम आदि के साथ प्रशमाभास आदि के बारे में चर्चा की गयी है।

मिथ्यादृष्टि के कषायों की मंदता होने पर पुण्य का बंध होता है। उसके फल में उसे लौकिक सुखों की प्राप्ति अवश्य होती है इसलिए उसके प्रशमाभासादि भी निरर्थक नहीं जाते हैं। कभी पुण्य के

उदय में उसको भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु आदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के योग्य निमित्त मिलते हैं जिनसे वह भी अपना कल्याण कर सकता है।

प्रशमाभास

हजरत मुहम्मद हमेशा जिस रास्ते से नमाज पढ़ने के लिए जाते थे उसी रास्ते में एक वृद्धा का घर था। वह वृद्धा हमेशा उनके ऊपर कचरा फेंक कर उन्हें परेशान करती थी अर्थात् उनसे छेड़-छाड़ करती रहती थी तो भी वे चुपचाप भगवान से प्रार्थना करते हुए निकल जाते थे कि - हे भगवन् ! उसको सद्बुद्धि मिले। एक दिन वृद्धा ने उनके ऊपर कचरा नहीं फेंका तो उन्होंने सोचा, आज वृद्धा ने अपना नियमित कार्य क्यों नहीं किया? उन्होंने वृद्धा के घर का दरवाजा खटखटा कर खुलवाया तो मालूम पड़ा कि आज उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। यह सुनकर वे उसके पास पहुँचे। उन्हें आया देख वृद्धा ने सोचा शायद ये मेरे से बदला लेने आये हैं, क्योंकि मैं हमेशा इनके ऊपर कचरा फेंकती थी लेकिन जब उसने उन्हें बदला लेने के स्थान पर अपनी सेवा करते हुए देखा तो उसने भी सभी को क्षमा कर देने की प्रतिज्ञा ले ली। यह हजरत का प्रशम भाव नहीं प्रशमाभास था क्योंकि उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं था। यदि वे भी जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते तो उनका वह प्रशमाभास प्रशम रूप में परिवर्तित हो जाता।

जब मिर्जा के विरोधियों ने कुछ असभ्यतापूर्ण पत्र भेजे तो वे पढ़कर चुप हो गये। शिष्यों ने उनसे प्रार्थना की कि विरोधियों की अकल ठिकाने लाने के लिए ऐसे पत्रों का उत्तर जरूर देना चाहिए। तब मिर्जा ने कहा - यदि तुम्हें कोई गधा लात मारे तो क्या तुम उसे लात मारते हो? यह उनका प्रशमाभास था। उनमें बुरा करने वाले के प्रति कोई प्रतिकार करने के भाव नहीं होने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं होने से यह प्रशमाभास है।

इसी प्रकार बहुत यश फैल जाने पर अथवा अनेक लोगों के द्वारा प्रशंसा करने पर भी नीची दृष्टि करके बैठे रहना, हर्षित नहीं होना, अपने आप को अल्पज्ञ समझना एवं अपनी लघुता प्रगट करना, मान कषाय की मंदता से होता है। छल के अनेक अवसर आने पर भी, थोड़े से छल से लाखों का लाभ होने पर भी छल नहीं करना माया कषाय की मंदता का परिणाम है। लोभ के वशीभूत होकर अनीति-अन्याय का पक्ष नहीं लेना, कारखाना नहीं खोलना, खान में से पत्थर नहीं निकालना, ज्यादा फसल प्राप्त करने के लिए कीटनाशक या ऐसी खाद का प्रयोग नहीं करना जिससे हिंसा विशेष हो। जिसमें सहज रूप से सम्पत्ति प्राप्त हो रही हो लेकिन जो हिंसात्मक कार्य हैं जैसे विद्यालयों के लिए चमड़े के ढोल, कमर के पट्टे, जूते आदि का ठेका नहीं लेना लोभ कषाय की मंदता का कार्य है। इन सबके साथ यदि सरागी देवों की आराधना, कुशास्त्रों के प्रति आकर्षण या कुगुरुओं के प्रति भक्ति का भाव है, मिथ्यादृष्टि है तो ये सब प्रशमाभास में आते हैं। इनसे पुण्य का बंध होता है, स्वर्ग की प्राप्ति होती है। लेकिन मोक्षमार्ग की अपेक्षा तत्काल कोई फल नहीं मिलता है फिर भी भविष्य में पुण्योदय से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के समागम की सम्भावना रहती है, इसलिए कथंचित् कार्यकारी भी है फिर भी हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करके इनका पालन करना चाहिए ताकि मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

संवेग

दुनियादारी के कार्यों में अनुत्सुकता-उदासीनता रहना किन्तु धर्म के विषय में तत्परता होना संवेग परिणाम है। करण शब्द के दो अर्थ हैं - १. परिणाम २. गणित

अनुयोग के प्रसंग में करण का अर्थ गणित ही लिया गया है क्योंकि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने स्वयं कहा है कि जो शास्त्र चतुर्गति, युग परिवर्तन और लोक-अलोक के विभाग आदि का कथन करते हैं वे सब करणानुयोग हैं अर्थात् भौगोलिक जानकारी देने वाले शास्त्रों को करणानुयोग में ही गर्भित करना चाहिए। इन शास्त्रों का स्वाध्याय करने से संवेग भाव की प्राप्ति होती है। **(आ.विद्या.)**

जैसे ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का सम्पूर्ण शृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के न होने पर जैसे मंदिर की कोई शोभा नहीं है उसी प्रकार बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है। संवेग एक उदासीन दशा है। जिसमें रोना भी नहीं है, हँसना भी नहीं है, पलायन भी नहीं है, बैठना भी नहीं है, दूर भी नहीं हटना है और आलिंगन भी नहीं करना है। यह जो आत्मा की अनन्य स्थिति है वह सद्गृहस्थ से लेकर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ मुनि महाराज तक में प्रादुर्भूत होती है। **(आ.विद्या.)**

संवेग का प्रारम्भ कहाँ? जब दृष्टि नासाग्र हो, केवल अपने लक्ष्य की ओर हो और अविराम गति से मार्ग पर चले। जिस प्रकार सर्कस में तार पर चलने वाला न तो ताली बजाने वालों की ओर देखता है और न लाठी लेकर खड़े व्यक्ति की ओर देखता है। उसका उद्देश्य इधर-उधर देखना नहीं है, उसका उद्देश्य तो एकमात्र संतुलन बनाये रखना और अपने लक्ष्य पर पहुँचना होता है। यही बात संवेग की है। **(आ.विद्या.)**

सम्यग्दर्शन के बिना पाप से डरना नहीं होता। संसार से भीति सम्यग्दर्शन का अनन्य अंग है। वीतराग सम्यग्दर्शन में ये संवेग अधिक घनीभूत होता है। संवेग अनुभव और श्रद्धा के साथ जुड़ा हुआ है। इस संवेग की प्राप्ति अति दुर्लभ है। वीतरागता से पूर्व यह प्रस्फुटित होता है और फिर वीतरागता उसका कार्य बन जाती है। संवेग के प्रादुर्भूत होने पर सभी बाहरी आकांक्षायें छूट जाती हैं, जहाँ संवेग होता है वहाँ विषयों की ओर रुचि नहीं रह जाती, उदासीनता आ जाती है। **(आ.विद्या.)**

संवेग का प्रतिपादन करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि एक व्यक्ति के बारह बच्चे थे। वह उनके बीच में रह कर बड़ा दु:खी था। तो उसकी पत्नी ने उससे कहा - भरतजी इतने बड़े परिवार के बीच में कैसे रहते होंगे? जहाँ ९६ हजार रानियाँ हैं, अनेक बच्चे और अपार सम्पदा है। उनके परिणामों में कभी संक्लेश हुआ हो ऐसा सुनने में नहीं आया। यह सुनकर वह व्यक्ति भरतजी की परीक्षा लेने के लिए पहुँच जाता है। भरतजी उसकी सारी बातें सुनकर उसके हाथ में तेल से भरा हुआ एक कटोरा देकर कहते हैं तुम मेरे रनिवास में जाओ। वहाँ सब कुछ देखकर आओ लेकिन कटोरे में से एक बूंद तेल भी नीचे नहीं गिरना चाहिए अन्यथा मृत्युदण्ड दिया जायेगा। भरतजी की आज्ञानुसार वह रनिवास में सब

कुछ देखकर आया लेकिन उसका देखना न देखने के बराबर ही रहा क्योंकि पूरे समय कटोरे में से एक बूंद भी नीचे न गिर जाए यह भय उसे सताता रहा। जब उसने भरतजी को अपनी मनोवृत्ति बतायी तो भरतजी उसको समझाते हुए बोले- मित्र, जागृति लाओ, सोचो, समझो। ये सब निधियाँ, चौदह रत्न, ये ९६ हजार रानियाँ ये सब मेरी नहीं हैं। मेरी निधि तो मेरे अन्तरंग में छिपी हुई है। ऐसा विचार करके ही मैं इन सबके बीच शांत भाव से रहता हूँ। यह भरतजी का संवेग भाव था। ऐसा ही संवेग प्रत्येक सम्यग्दृष्टि में प्रतिसमय रहता है। **(प्रवचनामृत)**

शारीरिक, मानसिक और आगंतुक वेदनाओं से होने वाले दुःखों से एवं स्वप्न तथा इंद्रजाल के समान संसार से भय उत्पन्न होना संवेग कहलाता है।

इस गुण वाला यद्यपि तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार भले ही युद्धादि जैसे कठोर कार्यों में प्रवृत्ति करता है लेकिन वहाँ भी अनुचित कार्य नहीं करता है। इस भाव का कारण अपाय विचय धर्मध्यान है क्योंकि इस ध्यान के कारण ये विचार उत्पन्न होते हैं कि विषयभोगों में फँसकर ही यह जीव अपना अपाय यानी बुरा करता है, बुरा कर रहा है।

'चारित्रचक्रवर्ती' ग्रन्थ में आचार्य शांतिसागरजी ने प्रसंगवश कुंथलगिरी में दिवंगत लोणंद की बाई का उल्लेख करते हुए कहा - वह भोली सौम्य सरल बाई थी ''फार चाँगळी होती'' १६ दिन के पूर्व वह मर गई, क्या तुम नहीं मरोगे? यह अनित्य भावना सदा करनी चाहिए। इससे विषयों में वैराग्य भाव होता है उसे संवेग गुण कहा है।

संवेगाभास

एक बार एक फकीर राजमहल में पहुँचकर एक शानदार कमरे में अर्थात् सबसे ज्यादा मूल्यवान जहाँ राजा को छोड़कर किसी को जाने की इजाजत नहीं थी वहाँ जाकर आराम करने लगा। कुछ देर के बाद बादशाह आराम करने आया। अपने स्थान पर एक फकीर को देखकर वह क्रोधित होकर बोला- हे फकीर ! तुम्हें मेरे महल में आने की इजाजत किसने दी? फकीर बोला - राजन् ! धर्मशाला में आने के लिए किसी की इजाजत लेना कहाँ आवश्यक है? उसका उत्तर सुनकर बादशाह तिलमिला गया। उसने रौब भरे स्वर में कहा - यह धर्मशाला नहीं है, यह मेरा महल है, मैं इसका मालिक हूँ। मेरे पूर्वजों ने बड़े अरमानों से यह महल बनवाया है। फकीर ने पूछा इससे पहले इसमें कौन रहता था, राजा - मेरे पिताजी। फकीर - उसके पहले, राजा - मेरे दादाजी। फकीर - उसके पहले, राजा - मेरे परदादाजी। राजा के उत्तर को सुनकर फकीर बोला - जहाँ एक व्यक्ति आता है, कुछ समय रुक कर चला जाता है, फिर दूसरा आता है वह भी कुछ दिन रुक कर चला जाता है। ऐसे स्थान को धर्मशाला नहीं कहा जावे तो क्या कहा जा सकता है? इस प्रकार के विचार संसार से वैराग्य है, विरक्ति है, लेकिन यह संवेग नहीं संवेगाभास है, संवेग जैसे लगते हैं लेकिन वह संवेग नहीं है क्योंकि उस फकीर के पास सच्चे धर्म के प्रति श्रद्धान नहीं था। वह आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान को नहीं जानता था और न ही शाश्वत मोक्ष स्थान को ही जानता था। यदि उसको भी सम्यग्दर्शन हो तो वह संवेग भाव ही कहलाएगा।

अनुकम्पा

तृषा-क्षुधा से पीड़ित अथवा दु:खी जनों को देखकर जो मन में दु:ख उत्पन्न होता है, उनके प्रति करुणा का भाव उत्पन्न होता है वही अनुकम्पा है।

दया, कृपा, रक्षण, करुणा आदि के परिणामों को अनुकम्पा कहते हैं। अहिंसा, जीवरक्षा अथवा स्व और पर की विपदाओं का निवारण करना अनुकम्पा है। सब प्राणियों पर चित्त की दया से आर्द्र होने को दयालु मनुष्य अनुकम्पा कहते हैं।

आत्म-संतुष्टि, आत्मानुराग, विषयभोगों से विरक्ति, तत्त्वरुचि, स्वात्मानुभूति आदि अनेक गुण प्रगट होते हैं, कषायें क्षीण होती हैं, मिथ्यात्व भ्रम बुद्धि का नाश होता है, सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर निर्वहन होता है, स्वयं में विश्वास पुष्ट होता है, चाबी पाकर ताला खोलने वालों को भी विवेक कर्त्तव्य व पुरुषार्थ परमावश्यक है। चाबी लेकर भी अन्य तालों में लगाने से या ताला खोलने का पुरुषार्थ नहीं करने से ताला नहीं खुल सकता है। उसी प्रकार राग-द्वेष पूर्वक स्वार्थवश या प्रत्युपकार की भावना से यदि परानुग्रह किया जायेगा तो वह न तो अनुकम्पा है और न ही आत्मशुद्धि का साधन ही बन सकता है। अत: निर्वाञ्छ सेवा करना यथार्थ अनुकम्पा है।

जब धवल सेठ के द्वारा दिये गये प्रलोभन से भाण्डों ने श्रीपालजी को अपना भाई, बेटा आदि बताकर गुणमाला के पिता को मूर्ख बना दिया तो राजा के आदेशानुसार श्रीपालजी नि:संकोच सूली पर चढ़ने को तैयार हो गये किन्तु जब सत्य बात प्रगट हो गयी तो राजा ने अपनी आज्ञा बदलकर श्रीपालजी के स्थान पर धवलसेठ और उन भाण्डों को मारने के लिए कहा तो श्रीपालजी दयार्द्र होकर राजा से कहने लगे - हे राजन् ! इन भाण्डों का तो दोष ही क्या है! यदि वे ऐसा नहीं करते तो मेरा आपके साथ सम्बन्ध कैसे बनता ? इस प्रकार कह कर उन्होंने सबको क्षमा करके छुड़वा दिया। सम्यग्दृष्टि का जीवन भी ऐसा ही होता है। वह अपने स्वयं के ऊपर आई हुई आपत्ति में तो वज्र की तरह कठोर बन जाता है। किन्तु दूसरों को दु:ख संकट में पड़े देखकर मक्खन के समान पिघल जाता है। यही उसका अनुकम्पा गुण है, क्योंकि वह यह अच्छी तरह से जानता है कि यह शरीरधारी जीव अपने किये गये कर्मों का फल अपने आप ही पा लेता है। इस अनुकम्पा भाव के पहले ऐसा विचार होना आवश्यक है कि देखो, यह पाप के उदय से कैसे कष्ट में पड़ा हुआ है। ऐसे विचार विपाक विचय धर्मध्यान हैं जिसके होने पर दूसरे के कष्टों को दूर करने की चेष्टा उत्पन्न होती है।

आगम ग्रन्थों में अनुकम्पा तीन प्रकार की कही गयी है -

१. धर्मानुकम्पा, २. मिश्रानुकम्पा ३. सर्वानुकम्पा ।

धर्मानुकम्पा : मुनि, आर्यिका आदि का परिरक्षण धर्मानुकम्पा है। धर्म और आयतनों की रक्षा करना, वृद्ध, रुग्ण तपस्वियों की सेवा-शुश्रूषा, वैयावृत्य करना तथा उपसर्गादि निवारण करना, जीर्ण चैत्य-चैत्यालयों का जीर्णोद्धार करना धर्मानुकम्पा है। वसतिका, मंदिर, चैत्य आदि का निर्माण करवाना भी इसी में आता है।

मिश्रानुकम्पा : देशसंयमी श्रावक-श्राविकाओं की मन, वचन, काय से, धन से सेवा करना, उनके व्रतों के रक्षण, संवर्धन का प्रयत्न करना तथा उन्हें निर्भय बनाना, रोग-शोक, वियोग में धैर्य प्रदान करना, व्रतों से च्युत होने पर पुन: स्थित करना, उनके दोषों को छुपाना, परनिन्दा से बचना मिश्रानुकम्पा है।

सर्वानुकम्पा : मिथ्यात्वपूर्वक कठोर तपस्वी महापुरुषों के प्रति दया भाव, प्राणि मात्र के प्रति अनुग्रह बुद्धि, उपकार करना, उनके कष्ट निवारण का प्रयत्न करना, आवास-भोजन आदि की व्यवस्था करना सर्वानुकम्पा है। यद्यपि यह शुभ भाव है परन्तु सम्यक्त्व पूर्वक दया भावना से करना कल्याणकारी हो सकता है। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ों के प्रति भी अकाट्य दयाभाव रखना चाहिए। सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति तीर्थंकर गोत्र का बंध इस लोकोत्तर भाव से होता है।

संसारी प्राणियों के दु:खों को देखकर द्रवित हो जाना और उनके दु:खों को दूर करने का प्रयत्न करना अनुकम्पा है। यह द्रव्यानुकम्पा, भावानुकम्पा, स्वानुकम्पा, परानुकम्पा, स्वरूपानुकम्पा, अनुबन्धानुकम्पा, व्यवहारानुकम्पा और निश्चयानुकम्पा के भेद से आठ प्रकार की कही गयी है।

द्रव्यानुकम्पा : अपने समान अन्य प्राणियों का पूरा ध्यान रखना और उनके साथ अहिंसक व्यवहार करना द्रव्यानुकम्पा है।

भावानुकम्पा : अन्य प्राणियों को अशुभकार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धि से उपदेश देना भावानुकम्पा है।

स्वानुकम्पा : आत्मालोचन करना एवं सम्यग्दर्शन धारण करने में प्रयत्नशील रहना तथा अंतरंग में रागादि विकार उत्पन्न नहीं होने देना स्वानुकम्पा है।

परानुकम्पा : षट्काय के जीवों की रक्षा करना परानुकम्पा है।

स्वरूपानुकम्पा : सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना, आत्मा पर कर्मों का जो आवरण आ गया है, उसे दूर करने का उपाय सोचना स्वरूपानुकम्पा है।

अनुबन्धानुकम्पा : मित्रों, शिष्यों या भिन्न प्राणियों को हित की दृष्टि से उपदेश देना तथा कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना अनुबन्धानुकम्पा है।

व्यवहारानुकम्पा : उपयोग और विधिपूर्वक अन्य प्राणियों की सुख सुविधाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना व्यवहारानुकम्पा है।

निश्चयानुकम्पा : शुद्धोपयोग में एकता भाव और अभेदोपयोग का होना निश्चयानुकम्पा है।

दु:खी मनुष्यों को देखकर हृदय में कम्पन हो जाना अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि जीव जब किसी को क्रोधादि कषायों से अभिभूत तथा भोगासक्त देखता है तब उसके मन में करुणा भाव उत्पन्न होता है कि देखो बेचारा कषाय के भाव से कितना दब रहा है? इसका कल्याण किस प्रकार होगा? इस प्रकार

से युक्ति सोचना अनुकम्पा परिणाम है। एक मंदिर में प्रतिदिन नियमित रूप से समय पर स्वाध्याय होता था। एक दिन एक महिला को स्वाध्याय में पहुँचने में देर हो गयी। पण्डितजी ने पूछा - तुम्हें आने में देर क्यों हो गयी? महिला ने कहा – मेरे पति को क्षय रोग की बीमारी हो गयी है। मैं उनकी सेवा करने में लग गयी इसलिए देर हो गयी। उसके उत्तर को सुनकर पण्डितजी ने कहा – अरे, तुम्हारे पति को क्षय रोग हो गया है वह तो नियम से मरने वाला है, क्योंकि क्षय रोग हो जाने पर व्यक्ति अधिक समय तक जीवित नहीं रहता है। तुम क्यों स्वाध्याय छोड़कर उसकी सेवा में समय खराब करती हो? सम्यग्दृष्टि ऐसा करने और कहने की बात तो बहुत दूर रही वह कभी ऐसा विचार भी नहीं कर सकता है क्योंकि उसके अन्दर अनुकम्पा/दया का परिणाम होता है। जिसमें अपने घर वालों के प्रति भी दया नहीं है तो वह अन्य लोगों के ऊपर दया कैसे रख सकता है। सम्यग्दृष्टि को तो परिचित या अपरिचित कोई भी दु:खी नजर आता है तो वह उसमें दया परिणाम रखने वाला होता है।

अनुकम्पा में एक इन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों पर दया की जाती है। किसी जीव को दु:ख नहीं देना चाहिए। खरा (सच्चा) करुणा भाव मनुष्य पर्याय में होता है। तिर्यंचों में करुणा नहीं होती है वहाँ एक जीव दूसरे जीव को खाता है। नरक में करुणा कहाँ है? देवों में हिंसा का सम्बन्ध नहीं है इसलिए वहाँ जीवदया का प्रश्न नहीं उठता। यह स्मरण रखना कि ऋण, हत्या और वैर कभी नहीं छूटते इसलिए वैर-विरोध छोड़कर अनुकम्पा धारण करना चाहिए। **(चा.च.)**

उत्कृष्ट करुणा परिणाम केवली भगवान में पाया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा के उत्थान की ओर अग्रसर हो सकता है इसलिए सर्वप्रथम तो प्रत्येक प्राणी के प्रति दयाभाव होना चाहिए।

अनुकम्पाभास

जो अनुकम्पा रूप गुण न हो लेकिन अनुकम्पा जैसा लगता हो वह अनुकम्पाभास है अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना जो भी, जिसका भी दया परिणाम है वह अनुकम्पाभास है क्योंकि वह मोक्षमार्ग में सहयोगी नहीं है। एक दिन अब्राहम लिंकन अपने मित्रों के साथ टहलकर घर लौट रहे थे। उन्होंने देखा कि सामने से एक घोड़ा आ रहा है जिसकी पीठ पर जीन तो कसी थी लेकिन कोई सवार नहीं था। घोड़े को देखकर लिंकन ने सोचा कि इसका सवार अवश्य ही कहीं गिर पड़ा है। वह बेचारा कहीं बेसुध पड़ा होगा, उसे ढूँढना चाहिए। मित्रों ने कहा - होगा कोई शराबी इसलिए तो कहीं गिर गया होगा। अन्यथा घोड़े से कैसे गिर सकता है, आपको भी क्या शराबी को ढूँढने की पड़ी है। लिंकन ने कहा-क्या शराबी मनुष्य नहीं होता? हमें तो मनुष्य की सहायता करनी चाहिए चाहे वह कोई भी हो। मनुष्य को मनुष्य की सहायता करनी ही चाहिए। मनुष्य की बुराई दूर की जा सकती है। वह हमेशा पापी नहीं रहता है। मित्रों ने कहा - तुम अपनी मनुष्यता अपने पास रखो। हम पशु लोग तो ये चले। लिंकन के मित्र उन पर बिगड़कर चले गये किन्तु लिंकन अकेले ही उस घोड़े पर बैठकर सवार को ढूँढने लगे। 'परिश्रम का फल व्यर्थ नहीं जाता' इस कहावत के अनुसार रास्ते में एक भूखा गरीब पुरुष भूख के कारण बेहोश पड़ा था। लिंकन उसे घोड़े पर बैठाकर अपने घर ले गये। एक

गंदे गरीब मनुष्य को अपने घर में लाते देखकर उनकी बहिन बहुत नाराज हुई तब लिंकन ने कहा– बहिन ! मुझ पर मत बिगड़ो, यह भी मानव है, मानव की सेवा करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है और लिंकन ने उसे स्नान कराकर दूसरे कपड़े पहनाए और भोजन करवाकर उसको अपने घर भेज दिया। लिंकन में और भी अनेक प्रकार के गुण थे। उन विशिष्ट गुणों के कारण ही वे अमेरिका के राष्ट्रपति बने। वहाँ के लोग आज उनको पिता लिंकन कहकर श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं। उनके सभी गुण लौकिक दृष्टि से स्वर्ग को देने वाले थे। उन गुणों से उन्हें लौकिक सुख तो मिलेंगे लेकिन मोक्षमार्ग की अपेक्षा लौकिक सुखों का कोई महत्त्व नहीं है। यदि वे सच्चे देवादि की श्रद्धा वाले होंगे तो उनका वह अनुकम्पा गुण अनुकम्पाभास न होकर सम्यग्दर्शन का चिह्न होगा।

आस्तिक्य

मंदिर के ऊपर लगी हुई ध्वजा हवा के निमित्त से जिस दिशा में झुकती है उसी ओर से दण्डे में लिपट जाती है। कभी इधर से उधर, कभी उधर से इधर उड़ती रहती है। जब हवा बंद हो जाती है या कम हो जाती है तब ध्वजा सरल-सीधी हो जाती है तथा स्थिर हो जाती है। वैसे ही संसारी प्राणी जब बुरी वासना में पड़ता है तो बुराई की ओर जाकर चोर, चुगलखोर बनते हुए स्वयं ही कष्ट उठाता है, जब भलाई की ओर जाता है तो लौकिक सुख-शांति को प्राप्त करता है किन्तु जब इससे भी आगे बढ़ता है तो बाह्य वासना रूपी हवा बंद हो जाने पर सिर्फ परमात्मा के अनुभवन में तल्लीन होकर अपने मन को स्थिर बना लेता है। तो सदा के लिए निराकुल भी बन सकता है। इस प्रकार के सुविशद विचार ही आस्तिक्य भाव हैं। **(स.सा.श.)**

आप्त व्रत श्रुत तथा तत्त्व के विषय में चित्त का अस्तित्व गुण से युक्त होना, सम्यग्दृष्टि मनुष्य का आस्तिक्य नाम का गुण है।

आस्तिक्य नाम का गुण महान कठिन है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी में प्रगाढ़ श्रद्धा होना उसका स्वरूप है। प्रसंगवश आचार्य शान्तिसागरजी महाराज ने कहा - दशाध्याय सूत्र में द्वादशांग का सार भरा है। गणधर देव बारह सभा में उपस्थित जनता को धर्म बताते थे। कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है - जिसको भेद-विज्ञान है उसे सम्यक्त्वी जानना चाहिए। प्रत्येक शरीर में आत्मा पृथक् है। भाव मिथ्यात्व के कारण वह जीव-अजीव को एक मानता है। जड़ वस्तु आत्मा से भिन्न है। दोनों को एक बोलना मिथ्यात्व है। सम्यग्दृष्टि की परीक्षा आस्तिक्य गुण के द्वारा हो जाती है। प्रशम संवेग अनुकम्पा ये ३ गुण तो मिथ्यादृष्टि में भी दिखाई पड़ते हैं परन्तु आस्तिक्य गुण मिथ्यादृष्टि में नहीं पाया जाता है। **(आचार्य शान्तिसागरजी महाराज)**

आस्तिक्य गुण सम्यग्दृष्टि के पास होता है। आस्तिक्य गुण का अर्थ यह नहीं है कि मात्र अपने अस्तित्व को स्वीकार करना। इस दुनिया में जितने पदार्थ हैं उनको यथावत् उसी रूप में स्वीकार करना यह आस्तिक्य गुण है। जो दूसरे के भी जीवत्व को देखता है उसे आचार्यों ने आस्तिक्य कहा है। **(प्रवचनपारिजात)**

पुण्य-पाप, बंध, मोक्ष और जीवादि तत्त्वों का कथन जिन शास्त्रों में है वे सभी शास्त्र द्रव्यानुयोग के ही शास्त्र हैं। इन शास्त्रों के पठन-पाठन से विश्वास मजबूत होता है। आस्तिक्य भाव की प्राप्ति होती है। अत: जो व्यक्ति जोर देकर यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए मात्र अध्यात्म ग्रन्थों को ही पढ़ना चाहिए उन्हें अभी और अधिक गंभीरता से द्रव्यानुयोग के विषय में चिंतन करने की जरूरत है। **(आ.श्री)**

जीवादि पदार्थों को स्वीकार करने रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य गुण है। आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त्त है, ज्ञानदर्शनयुक्त है, चेतन है और ज्ञानादि गुण पर्यायों वाला है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप ज्ञान के साथ अजीव आदि तत्त्वों के सम्बन्ध को स्वीकार कर सप्त तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धान का नाम आस्तिक्य है। यह आस्तिक्य भाव स्वयं गम्य है। इसके रहते हुए जीव पर-पदार्थों के प्रलोभन से विचलित न होकर सम्यक्त्व में दृढ़ रहता है।

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक के जीव अपने द्वारा सम्यक् रीति से निर्णीत अपने में विद्यमान सम्यक्त्व से होने वाले प्रशमादि के द्वारा अपने सम्यक्त्व को जानते हैं तथा असंयत-संयतासंयत और प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले दूसरे जीवों के सम्यक्त्व को अपने में सम्यक्त्व से होने वाले प्रशमादि से जन्य वचन व्यवहार और काय व्यवहार के द्वारा अनुमान किये गये प्रशमादि के द्वारा जानते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के चिह्नों को जानकर दूसरे के सम्यग्दर्शन को देखने की कोशिश नहीं करना चाहिए, अपितु अपने में सम्यग्दर्शन की खोज करके सम्यक्त्व को निर्मल बनाना चाहिए।

८. सम्यग्दर्शन के आठ अंग

जिस प्रकार सेना से सहित राजा शत्रु को नष्ट करने में समर्थ होता है उसी प्रकार आठ अंगों से सहित सम्यग्दर्शन कर्म शत्रुओं को नाश करने में समर्थ होता है। एक-एक अंग की विशेषता को प्राप्तकर भव्य जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। फिर जो समस्त अंगों की विशेषता सहित हों वे क्या मुक्त नहीं होंगे? अवश्य होंगे। सम्यग्दर्शन के अष्टांगों का पालन करना उतना ही आवश्यक है जितना वृक्ष का अस्तित्व कायम रखने के लिए वृक्ष की शाखाओं का होना एवं शरीर का अस्तित्व कायम रखने के लिए शरीर के अवयवों का होना। अष्टाङ्गों के बिना सम्यग्दर्शन का पालन यथार्थ रूप से नहीं हो सकता है।

जैसे दृष्टि अर्थात् आँखों से हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता है। वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन से हीन पुरुष को कभी भी मुक्तिलाभ नहीं हो सकता। जैसे राज्य के अंग मंत्री, सेनापति आदि के बिना राज्य समृद्धशाली नहीं हो सकता वैसे ही नि:शंकित आदि अंगों के बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आभ्यन्तर और बाह्य विभूति को नहीं दे सकता इसलिए प्राणी को चाहिए कि सम्यग्दर्शन के अंगों को प्राप्त करके नि:संग-निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जाने की कामना करे। **(य.ति.च. २२२-२३)** आठ अंगों में से किसी भी अंग से हीन सम्यग्दर्शन संसार की परम्परा को छेदने में समर्थ नहीं है। जैसे कि एक अक्षर से भी न्यून मंत्र विष की वेदना को नष्ट करने के लिए समर्थ नहीं होता है। **(र.क.श्रा. २१)**

सम्यग्दर्शन के बिना पाप से डरना नहीं होता है। संसार से भीति सम्यग्दर्शन का अनन्य अंग है। **(आ.श्री)** समस्त सुखों की जड़ सम्यग्दर्शन है जो अष्टांग सहित इसका पालन करता है वह नाना प्रकार की गतियों के भ्रमण से छुटकारा पा लेता है।

सम्यक्त्व का अष्टांग सहित पालन करना ही कल्याणकारी हो सकता है। जैसे - अष्टांग के बिना शरीर अपूर्ण है उसी प्रकार अष्टांग के बिना सम्यग्दर्शन भी अपूर्ण है। अंगहीन सम्यग्दर्शन पाप रूपी मल को दूर नहीं कर सकता है।

सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के लिए नि:शंकितादि गुणों का सद्भाव आवश्यक है। छिद्रयुक्त पात्र में रखा गया क्षीर जैसे जमीन पर गिर जाता है उसी प्रकार शंकादि आठ दोष रूप छिद्र सहित हृदय में सम्यग्दर्शन रूप अमृत नहीं टिक पाता है।

सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेने पर जीव के जिस प्रकार शरीर में आठ अंग होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के भी आठ अंग प्रगट होते हैं। जिस प्रकार शरीर में एक अंग भी खराब हो जाता है तो वह विकलांग कहलाता है वह अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर सकता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन में भी यदि एक अंग कम हो जाता है तो वह सम्यग्दर्शन विकल कहलाता है। वह मोक्षप्राप्ति में अपना कार्य करने में सक्षम नहीं होता है। सम्यग्दर्शन के भी आठ अंग हैं। अपने शरीर के भी आठ अंग हैं - १. दाहिना पैर २. बायाँ पैर ३. बायाँ हाथ ४. दाहिना हाथ ५. उदर (पेट) ६. रीढ़ की हड्डी ७. हृदय ८. मस्तिष्क।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग : १. नि:शंकित २. नि:कांक्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढ़ दृष्टि ५. उपगूहन ६. स्थितीकरण ७. वात्सल्य ८. प्रभावना

शरीर के आठ अंगों एवं सम्यक्त्व के आठ अंगों का तुलनात्मक अध्ययन

शरीर में स्थित दाहिना पैर नि:शंकित अंग का प्रतीक है क्योंकि जब हम कहीं जाने के लिए तैयार होते हैं तो शंका से रहित हमारा दायाँ पैर सबसे पहले आगे बढ़ जाता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी जिनेन्द्र भगवान की वाणी में शंका नहीं करता है। शरीर का बायाँ पैर नि:कांक्षित अंग का प्रतीक है क्योंकि दायें पैर के आगे बढ़ जाने पर बायाँ पैर सहज रूप से बिना किसी आकांक्षा के उसके पीछे चल देता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को किसी भी धार्मिक कार्य को करके कोई लौकिक आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती है। वह जानता है कि लौकिक भोग सामग्रियाँ तो फसल के साथ भूसे के समान अपने आप मिलती हैं उसे माँगने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात, ये सभी सामग्रियाँ क्षणभंगुर हैं। इनका भोग करने से कभी संतुष्टि नहीं हो सकती है। इसलिए वह लौकिक आकांक्षा नहीं करता है।

शरीर में स्थित बायाँ हाथ निर्विचिकित्सा अंग का प्रतीक है। जिस प्रकार शरीर से निकलने वाला कोई भी मल-मूत्र या अपवित्र ग्लानिप्रद पदार्थ हो उसको साफ करते समय बायें हाथ का प्रयोग/उपयोग किया जाता है। बायें हाथ को गंदगी साफ करते समय जुगुप्सा/ग्लानि उत्पन्न नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को भी निर्विचिकित्सा अंग होने से मुनिराज के रोगी या ग्लानिप्रद शरीर को देखकर ग्लानि उत्पन्न नहीं होती है।

शरीर में स्थित दाहिना हाथ अमूढ़दृष्टि अंग का प्रतीक है। जिस प्रकार कभी किसी वस्तु का बँटवारा करना हो तो उस समय दाहिने हाथ का उपयोग किया जाता है। लोक में दाहिने हाथ को जिसके हिस्से में जितना आ रहा है उतना ही देने वाला माना जाता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के भी अमूढ़दृष्टि अंग होने के कारण वह तत्त्व-अतत्त्व में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में हेय-उपादेय में देव-कुदेव में, शास्त्र-कुशास्त्र आदि में सही-सही बँटवारा करके ग्रहण करता है।

अथवा खोटे कार्यों से बचने के लिए मनुष्य की पीठ सहायक होती है अर्थात् खोटे कार्यों की ओर पीठ देने से मनुष्य पाप से बच जाता है, इसीलिए खोटे कार्यों से मानसिक, वाचनिक और शारीरिक असहयोग कराने वाले अमूढ़दृष्टि अंग के लिए पीठ की उपमा दी जाती है।

शरीर में स्थित पेट उपगूहन अंग का प्रतीक है। जिस प्रकार पेट में गया हुआ अर्थात् गले उतरने के बाद कोई भी पदार्थ जैसा गया था वैसा वापिस नहीं दिख सकता है। वह अंदर ही अंदर पच जाता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के भी उपगूहन अंग होने से वह किसी के दोषों को देखकर कभी भी किसी के सामने प्रगट नहीं करता है। इसका दूसरा नाम उपवृंहण अंग भी है। जिस प्रकार पेट में गये अन्न आदि पदार्थ पचकर शरीर को शक्ति देने वाले होते हैं; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के भी (दूसरे की निंदा नहीं करने रूप) इस गुण के कारण अपनी आत्मा के अनन्त गुणों की वृद्धि होती है।

अथवा जिस प्रकार मनुष्य अपने नितम्ब को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करता है, उसे प्रकट नहीं करता, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव किसी के दोषों को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करता है, उसे वह प्रकट नहीं करता इसलिए उपगूहन अंग के लिये नितम्ब की उपमा दी जाती है।

शरीर में स्थित रीढ़ की हड्डी स्थितीकरण अंग का प्रतीक है। जिस प्रकार रीढ़ की हड्डी पर ही पूरा शरीर स्थित रहता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की स्थिति इस स्थितीकरण अंग पर स्थिर रहती है। इस अंग वाला स्वयं को एवं दूसरे को भी सम्यग्दर्शन व्रत, नियम, संयम में स्थिर रखता है। जिस प्रकार शरीर के किसी अंग में तकलीफ होने पर रीढ़ की हड्डी पर इलाज करने से काफी लाभ होता है उसी प्रकार व्रत आदि किसी भी धार्मिक अनुष्ठान से च्युत होने पर नियम पालन करने और श्रद्धा को बनाये रखने के योग्य द्रव्य क्षेत्र काल, भाव, धन, सम्पत्ति तथा आत्मीयता आदि औषधि से ठीक किया जाता है। शरीर के किसी अंग पर कोई आपत्ति आती है तो उसके निवारणार्थ मनुष्य का दाहिना हाथ सबसे पहले उस अंग की सहायता करता है; इसलिए स्थितिकरण अंग को भी दाहिने हाथ की उपमा दी जाती है।

शरीर में स्थित हृदय वात्सल्य अंग का प्रतीक है। जिस प्रकार कभी अपने रिश्तेदार पुत्र पौत्रादि मिलने पर हृदय से मिला जाता है अर्थात् हृदय से लगाया जाता है। उसी प्रकार साधर्मी को देखकर हृदय में प्रेम की धारा बहती है। हृदय गद्गद हो जाता है। यही साधर्मी वात्सल्य रूप वात्सल्य अंग है। इसमें साधर्मी चाहे जान-पहिचान का हो या अनजान। सम्यग्दृष्टि के हृदय में उसके प्रति नि:स्वार्थ प्रेम उत्पन्न होता है।

शरीर में स्थित मस्तिष्क प्रभावना अंग का प्रतीक है। जिस प्रकार कुछ विशेष काम करने पर या अपनी संतान की विशेष प्रतिभा प्रकट होने पर व्यक्ति मस्तिष्क ऊँचा करके चलता है, उसी प्रकार धर्म का प्रचार प्रसार होने पर धर्म की उन्नति, गुरुवरों की प्रतिष्ठा आदि को देखकर सम्यग्दृष्टि को गौरव की अनुभूति होती है। वह स्वाभिमान से मस्तिष्क को ऊँचा करके चलता है।

आठ अंगों के लक्षण

१. नि:शंकित अंग : क्या जीव दया धर्म है या यज्ञादि में जीवों का वध करना धर्म है? दिगम्बर बनने से मुक्ति होती है या पंचाग्नि आदि तप करने वाले साधु बनने से? केवली भगवान कवलाहार करते हैं या नहीं? स्त्रियों को मोक्ष होता है या नहीं? आदि रूप शंका उत्पन्न नहीं होना नि:शंकित अंग है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित मत भी एक मत है और अन्य मतावलम्बियों के द्वारा कहे गये भी मत हैं। अन्य मतों में कही गई सभी बातें बिल्कुल ही मिथ्या हों और जैनमत में कही गयी सभी बातें पूरी सही हों, यह नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार के विचारों का नाम शंका है। सम्यग्दृष्टि के अंतरंग में इस प्रकार के विचार उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि वह जानता है कि जैनमत जिनेन्द्र सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया है, वह कभी झूठा नहीं हो सकता है। जिनेन्द्र भगवान में सर्वज्ञता होने से अज्ञान नहीं

है और वीतरागता होने से राग-द्वेष तथा क्रोधादि कषायें नहीं होती हैं इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार का श्रद्धान रखना नि:शंकित अंग है।

यदि कोई अन्य मतावलम्बी भी कहे कि हमारे वेद पुराण महाभारत में जो लिखा है वह कभी असत्य नहीं हो सकता। इस प्रकार हमारा निश्चल श्रद्धान है तो हमें सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होगा, क्योंकि हमें भी अपने धर्म के प्रति स्वप्न में भी शंका उत्पन्न नहीं होती है। ऐसा नि:शंक व्यक्ति भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता क्योंकि उसकी तो मूल में ही भूल है। उसने अज्ञानी को भी ज्ञानी मान लिया, स्वार्थी को भी नि:स्वार्थी मान लिया, सरागी को भी वीतरागी मान लिया इसलिए यह नि:शंकित अंग होने की बात तो बहुत दूर नि:शंकिताभास भी नहीं हो सकता, क्योंकि नि:शंकिताभास भी तब होगा जब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर ही श्रद्धा होगी लेकिन अंतरंग में सम्यग्दर्शन का अभाव होने से वह नि:शंक नहीं होते हुए भी नि:शंक जैसा दिखेगा।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा जो अनेकान्तात्मक वस्तु समूह कहा गया है वह अन्यथा नहीं है। ऐसा मानने वाला मनुष्य नि:शंकित अंग सहित होता है। जिनेन्द्र ही देव हैं और उन्हीं के द्वारा प्ररूपित तत्त्व, तत्त्व है ऐसा जिसके निश्चय होता है वह नि:शंकित अंग के धारकों में शिरोमणि है। सूक्ष्म तत्त्वों में, धर्म में, जिनेन्द्र देव में, सद्गुरु में और शुभ ज्ञान में जो शंका छोड़ी जाती है वह नि:शंकित अंग माना गया है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

संदेह का नहीं होना नि:शंकित गुण है। जिन भगवान के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व बहुत गहन है, युक्तियों से उसका खण्डन नहीं किया जा सकता है। ऐसा जानकर और मानकर जिनदेव, जिनशास्त्र, जिनधर्म और जैन तत्त्वों में श्रद्धा रुचि प्रतीति होनी चाहिए क्योंकि मनुष्य राग-द्वेष अथवा अज्ञान से असत्य बोलता है। वीतराग और सर्वज्ञ में ये दोष नहीं होते। अत: उनके द्वारा कहे हुए तत्त्वों में और मोक्ष के मार्ग में संदेह नहीं करना चाहिए और नि:संदेह होकर प्रवृत्ति करने में ही कल्याण है। दया भाव ही धर्म है, हिंसा भाव को धर्म नहीं कहते। इस प्रकार निश्चय करके संदेह का न होना ही निर्मल नि:शंकित गुण है।

अनेकान्तात्मक स्वरूप धर्म में शंका न करने को नि:शंकित अंग कहते हैं। **(पु.सि. २३)**

सीताजी के हरण के प्रसंग में जब रावण का श्रीराम के साथ युद्ध हुआ तब विभीषण ने विचार किया कि श्री रामचन्द्रजी जो आठवें बलभद्र हैं और लक्ष्मणजी आठवें नारायण हैं तथा रावण आठवाँ प्रतिनारायण है। जो प्रतिनारायण होता है उसका नारायण के हाथ से मरण होता है ऐसा जैन शास्त्रों में कहा गया है सो वह कभी झूठा नहीं हो सकता है। इस प्रकार शंका रहित होकर वह तीन लोक के कंटक रूप अपने बड़े भाई रावण को छोड़कर तीस अक्षौहिणी प्रमाण अपनी सेना सहित श्रीराम के समीप चला गया। इसी प्रकार देवकी तथा वसुदेव को भी शंका रहित जानना चाहिए। वह इस तरह कि जब कंस ने देवकी के बालक को मारने के लिए प्रार्थना की तब देवकी और वसुदेव ने विचार किया कि मेरा पुत्र नवम नारायण होगा और उसके हाथ से जरासंध नामक नवम प्रतिनारायण और कंस का मरण होगा ऐसा

जैन शास्त्र में (गुरु के मुख से) कहा गया है। इस प्रकार निश्चय करके कंस को अपना बालक देना स्वीकार किया। जिस प्रकार इन सबने शंका रहित होकर कार्य किया उसी तरह सभी भव्यों को भी जिनेन्द्र देव के वचनों में शंका नहीं करना चाहिए। **(वृ.द्र.सं. ४१ टी.)**

अन्यथा शरणं नास्ति

राजा धर्मघोष सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और धर्म को छोड़कर किसी भी अन्य देवी-देवताओं या गुरु को नमस्कार नहीं करता था। किसी देव ने राजा की परीक्षा करने के लिए नगर के बाहर एक नागमंदिर की रचना करके उसमें नागदेव की प्रतिमा स्थापित कर दी और नगर में यह प्रसिद्धि करवा दी कि इन नागदेवता की पूजा करने से सबकी मनोकामना पूर्ण होती है। नगरवासियों के बड़े-बड़े समुदाय नागमंदिर में पूजा-भक्ति करने को जाने लगे। मंत्री आदि ने राजा से भी पूजा-भक्ति करने के लिए चलने का आग्रह किया। राजा ने कहा- मैं वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को ही नमस्कार करता हूँ। रागी-द्वेषी नामधारी देव की पूजा करने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। अत: मैं उन्हें प्रणाम नहीं करूँगा। राजा के इस प्रकार कहने पर राजसभा में एक सर्प ऊँचा फण उठाये फुफकारते हुए राजा की तरफ दौड़ा। यह दृश्य देखकर राजा ने सर्प से कहा - हे सर्पराज! तुम्हें यदि मुझे डसना है तो डस सकते हो, सबको भयभीत क्यों कर रहे हो? सभी लोगों ने राजा को समझाया कि आप नागदेवता को नमस्कार कर लीजिए अन्यथा सम्पूर्ण राज्य का अनिष्ट हो सकता है किन्तु राजा ने किसी की एक न सुनी। उसी समय समाचार मिला कि रानी व राजकुमार को विषधर (सर्प) ने डस लिया। यह सुनकर राजा ने कहा - यदि उनकी आयु समाप्त हो चुकी है तो कोई बचा नहीं सकता और यदि आयु शेष है तो दुनिया की कोई शक्ति मार नहीं सकती है। कुछ देर बाद राजा को भी साँप ने काट लिया फिर भी राजा अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा। राजा की दृढ़ता/नि:शंकितता देखकर देव ने साक्षात् प्रगट होकर अपनी दुष्टता के लिए राजा से क्षमायाचना की।

सम्यग्दृष्टि कभी किसी के बहकावे में नहीं आता है। उसका श्रद्धान तो तलवार की धार पर चढ़े हुए पानी के सामन अडिग रहता है।

इस लोक में जीव को केवल परमात्मा की भक्ति ही शरण है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए उसी परमात्मा की आराधना करनी चाहिए दूसरे की नहीं। उसी परमात्मा के द्वारा कहा गया धर्म मोक्षदाता है दूसरा नहीं। इस प्रकार सन्मार्ग पर निश्चल श्रद्धा करने वाले अंजनचोर का स्मरण करते हुए मुमुक्षु को भय और संशय को छोड़कर नि:शंक होना चाहिए।

सात भयों को छोड़कर घोर उपसर्ग तथा परीषहों के आ जाने पर भी शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना को नि:शंकित गुण जानना चाहिए। **(वृ.द्र.सं. ४१)**

नि:कांक्षित अंग

इस लोक और परलोक सम्बन्धी आशा रूप भोगाकांक्षा निदान का त्याग कर केवलज्ञान आदि अनन्त गुण की प्रगटता रूप मोक्ष के लिए ज्ञान, पूजा, तपश्चरण आदि अनुष्ठानों को करना भी नि:कांक्षित अंग/गुण है।

सांसारिक आकांक्षाओं, इच्छाओं, अभिलाषाओं से दूर रहकर अपने जीवन को संयम की विशुद्धि से सजाकर अपने कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ रहना। अपने धर्म की आराधना में लगे रहना नि:कांक्षित अंग है।

जो सांसारिक सुखों के बदले में सम्यक्त्व को बेच देता है, वह छाछ के बदले में माणिक को बेच देने वाले मनुष्य के समान केवल अपने को ठगता है।

भोग ही सुख देने वाले हैं ऐसा सोचकर उनके पीछे पड़े रहना कांक्षा है। इस लोक और परलोक में इन्द्रिय सम्बन्धी विषयभोगों की इच्छा न करना अथवा मिथ्या आचार (कुधर्म) की चाह नहीं करना नि:कांक्षित अंग है।

तपश्चरण के फल में पुत्र, स्त्री आदि सुखों में तथा परलोक में इन्द्र, अहमिन्द्र आदि पदों की, भोगों की आकांक्षा नहीं करना। कुगुरु, कुधर्म आदि की इच्छा नहीं करना, शत्रुओं को जीतने की इच्छा नहीं करना नि:कांक्षित अंग है। दुर्धर तप के द्वारा मोक्ष की इच्छा करता हुआ जो प्राणी स्वर्ग सुख के लिए धर्म का आचरण नहीं करता उसके नि:कांक्षित गुण होता है।

निश्चय नय से रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न हुए सच्चे आत्मिक सुख रूपी अमृत से चित्त का संतृप्त होना ही नि:कांक्षित अंग गुण है।

जो कठिन तपस्या और दान को करते हुए मन, वचन, काय से स्वर्ग सम्बन्धी सुख की इच्छा नहीं करता है वह नि:कांक्षित अंग धारकों में प्रमुख है। कर्मबंध के कारणभूत संसार, शरीर और भोगादि के सुख में मन वचन काय से जो इच्छा नहीं है वह विद्वानों के द्वारा नि:कांक्षा कही जाती है। सौभाग्य, श्रेष्ठ भोग, स्वर्ग तथा राज्यादिक सम्पदा में ज्ञानी पुरुषों के द्वारा जो इच्छा छोड़ी जाती है वह नि:कांक्षित है। जो अज्ञानी धर्म करके उसके फलस्वरूप अपने लिए भोगों की इच्छा करता है, वह स्वर्ग-मोक्ष के दायक रत्न को देकर काच को ग्रहण करता है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

इस अंग में अनन्तमतीजी, सीताजी आदि अनेक सतियों की कथा प्रसिद्ध है। उनमें से सीताजी की कथा इस प्रकार है - जब लोक के अपवाद को दूर करने के लिए सीताजी अग्निकुण्ड में प्रविष्ट होकर निर्दोष सिद्ध हुई तब श्री रामचन्द्र ने उनको पटरानी पद दिया परन्तु सीताजी ने पटरानी की सम्पदा को छोड़कर केवलज्ञानी श्री सकलभूषण मुनिवर के चरणारविन्द में कृतान्तवक्त्र आदि राजाओं तथा बहुत सी रानियों सहित श्री जिनदीक्षा को ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिकाओं के समूह सहित ग्राम-पुर आदि में विहार कर भेदाभेद रत्नत्रय की भावना से ६२ वर्ष पर्यन्त जैनधर्म की प्रभावना की। अंत में ३३ दिन संन्यास धारण कर समाधिपूर्वक मरण करके १६वें स्वर्ग में अहमिन्द्र हुई। नि:कांक्षित गुण की सहायता से देखे सुने अनुभव किये हुए पाँचों इन्द्रियों के विषयों में चित्त नहीं ललचता है। **(वृ.द्र.सं.)**

एक बार मोतीलालजी वर्णी और चिरौंजाबाई सोनागिरि की वंदना को गये। वहाँ चिरौंजाबाई की सास और ननद भी आ गई। सबने पूजा-पाठ वन्दना आदि में दो दिन अच्छे से बिताये। तीसरे दिन

वन्दना कर वापिस लौटने का विचार था। उसी दिन चिरौंजाबाई के गाँव सेमरा से उनका एक परिचित आया। उसने कहा - माताजी, आपके घर में चोरी हो गई है। चोर घर में कई जगह खुदाई कर गये हैं। पुलिस दरोगा ने आपको बुलावाया है जिससे जाँच पड़ताल कर सके। इस खबर को सुन उसकी सास और ननद रोने लगीं। वर्णीजी भी उदास हो गये। चिरौंजाबाई पर इसका अलग प्रभाव पड़ा। वे बोली– ठीक है, जो कुछ ले गये, सो ले गये, मुझे उसकी चिन्ता नहीं है। मैं अभी वहाँ नहीं जाऊँगी, पाँच दिन और सोनागिरि में रहूँगी जिससे धन के प्रति जो मोह है वह कम हो जाये। सब लोगों के आग्रह करने पर भी वह नहीं गई। पाँच दिन तक सोनागिरि में वन्दना की। लौटते समय उसने कहा - मैंने परिग्रह का परिणाम कर लिया है। चोरी के बाद जितना भी बचा होगा उतनी मेरे परिग्रह के परिमाण की सीमा होगी। उनकी उत्कृष्ट तटस्थता से वर्णीजी बड़े प्रभावित हुए। जब वे अपने घर वापिस पहुँची तो सारा सामान बिखरा पड़ा था। कई जगह गड्ढे खुदे थे। पर उनका धन सारा सुरक्षित था। जहाँ धन था वहाँ खोदा ही नहीं गया था। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव लौकिक भोग सामग्रियों से निराकांक्ष रहता है।

निर्विचिकित्सा अंग

रत्नत्रय के आराधक भव्य जीवों के दुर्गन्धित और घृणित शरीर को देखकर धर्मबुद्धि अथवा दया भाव से घृणा न करना निर्विचिकित्सा गुण है अथवा जैनधर्म में और सब तो ठीक है किन्तु साधुगणों का नग्न रहना और स्नान आदि न करना ठीक नहीं है। इस प्रकार के कुत्सित विचारों को विवेक के द्वारा रोकना निर्विचिकित्सा गुण है। व्यवहारिक निर्विचिकित्सा गुण के द्वारा द्वेष आदि समस्त विकल्पों को त्यागकर निर्मल स्वानुभूति रूप शुद्धात्मा में अपने को स्थिर रखना/करना निश्चय निर्विचिकित्सा गुण है।

रत्नत्रय से सहित किन्तु स्वभाव से अशुचि शरीर में गुणप्रीति के कारण जो ग्लानि का नहीं करना है वह सत्पुरुषों की निर्विचिकित्सा है। रत्नत्रय से पवित्र किन्तु सर्वांग में मल से लिप्त तथा रोगादि से पीड़ित मुनि में जो घृणा नहीं की जाती है उसे निर्विचिकित्सा जानना चाहिए। यदि परीषह न हो तो जिनमार्ग में सब अच्छा है। इस प्रकार जो संकल्प के त्याग रूप भाव है, वह पूर्ण निर्विचिकित्सा जानने योग्य है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

भव्य जीवों की दुर्गन्धित और भयंकर आकृति आदि को देखकर धर्मबुद्धि से अपना करुणा भाव से योग्ययोग्य ग्लानिभाव को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सागुण है और जैन मत में सब अच्छी-अच्छी बाते हैं परन्तु नग्नपना और जल से स्नान न करना ये दूषण हैं इत्यादि प्रकार के भाव करना सो ऐसे भावों को विशेष ज्ञान के बल से दूर करना सो भाव निर्विचिकित्सा कहलाती है।

विचिकित्सा दो प्रकार की होती है –

द्रव्यविचिकित्सा : साधुओं के मल-मूत्र, कफ, नाक का मल, चर्म, हड्डी, पीव, मांस, खून, वमन पसीना तथा धूलि से युक्त तन को देखकर ग्लानि होना द्रव्य विचिकित्सा है अथवा व्याधि से पीड़ित

मल, मूत्र, वमन, कफ, लार, थूक आदि से ये दुर्गन्धित हैं, खराब हैं ऐसा सोचकर घृणा करता है। उन मुनि की वैय्यावृत्ति नहीं करता है, वह द्रव्य विचिकित्सा है।

भाव विचिकित्सा : जैन मत में और तो सभी सुंदर है किन्तु जो भूख-प्यास, केशलोंच आदि से दु:ख होता है वह बुरा है, ठीक नहीं है, ऐसा सोचना भाव विचिकित्सा है।

इन दोनों प्रकार की विचिकित्सा का नहीं होना निर्विचिकित्सा अंग है।

यह शरीर स्वभाव से जड़ है, सात धातुओं से निर्मित है, अपवित्र है। यह जल से धोने पर और तेल आदि से संस्कार करने पर भी कभी सौन्दर्य को प्राप्त नहीं होता है। पूर्व भव के संचित कर्म के विपाक में उत्पन्न हुए भयंकर कोढ आदि रोगों से व्याप्त भी निर्मल चारित्र धारक मनुष्यों का शरीर सुन्दर ही माना जाता है किन्तु जो दुराचार में तत्पर है उनका स्नानादि करके शृंगार हार पूज्य पुष्प आभूषणादि से भूषित भी शरीर प्रशंसनीय नहीं माना जाता है। ऐसा समझकर जैन साधुओं के रोग से पीड़ित शरीर को देखकर उत्तम सज्जन भाग्य पुरुष यथोचित चिकित्सा करते हैं। जो मनुष्य इस प्रकार से गुणानुरागी होकर ग्लानि रहित होते हैं उनके ही मनोगृह में सम्यक्त्व रत्न स्थिर रहता है।

उत्कृष्ण धर्म को धारण करते हुए मुझे पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न हुए विघ्न निरंतर पीड़ित करते हैं। सो इसका कारण कुछ धर्म नहीं है किन्तु वह पूर्वोपार्जित कर्म ही है। धर्म तो बोये हुए बीज के समान उत्तम फल को देने वाला है। इस प्रकार जो हृदय में विचार किया करता है वह आगम, धर्म और देव के विषय में विचिकित्सा/घृणाभाव से रहित होता है। यह निर्विचिकित्सा का स्वरूप अन्य प्रकार से कहा गया है। **(ध. रत्ना.)**

विचारों में कोमलता, व्यवहार में नम्रता और क्रिया में सरलता रखने वाला ही सेवा वैयावृत्ति कर सकता है। निर्विचिकित्सा अंग को धारण करता है।

अमूढ़दृष्टि अंग

संसार में प्रचलित अनेक मिथ्यामार्गों को जो सच्चे जैसे लगते हैं, परीक्षा रूपी चक्षु के द्वारा मुक्तिशून्य जानकर उनके विषय में मोह नहीं करना अर्थात् मिथ्या तत्त्वों के भ्रम में पड़ना अमूढ़दृष्टि गुण है। विवेक बुद्धि होना, मिथ्यामार्ग एवं उसको धारण करने वाले की प्रशंसा नहीं करना और न उसे उपादेय मानना अमूढ़दृष्टि अंग है। अमूढ़दृष्टि अंग वाला श्रद्धालु तो होता है किन्तु अंध श्रद्धालु नहीं। अन्ध श्रद्धा का त्याग ही अमूढ़दृष्टित्व है।

मिथ्यामार्ग और मिथ्यादृष्टि पुरुष में जो कभी भी प्रीति तथा स्तुति नहीं की जाती है वह अमूढ़दृष्टिता है। आश्चर्य चमत्कार करने वाले देवताभास और शास्त्राभास की मन, वचन, काय से संगति नहीं करना अमूढ़दृष्टिता मानी गई है। धर्म, देव, गुरु, पुण्य, दान तथा शास्त्र के विषय में चतुर मनुष्यों के द्वारा जो विचार किया जाता है वह अमूढ़दृष्टि गुण है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

भय, लज्जा अथवा लालच के वशीभूत होकर जो हिंसामूलक आरम्भ को धर्म नहीं मानता उस जिन वचन में लीन पुरुष के अमूढ़ादि भंग होता है। जो सम्यग्दृष्टि पुरुष मिथ्यादृष्टियों के द्वारा रचित और अज्ञानी मनुष्यों के चित्त में चमत्कार को उत्पन्न करने वाले मणि-मंत्र-तंत्र कहा जाता है और उसी व्यवहार से अमूढ़दृष्टि अंग का पालक कहा जाता है और उसी व्यवहार अमूढ़दृष्टि अंग के प्रसाद से अंतस्तत्त्व और बाह्य तत्त्वों का निश्चय होने पर समस्त मिथ्यात्व राग वगैरह आदि को देखकर या सुनकर उनमें धर्म बुद्धि से रुचि नहीं रखता वह व्यवहार से अमूढ़दृष्टि अंग का पालक में और शुभ तथा अशुभ संकल्प-विकल्पों में ममत्व को त्यागकर विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध दर्शन स्वभाव वाले अपने आत्मा में स्थिर होना निश्चय अमूढ़दृष्टि अंग है।

धर्म और आचरण के नाम पर आडम्बर संसार की मूढ़ताओं के प्रति सजग रहकर सदैव उनसे बचे रहने का नाम अमूढ़दृष्टि अंग है।

उपगूहन अंग

शुद्ध जिनमार्ग में बालक और वृद्धादि अशक्तजनों से आई निन्द्यता का जो आच्छादन किया जाता है वह उपगूहन कहलाता है। धर्म-कर्म में प्रीति रखने वाले मनुष्य को दैववश कदाचित कोई दोष प्राप्त होता है तो उसकी निन्दा छिपाने को आर्य पुरुष उपगूहन करते हैं। समानधर्मी तथा मुनियों के दोष देखकर विवेकीजनों के द्वारा जो उसका आच्छादन किया जाता है वह उपगूहन अंग है। सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का यह महान गुण है कि उसमें किये हुए दोष को भी प्रयत्नपूर्वक छिपाया जाता है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

संयमी महापुरुषों में दैववश किसी दोष के हो जाने पर भी उसे प्रकाशित नहीं करना सो उपगूहन अंग कहा गया है। मनुष्यों के गूंगापना अच्छा है किन्तु अन्य के दोष कथन में कुशलता होना अच्छा नहीं है, क्योंकि किसी के प्राणों के प्राणघात करने की अपेक्षा उसके यश का घात करना भारी पाप है। अपने गुणों तथा दूसरों के दोषों को कहने वाले मनुष्य के महापाप का संचय होता है किन्तु दूसरों के गुणों की प्रशंसा करनेवाले और अपने दोषों की निन्दा करने वाले मनुष्य के महान धर्म प्रकट होता है। जो निन्दा के योग्य नहीं है ऐसे उत्तम पुरुषों की निन्दा करते हैं उनकी तो दुर्गति के सिवाय दूसरी गति ही नहीं है, ऐसा जानकर पुण्यशाली जनों के सज्जनों के दोषों का उपगूहन करना चाहिए और अपने धर्म का उपगूहन करना चाहिए। वही उपगूहन अंग का धारक है।

जैसे घूंघट चेहरे के दाग को ढक देता है, वैसे ही साधर्मी के द्वारा किये गये दोषों के धर्मनिन्दा के भय से ढक देता है वह उपगूहन अंग का धारी है।

उत्तम गुण आदि भावनाओं के द्वारा अपने और चतुर्विध संघ के धर्म को बढ़ाना तथा चतुर्विध संघ के दोषों को दूर करना उपवृहण अथवा उपगूहन गुण है।

आचार्य शांतिसागरजी महाराज के उपगूहन अंग के पालन करने के विषय में आचार्य देशभूषणजी महाराज ने कहा है - चारित्र चक्रवर्ती पूज्य महाराज किसी साधु के दोषों की चर्चा चलने पर लोगों के

समक्ष चुप रहते थे, शान्त रहते थे। एकांत स्थान में वे सदोष साधु को खूब दण्ड देते थे। लोगों के द्वारा की गई चुगली पर वे विश्वास न करके स्वयं पैनी दृष्टि डालकर दूसरे की मानसिक अवस्था का अनुमान कर लिया करते थे। उनके आत्म तेज के कारण अपराधी स्वयं भी अपराध को स्वीकार कर लेता था।

अनेक विपुल कर्म के उदय रूपी कारण को पाकर साधु में उत्पन्न हुए दोषों को सम्यग्दृष्टि नहीं देखता है यह महाश्चर्य है। आत्मसिद्धि की इच्छा करने वाले महाबुद्धिमान महापुरुष दूसरे के विद्यमान महादोषों को कभी भी प्रगट नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि उनके पास जब अपराधी व्यक्ति अथवा दोष कहते हैं तब वे गुरु/आचार्य उसको अपने हृदय में रखते हैं किसी से नहीं कहते। यदि कहेंगे तो जैनधर्म की निन्दा होगी और बड़ी अप्रभावना होगी अत: वह उपगूहन अंग के धारक उस अपराधी को योग्य प्रायश्चित्त देकर उसके व्रतों की शुद्धि करते हैं। इस तरह सम्यग्दर्शन के उपगूहन अथवा उपवृंहण अंग का पालन करते हैं।

जो यतियों के दोष ग्रहण में तत्पर होते हैं वे संसार समुद्र में डूबते हैं। योग्य ही है कि कालकूट विष के भक्षण करने से मृत्यु प्राप्त होती है इसमें क्या आश्चर्य है। जो यतियों के दोषों को ग्रहण करने में तत्पर रहते हैं उनके विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों को जग में फैलाते हैं वे दोष भावना से तीव्र और बहुत पाप संग्रह करके सम्पूर्ण नरक भूमियों में उत्पन्न होकर वहाँ सैंकड़ों दु:खों का अनुभव करते हैं तथा पुन: वे निगोद में जाते हैं। **(सि.सा.सं. १/८४-८५)**

सम्यग्दृष्टि अपने दोषों को नहीं छिपाता। आचार्य अमोघवर्ष ने प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में कहा है– ''आमरणात्किं शल्यं प्रच्छन्नं यकृतमकार्यम्'' छुपकर के किये गये अकार्य अर्थात् पाप की शल्य मरणपर्यन्त बनी रहती है। इसलिए सम्यग्दृष्टि कोई दोष हो जाने पर गुरु के सामने प्रगट करके प्रायश्चित्त व्रत ग्रहण कर लेता है।

उत्तम क्षमादिक दश प्रकार के गुणों से प्रतिदिन धर्म को बढ़ाने वाला तथा अभिमान के वश होकर यदि किन्हीं व्रतीजनों के कोई पाप उत्पन्न हुआ है तो उसे ढकने वाला भव्य जीव जैसे माता पुत्र के सद्गुणों को बढ़ाती है। वैसे अपने और अन्य साधर्मियों के गुणों को बढ़ाता हुआ व्रती जनों के दोषों को इस प्रकार से ढकता है जिस प्रकार सर्वज्ञ के भक्त जिनेन्द्र भक्त सेठ ने कपटी संयमी के वेष को धारण करने वाले सूर्यनामक चोर की रत्नहार विषयक चौरी को ढँका था। क्या सिद्ध परमात्माओं को कभी संसारी जीवों के पापमल से मलिनता हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है। क्या धूलि से कभी आकाश को मलिनता होती है, नहीं होती तथा क्या मेंढक के मरने से समुद्र में दुर्गन्धता होती है, नहीं होती। यही कारण है कि जो कुल को कलंकित करने वाला कोई हीन मनुष्य यदि चारित्र को नहीं धारण कर सकता है तो इतने मात्र से विद्वानजन धर्म की मलिनता का ख्यापन नहीं किया करते हैं। जो अन्य जन के उत्पन्न हुए दोषों को नहीं ढंकता है तथा जो क्षमादि गुण रूप महती सम्पत्ति से धर्म को नहीं बढ़ाता है उससे सम्यग्दर्शन यदि दूर हो तो आश्चर्य ही क्या है? सत्यज्ञानी अर्थात् सम्यग्ज्ञानी गणधरों ने उसे घर्म से बाहर पापात्मा कहा है। **(ध.रत्ना.)**

जो सम्यग्दृष्टि दूसरों के दोषों को तो ढांकता है और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता है तथा ऐसी भावना रखता है कि जो भवितव्य है वही होता है उसे उपगूहनगुण का धारी कहते हैं। किसी सम्यग्दृष्टि श्रावक अथवा मुनि के द्वारा सम्यक्त्व में कोई अतिचार लगाया गया हो या व्रत का भंग किया गया हो तो सम्यग्दृष्टि उसे लोक में प्रकाशित नहीं करता है। आशय यह है कि रत्नत्रय स्वभाव से ही शुद्ध है किन्तु जब अज्ञानी अथवा अश्रद्धालु मनुष्यों के निमित्त से धर्म का अपवाद होने के कारण उस मार्ग की बदनामी होती हो तो आगम के अनुसार धर्मोपदेश के द्वारा यथाशक्ति जो उस बदनामी का निवारण किया जाता है उसे व्यवहार से उपगूहन अंग कहते हैं तथा ''अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को ढांकने वाले जो मिथ्यात्व राग आदि दोष है उन दोषों को दूर करने का उपाय करना निश्चय से उपगूहन अंग कहा है।'' **(वृ.द्र.सं. ४१ टी.)**

प्रसंगवशात् मार्गच्युत साधु के विषय में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य महाराज ने कहा था - किसी भी साधु को आहार देना बंद नहीं करना चाहिए। मुनिधर्म बहुत कठिन है। आहार के बिना मुनि का पैर फिसला तो भयंकर पतन होता है। नेत्रों को जागृत रखना चाहिए। ज्ञान आदि की बात में चूक हो गई तो उतनी हानि नहीं होती जितनी संयम पालन में प्रमाद करने पर होती है। तलवार की धार पर सम्हलकर पैर रखा तो ठीक नहीं तो पैर नियम से कट जाता है। मुनि पद में चारित्र को बराबर पालना चाहिए।

स्थितिकरण अंग

जो धर्म से चलायमान अन्य जीवों को कर्म में स्थिर करता है तथा अपने को भी धर्म में दृढ़ करता है। उसी के स्थितिकरण गुण होता है। मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका के भेद से चार प्रकार के संघ में से जब कोई व्यक्ति दर्शनमोहनीय अथवा चारित्रमोहनीय के उदय से सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र को छोड़ना चाहता हो तो आगमानुकूल धर्म का उपदेश देकर या धन की सहायता देकर या शक्ति का प्रयोग करके अथवा किसी भी अन्य उपाय से जो उसे धर्म में स्थित किया जाता है उसे व्यवहार स्थितिकरण गुण कहते हैं और मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्प जाल को त्यागकर अपने आत्म स्वभाव में स्थिर होना निश्चय से स्थितिकरण गुण है।

प्रमादवश दर्शन ज्ञान चारित्र से विचलित होने वाले पुरुषों को पुन: स्थित करना शुभ स्थितिकरण अंग कहा गया है। दर्शन ज्ञान चारित्र से भ्रष्ट जीव को फिर से स्थिर करने को ज्ञानी पुरुषों ने स्थितिकरण अंग कहा है। काम क्रोध मद और प्रमाद में विचरण करने वाले अपने आप का तथा अन्य पुरुष का ज्ञानी जीवों को स्थितिकरण करना चाहिए। व्रत चारित्र तथा धर्मादिक से विचलित होते हुए पुरुषों की धर्मोपदेश के द्वारा स्थिरता की जाती है वह स्थितिकरण अंग कहलाता है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

धर्म के विध्वंस करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कारणों के होते हुए भी धर्म से च्युत नहीं होना और दूसरे यदि धर्म से च्युत होते हैं तो उनको धर्म में स्थिर करना स्थितिकरण गुण है।

यदि परीषहों के कारण अपना अथवा दूसरे का चित्त धर्म से उद्विग्न हो रहा हो तो उसे समझाकर धर्म में स्थिर करना स्थितिकरण अंग है। **(आ.सा. ३१/६१)**

जिस प्रकार कोई दयालु वैद्य अपने पास आये हुए दोषी रोगी को देखकर यह कहकर क्रोधित नहीं होता है कि तुमने अमुक दोष किया है और न उसके ऊपर द्वेष करता है। प्रत्युत यह कहकर उसे आश्वासन देता है कि तुम घबराओ मत यह रोग शीघ्र दूर हो जायेगा। तदनन्तर योग्य औषधि और उचित उपायों के द्वारा उस रोग की चिकित्सा करता है। उसी प्रकार कोई दोषी सम्यग्दृष्टि के पास आवे तो वह उसके ऊपर क्रोधित होकर फटकारता नहीं है कि तूने ऐसी गलती की है अपितु उसको उचित द्रव्यादि देकर और संतोष से उसके अंतरंग और बहिरंग दोष को दूर करने के लिए प्रयत्न करता है। यही स्थितिकरण अंग है।

एक बार पण्डित गोपालदासजी बरैया कार्यवश खुरई गये हुए थे। उनके पास सतबली गाँव (उत्तरप्रदेश) से कुछ अग्रवाल लोगों ने आकर अपनी व्यथा सुनाते हुए कहा - पण्डितजी ! हमारे पूर्वजों ने एक विशाल मंदिर बनवाया था उसमें हम दस्सा एवं बीसा अग्रवाल पूजा करते थे। कुछ दिनों से हम दोनों में मनमुटाव हो गया है, इसलिए बीसा लोगों ने हम दस्सा अग्रवालों को मंदिर में पूजा-अभिषेक दर्शन आदि करने का निषेध कर दिया है क्योंकि हमारे कुल में किसी ने व्यभिचार कर लिया था जिससे हम दस्सा कहलाते हैं। न्यायालय में मुकदमा चल रहा है संख्या बहुत कम होने से हमारे जीतने की संभावना नहीं है। यदि आप हमारी सहायता नहीं करेंगे तो हम १५०० दस्सा अग्रवाल जैन आर्य समाज में मिल जायेंगे। उनकी करुण पुकार सुनकर पण्डितजी का दिल द्रवित हो उठा। उन्होंने श्रावकों को आश्वस्त करके बीसा समाज के विरोध में गवाही देने का निर्णय किया। उनको कई लोगों ने समझाया कि अगर आप ऐसा करेंगे तो अग्रवाल, खण्डेलवाल, परवार, गोलापूर्व आदि ही नहीं आपकी अपनी स्वजाति बरैया लोग भी आपके विरोधी हो जायेंगे। उन सबकी बातें सुनकर पण्डितजी ने सोचा यदि मैं १५०० लोगों को धर्म में स्थितिकरण नहीं कर पाऊँ तो मेरे जीवित रहने से भी कोई मतलब नहीं है। पण्डितजी ने अदालत में जाकर गवाही देते हुए कहा – इस वर्तमान के पंचम काल के अंत तक एक मुनि, एक आर्यिका, एक श्रावक, एक श्राविका धर्म पालन करने वाले रहेंगे। उसके बाद कोई भी धर्मात्मा नहीं बचेगा। सब नर-नारी पशुओं के समान माता-पुत्र, पिता-पुत्री आदि का विचार किये बिना ही व्यभिचार करेंगे। पाँचों पाप करेंगे। इस प्रकार २१००० वर्ष व्यतीत होने के बाद उत्सर्पिणी का २१००० वर्ष और द्वितीय काल के २०००० वर्षों तक घोर अनाचार की प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार ६२००० वर्षों में संतान परम्परा से व्यभिचार जनित संतान होती रहेगी। फिर किसी एक कुटुम्ब में पहले कुलकर का जन्म होगा। जो सदाचार की आंशिक शिक्षा देगा। इसी प्रकार १००० वर्ष में १४ कुलकर होंगे। इस प्रकार कुलकरों के उपदेशों से लोग पवित्र हो जायेंगे। तब अंतिम कुलकर के यहाँ प्रथम तीर्थंकर श्री पद्मराय का जन्म होगा जो विश्ववन्द्य होकर मुनि और श्रावक धर्म का उपदेश देकर निर्वाण को प्राप्त करेंगे। तब यह कैसे माना जा सकता है कि कदाचित् कभी एक व्यक्ति के व्यभिचरित हो जाने से उसकी संतान प्रतिसंतान तथा उनका साथ देने वाले

भव्य गृहस्थ सदैव के लिए दूषित मान लिये जावें और श्री जिनेनद्र देव की पूजा एवं दर्शन करने के अधिकारों से वंचित किया जावे। हाँ, यह आवश्यक है कि व्यभिचार की प्रवृत्ति रोकने के लिए व्यभिचारी व्यक्ति के लिए जातीय बंधन के रूप में कुछ समय की रुकावट लगा दी जाये। अपनी गवाही के सबूत में पण्डितजी ने श्री त्रिलोकसारजी आदि का प्रमाण पेश किया। इससे न्यायाधीश ने फैसला दस्सा अग्रवाल की तरफ सुना दिया। इस गवाही के कारण लोगों ने पण्डितजी के विरोध में अनेक आंदोलन किये, भले लोगों को उनके प्रति भड़काया, लोगों ने उनसे शास्त्र सुनना बंद कर दिया। उनकी अनेक स्थानों पर अवमाननाएँ और आलोचनाएँ हुईं लेकिन पण्डितजी अपने निर्णय पर अटल रहे। इस प्रकार अपनी बुद्धि कौशल से अनेक प्रकार के तिरस्कार सहन करके भी पण्डितजी ने १५०० लोगों को जैनधर्म में स्थिर किया। धन्य है ऐसे महानुभावों को।

जो काम, क्रोध एवं मद आदि अतिशय अजेय होने के कारण तीनों लोकों को लज्जित करने वाले हैं उनके द्वारा उत्तम तप से बार-बार भ्रष्ट किये जाने वाले अन्य भव्य जीव को यदि कोई निर्मल सम्यग्दृष्टि दोनों लोकों के दु:ख को प्रगट करनेवाली प्रबल युक्तियों के द्वारा उसी समय धर्म में स्थिर नहीं करता है तो वह उसके व अपने संसार को अतिशय दीर्घ करता है। जिन लोगों के संयम के निर्वाह में संदेह बना हुआ है। ऐसे नवीन दीक्षित साधुओं से जो अपने संघ को वृद्धिंगत करता है तथा जो किसी एक या आधे दोष के कारण प्राप्त तत्त्व संयमनिष्ठ अन्य पूर्वकालीन साधु को छोड़ देता है। अपने आपको संघ से पृथक् कर देता है वह भला संयमी जिनशासन का भक्त कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता है। वह तो उस दरिद्र किसान के समान है जिसने गर्भ में अवस्थित भावीपुत्र की आशा में चित्त देकर अपने समान सब कामों में दक्ष पुत्र को मार डाला था।

संघ का कार्य चूंकि अनेक पुरुषों के द्वारा किया जाता है इसीलिए स्थितिकरण अंग के परिपालक सम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य विचार करके तथा निर्विवाद उपदेश देकर कर्म से च्युत होने वाले उस धार्मिक पुरुष को निरंतर धर्म में योजित करता है। इसके विपरीत यदि वह उसकी उपेक्षा करता है तो वह तत्त्व से धर्म से दूर हो जायेगा, उस धर्म का त्याग कर देगा। इससे उसका संसार भ्रमण दीर्घ होगा। इस प्रकार से धर्म के विषय में अव्यवस्था बहुत होगी। जिन्हें स्थितिकरण का ज्ञान है और स्थितिकरण करते हैं उनके लिए अज्ञ और चतुरजन के कुछ उदाहरण दिये गये हैं। दुष्टों के द्वारा किये गये महोपसर्ग और परीषह क्या कर सकेंगे, कुछ भी नहीं।

चेलना रानी ने गर्भ के भारी भार को धारण करने वाली ज्येष्ठा को प्रसूति के अनन्तर तपश्चरण में स्थिर किया था। दूसरा उदाहरण - चार्वाक आदि दर्शनों के प्रमुख विद्वान व उनके आचार के दर्शन संभिन्नमति आदि दुष्ट मंत्रियों ने जब महाबल राजा को अपने मतों से मलिन चित्त किया था तब स्वयंबुद्ध मंत्री ने उसे जीव के अस्तित्व को स्पष्ट करने वाली अनेक कथाओं के साथ तत्त्व सिद्धि करने वाली युक्तियों से सद्धर्म में अतिशय स्थिर किया था।

सुरती नाम अपनी पत्नी के संगम के लिए उत्कण्ठित हुए पुष्पदत्त तपस्वी को कुमार्ग से बचाने वाले वारिषेण मुनि ने संयम में स्थिर किया था। आहार के समय दुष्ट व्यंतरी के द्वारा जिनकी पुरुषेन्द्रिय में विकार उत्पन्न किया गया था ऐसे कृश शरीर वाले वैशाख नामक मुनि को जब श्राविका श्री चेलना रानी ने देखा तब उसने उसी समय परदा स्वरूप गुरु वस्त्र के टुकड़े को फैलाकर उनको निर्विघ्न आहार दिया था। तत्पश्चात् वे मुनिराज शुक्ल ध्यान रूपी पिंजरे के भीतर बैठकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। **(ध.र. १०/५९-६०)**

जब आचार्य शांतिसागरजी महाराज जैनियों को मिथ्यादेवों की पूजा का त्याग करा रहे थे तब ग्राम के मुख्य व्यक्तियों ने आकर पूज्यश्री से प्रार्थना की कि हे महाराज! इस ग्राम में सर्प का बहुत उपद्रव है। सर्प का विष उतारने में निपुण एक जैनी भाई हैं। वे मिथ्यादेवों की भक्ति करके उनके मंत्र को पढ़कर सर्प का विष उतारते हैं। उसने यदि आपसे मिथ्यात्व त्याग की प्रतिज्ञा ले ली तो हम सबको बड़ी विपत्ति उठानी पड़ेगी इसलिए उसे छोड़कर शेष सभी को आप नियम दे देवें। इसमें हमारा विरोध नहीं है। पूज्य महाराज ने गम्भीरतापूर्वक इस समस्या पर विचार किया और जैन बन्धु से कहा - जैन मंत्र में अचिन्त्य सामर्थ्य पायी जाती है। हम तुम्हें एक मंत्र बताते हैं। उसका विधिपूर्वक प्रयोग करो। यदि दो माह के भीतर वह मंत्र तुम्हारा कार्य न करे तो तुम पर बंधन नहीं रहेगा। अत: तुम दो माह के लिए मिथ्यात्व का त्याग कर दो। महाराज ने उस मांत्रिक बन्धु को मिथ्यात्व का त्याग करवा कर मंत्र दे दिया और विधि भी बता दी। इसी बीच में किसी ने समाचार दिया और कहा उसके बैल को सर्प ने काट लिया है। वह तुरन्त पंच परमेश्वर का स्मरण करता हुआ वहाँ पहुँचा और जैन मंत्र का प्रयोग किया। तत्काल विष की बाधा दूर हो गई। इसके पश्चात् वह व्यक्ति पुन: पूज्यश्री के पास आया और जीवन भर के लिए मिथ्यात्व का त्याग कर दिया। इस प्रकार पूज्य आचार्य महाराज ने उसे जैनधर्म में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में स्थित कर दिया। यह स्थितिकरण अंग है।

मानव मन अतिविचित्र और उलझनपूर्ण होता है। मोह ममता के ताने-बाने में इतना उलझा हुआ रहता है कि कब उसका मन परिवर्तित हो जाय, कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु वे धन्य हैं। जो विचलित मानव को धर्म में स्थित कर देते हैं। डाँवाडोल मन वाला सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

वात्सल्य अंग

जो सम्यग्दृष्टि जीव प्रिय वचन बोलता हुआ अत्यन्त श्रद्धा से धार्मिक जनों में भक्ति रखता है तथा उनके अनुसार आचारण करता है उस भव्य जीव के वात्सल्य गुण होता है। जैसे माँ अपने बच्चे से स्वाभाविक प्रेम करती है वैसे ही रत्नत्रय के धारी चतुर्विध संघ से स्वाभाविक स्नेह का होना व्यवहार से वात्सल्य गुण है और व्यवहार वात्सल्य गुण के द्वारा धर्म में दृढ़ता होने पर मिथ्यात्व राग आदि समस्त अशुभ भावों से प्रीति छोड़कर परमानन्द स्वरूप अपने आत्मा से प्रीति करना निश्चय से वात्सल्य गुण है।

सहधर्मी जनों में माया दोष से रहित जो भक्ति है उसे मुनि सुख का साधनभूत वात्सल्य कहते हैं। समीचीन आचार के धारक साधुओं और समानधर्मी श्रावकों का यथायोग्य आदर करना वात्सल्य कहलाता है। जैनधर्म से युक्त अथवा रोग, चिंता आदि से पीड़ित भव्य जीव वैयावृत्य से संतुष्ट करने योग्य है। यही वैयावृत्य वात्सल्य कहलाता है। **(सर्वो. श्लो. सं.)**

वात्सल्य ऐसी सम्पत्ति है कि इसको न तो कहीं से लाना होता है और न किसी से लेना होता है। मनुष्य की अन्तरात्मा में इसका समुद्र लबालब भरा है। जिसके जीवन में वात्सल्य नहीं है उस मानव के दान, पुण्य, अध्ययन, जप-तप सब निरर्थक हैं, निष्फल हैं।

वात्सल्य के अनेक भेद हैं -

वात्सल्य : कल्याण के अभिलाषी जनों ने आदर करने को, वैयावृत्य करने को, भक्ति करने को, चाटु वचन बोलने को, सत्कार करने को तथा साधुजनों के उपकार करने को वात्सल्य कहा है।

आदर : सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में संकल्प चित्त वाले साधुजनों में छल रहित बुद्धि से जो विनय किया जाता है वह आदर है।

वैयावृत्य : आचार्य उपाध्याय आदि दश प्रकार के साधुओं में उत्तम विशुद्ध भावना के साथ राग को दूर करने रूप निर्मल सेवा विधि की जाती है वह वैयावृत्य कही जाती है।

अनुराग : दोषों से रहित देव में, पूर्वा पर विरोध रहित शास्त्र में और निर्ग्रन्थता को प्राप्त गुरु में जो अनुराग किया जाता है वह भक्ति है।

चाटूक्ति : भक्ति से मुक्त होकर पंचपरमेष्ठी की गुणावली का विस्तार अमृतगर्भा वाणी से उच्चारण करने को ज्ञानीजनों ने चाटूक्ति कहा है।

सत्कार : पुलाक बकुश आदि अनेक भेद वाले दिगम्बर सत्यधर्म के उपदेशक साधुओं के समुदाय में जो पूजा की जाती है उसे सत्कृति या सत्कार कहते हैं।

उपकार : विद्या से, धन से, स्वयं से और दूसरों के द्वारा जो दूसरे का संरक्षण किया जाता है उसे परोपकार करने के इच्छुक जनों ने उपकृति या उपकार कहा है।

जिनेन्द्रवर्णी जी ने पण्डित मुख्तारजी को कुछ शंकाएँ लिखीं और उसके साथ यह भी लिखा कि इनका समाधान पत्रों से न किया जाय। पण्डितजी ने पत्र के माध्यम से वर्णीजी को घर आने का निमंत्रण दे दिया। वर्णीजी जब उनके घर पहुँचे तो पण्डितजी ने अपने बच्चे की भाँति उनका स्वागत किया, हृदय से लगाया। वर्णीजी कहते हैं कि पण्डितजी मेरी शंकाओं का समाधान यद्यपि तुरन्त कर सकते थे फिर भी वात्सल्यवश उन्होंने मुझे अपने पास २-३ दिन ठहराना इष्ट समझकर ठहराया। इधर मैं भी उनकी संगति से लाभान्वित होना चाहता था। फलत: मैं २-३ दिन मंदिर में रुक गया। पण्डितजी ने मेरी शंकाओं का समाधान तो कर ही दिया परन्तु विशेष बात यह है कि उन्होंने मुझे अपना बच्चा समझकर अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक त्याग मार्ग पर चलने के लिए जीवनयोपयोगी कुछ ऐसी मार्मिक बातें सुझाईं जिनसे मैं

सर्वथा अनभिज्ञ था और जिन्हें जाने बिना मेरे लिए अवश्य ही व्यवहार पथ पर भटक जाने का भय था। उनसे प्राप्त इस अहैतुकी स्नेह तथा अनुग्रह को मैं कभी नहीं भूल सकता। इनके दो दिन के सान्निध्य से मैं इतना अवश्य समझ गया था कि साधना पथ पर चलने के लिए केवल शास्त्रज्ञान पर्याप्त नहीं है। व्यवहार से अनभिज्ञ रहते हुए दिग्भ्रांत की भाँति इस मार्ग पर चलना संभव नहीं है। इसे कहते हैं गौ वत्स सम नि:स्वार्थ वात्सल्य का भाव यही वात्सल्य अंग कहलाता है।

मुनि श्री देशभूषणजी महाराज ने अपने जीवन में मिले वात्सल्य को बताते हुए कहा - जब मैं नवदीक्षित छोटी अवस्था का मुनि था। नांदेड़ में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य महाराज के पास गया। मैंने उनकी वंदना की। उन्होंने दयाकर मेरी वंदना को स्वीकार कर प्रतिवंदना की। उन्होंने मुझ पर अपार प्रेम भाव व्यक्त करते हुए कहा - तुम मेरे भाई हो, सदा आगम के अनुकूल चलना। किसी के बहकावे में मत आना, तुम्हारी उम्र छोटी है, संभलकर काम करना। तुम क्षत्रिय वंश के हो। धर्म की खूब प्रभावना करना। **(चा.च.)** यही सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य गुण कहा जाता है।

एक दिन एक चोर किसी महिला के घर में घुस आया। महिला अकेली थी। चोर ने छुरा दिखाकर कहा - अगर तू शोर मचाएगी तो मैं तुझे मार डालूँगा। महिला बड़ी भली थी। वह बोली - मैं क्यों शोर मचाऊँगी? तुम्हें मुझसे ज्यादा वस्तुओं की जरूरत है, आओ, मैं तुम्हारी मदद करूँगी। ऐसा कहकर उसने आलमारी का ताला खोल दिया और एक-एक कीमती वस्तु निकालकर चोर के सामने रखने लगी। चोर हक्का-बक्का होता हुआ उसकी तरफ देखता रहा। महिला ने कहा - तुम्हें जो चाहिए खुशी से ले जाओ। ये वस्तुएँ तुम्हारे काम आयेंगी, मेरे पास तो बेकार पड़ी है। उस महिला के वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से थोड़ी सी देर में ही चोर की आँखों से आँसू टपक रहे थे। वह बिना कुछ लिए और बिना कुछ कहे चला गया। अगले दिन उस महिला को एक पत्र मिला। उसमें लिखा था - ''मुझे घृणा से डर नही लगता, यदि कोई गाली देता है तो मुझ पर उसका भी असर नहीं होता। उन्हें सहते-सहते मेरा दिल पत्थर सा हो गया है। पर मेरी प्यारी बहिन, प्यार से मेरा दिल मोम हो जाता है। तुमने मुझ पर प्यार बरसाया मैं उसे कभी नहीं भूल पाऊँगा। इस प्रकरण में भले ही सम्यग्दर्शन हो या न हो और वात्सल्य अंग भी हो या न हो लेकिन सम्यग्दर्शन की भूमिका में ऐसा भाव उत्पन्न होता है।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य महाराज जब गृहस्थावस्था में सम्मेदशिखरजी की वन्दना करने जा रहे थे। रास्ते में एक वृद्धा पहाड़ पर चढ़ नहीं पा रही थी। उसे बार-बार रुकना पड़ रहा था। ऐसा लग रहा था कि वह पहाड़ की वन्दना नहीं कर पायेगी। कई लोग उससे बोलते पूछते आश्वासन देते और आगे बढ़ जाते लेकिन शांत गोड़ा पाटील (आ.शांतिसागर) ने वृद्धा को देखा तो उनके अन्दर वात्सल्य का सागर उमड़ पड़ा। उन्होंने झट से वृद्धा को अपने कंधे पर बैठाया और पूरी वन्दना इस प्रकार कर के आ गये जैसे कोई अपने २-३ महीने के बच्चे को गोदी में उठाकर वन्दना कर लेता है। उस वृद्धा से उनका कोई परिचय नहीं था, न जान-पहिचान, रिश्ता भी कुछ नहीं था, फिर भी नि:स्वार्थ भाव से

उसे वंदना करवाई। इसी प्रकार राजगृही में एक वृद्ध दादाजी को कंधे पर बैठाकर पाँचों पहाड़ों की वन्दना करवायी। यही साधर्मी वात्सल्य है सम्यग्दर्शन का अंग है। **(चा.च.)**

वात्सल्य में त्याग है, निस्पृहता है, प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं है, अनुराग का परिपाक है, प्रकाश पुंज है, नि:स्वार्थ भावना से गोवत्स के समान प्रीति रखता है। वात्सल्य वाले का आत्मोत्थान होता है, स्व पर कल्याणी होता है, यह वात्सल्य आत्मा का गुण है। इस अंग का धारी शिवपथारोही होता है। संसार की परम्परा को छिन्न-भिन्न करने वाला होता है। यह सम्यग्दर्शन का गुण है। वात्सल्य धर्म अनुराग की डोरी में बाँधकर संसार-सागर से खींचकर पार कराने वाला है। मुक्ति का हेतु है। यह वात्सल्य अंग स्वार्थ को दूर करने वाला, मानव को संकुचित दायरे से हटाकर विस्तृत सेवा के मार्ग में लाने वाला है।

प्रभावना अंग

साधर्मी भाई के साथ स्नेह करना, उसके कष्ट और विपत्तियों को दूर करना, धर्म का उद्योत करना तथा जिनशासन की अभिवृद्धि के उपाय करना प्रभावना है। रथोत्सव करना, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करना, शास्त्र वितरित करना, अज्ञानी जीवों के अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करना एवं सामूहिक धर्म प्रभावना के कार्य करना प्रभावना है। पापों का प्रक्षालन करने वाले अहिंसा धर्म की प्रभावना के लिए अपनी सम्पत्ति और शक्ति लगाना प्रभावना है। **(धर्मा.)**

सम्यग्दृष्टि भव्य जीव को रत्नत्रय के तेज से अपने आपको विभूषित करके अपने आत्मा की तथा दान, तप, जिनपूजा और विद्या के चमत्कार से जिनधर्म की भी प्रभावना करनी चाहिए।

चक्रवर्ती भरतादि के द्वारा नानाप्रकार के दान से, सनत्कुमारादि महर्षियों के द्वारा तीव्र आतापनादि योगों से तथा रावणादि राजाओं के द्वारा अनेक प्रकार की जिन पूजनादि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना की गई है।

वज्रकुमार मुनि ने अपनी विद्या के माहात्म्य से पूतिक राजा की रानी उर्मिला देवी के रथ को बड़े ठाठ-बाट से नगर में घुमाया था। इसलिए दान, ज्ञान, विज्ञान, विद्या मंत्रादि और महाध्वज आदि पूजा विशेषों के द्वारा ऐहिक इच्छाओं से रहित होकर मार्ग की प्रभावना करना चाहिए।

धर्म की प्रभावना परमत का खण्डन करते हुए नहीं वरन् स्वमत का मण्डन करते हुए करना चाहिए। **(आ.श्री.)**

जो सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान के द्वारा भव्य जीवों के लिए इस प्रकार के धर्म को प्रकाशित करता है तथा अपनी आत्मा को भी प्रकाशित करता है, उसके प्रभावना गुण होता है। अनेक प्रकार की युक्तियों के द्वारा मिथ्यावादियों का निराकरण करके अथवा अनेक प्रकार के शास्त्रों की रचना करके या जिनपूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा आदि का आयोजन करके अथवा घोर तपश्चरण करके लोक में जैनधर्म का महत्त्व प्रगट करना व्यवहार से प्रभावना गुण है और उसी व्यवहार प्रभावना के बल से मिथ्यात्व, विषय-कषाय आदि

समस्त विभाव परिणामों के प्रभाव को हटाकर शुद्धोपयोग रूप स्वसंवेदन के द्वारा विग्रह ज्ञान दर्शन स्वरूपी अपनी आत्मा का अनुभवन करना निश्चय प्रभावना गुण है। **(का.अ. ४२२-२३)**

अपनी आत्मा में से मिथ्याज्ञान रूपी अंधकार के समूह को नष्ट करके जो जैनधर्म का उद्योत किया जाता है वह प्रभावना अंग है। शास्त्रों का व्याख्यान, विद्या, निर्दोष ज्ञान, दान तथा पूजा के द्वारा ऐहिकफल की इच्छा से रहित हो जिनशासन की प्रभावना करनी चाहिए। ज्ञान तथा कठिन तप से युक्त एवं दान, पूजा आदि करने वाले पुरुषों के द्वारा जिनधर्म का जो माहात्म्य प्रगट किया जाता है वह प्रभावना है। **(सर्वो. श्लो. सं.)**

मथुरा के राजा उग्रसेन की रानी का नाम रेवती था। इसी नगर में एक जिनदत्त सेठ रहता था। उसके घर अनेक नौकरानियाँ थीं। उनमें से एक प्रियंगुलता नामकी नौकरानी सेठ के द्वारा बताये गये जैनधर्म की परम भक्त थी। वह जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जैनागम को छोड़कर किसी के आगे अपना सिर नहीं झुकाती थी। उसकी जैनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धा होने से अन्य नौकरानियाँ उससे बहुत चिढ़ती थीं क्योंकि वे नौकरानियाँ उसी नगर के बाहर यमुना नदी के तट पर रहने वाले वशिष्ठ नाग के तापसी की भक्त थीं। एक दिन सब नौकरानियों ने मिलकर प्रियंगुलता को जबरन तापसी के चरणों में झुका दिया तो उसने गुस्से में आकर स्पष्ट कर दिया कि इस ढोंगी के हाथ जोड़ूँ तब फिर किसी धीवर के सामने हाथ जोड़ने में क्या तकलीफ? इससे तो वह बहुत अच्छा है। अपनी निन्दा सुनकर तापसी ने क्रोधित होकर राजा के सामने जाकर सेठ जिनदत्त की नौकरानी की शिकायत की। राजा ने नौकरानी को बुलाकर सच्चाई पूछी। जब नौकरानी राजदरबार में आयी तो उसे देखते ही तापसी का क्रोध बढ़ गया। उसने कड़कते हुए कहा - रांड ! तूने मुझे धीवर बतलाया है, तेरे इस अपराध की सजा राजा ही देंगे, लेकिन तू यह बता कि तूने मुझे धीवर क्यों कहा? प्रियंगुलता ने निर्भीक होकर कहा - तापसी! सुनो मैंने तुझे धीवर क्यों कहा? तू रोज-रोज मछलियाँ मारा करता है तू धीवर नहीं है तो कौन है? तेरी ऐसी दशा देखकर कौन तुझे तापसी कह सकता है। यह सुन तापसी ने कहा - तेरे पास इसका क्या प्रमाण है? तू जैनी के यहाँ रहती है इसलिए दूसरे धर्मों की और उनके साधु-संतों की बुराई करना तेरा स्वभाव बन गया है। प्रियंगुलता ने कहा - मैं जैन धर्म की नहीं, सत्य की पक्षपाती हूँ और तू सबको ठगता रहता है, ढोंग करता है इसलिए मैंने तुझे धीवर कहा है। तब तापसी ने पुन: प्रमाण पूछा तो प्रियंगुलता ने कहा - हे तापस, जरा अपनी इन जटाओं को झाड़ दे मैं तुझे मछलियाँ बताऊँगी। तापस ने जटाएँ झाड़ने में बहुत आनाकानी की लेकिन मजबूर होकर उसे जटाएँ झाड़नी पड़ीं। उन जटाओं में से अनेक छोटी-छोटी मछलियाँ निकलीं। जिन्हें देखकर सभी दंग रह गये। राजा ने भी तापसी के ढोंग और धर्म की सच्चाई देखकर जैनधर्म की बहुत प्रशंसा की और वह अपनी प्रजा सहित जैनधर्म का अनुयायी बन गया। प्रियंगुलता ने युक्ति से जिनेन्द्र भगवान के धर्म की प्रभावना की। पूरे राज्य को जैनधर्म का भक्त श्रद्धानी बना दिया। **(आ.का.कोश)**

जो भव्य जीव सर्वोत्कृष्ट जिनागम के ज्ञान के द्वारा समस्त मत मतांतर के असत तत्त्वों का खण्डन

कर सत्य और प्रमाणित अनेकांत स्वरूप तत्त्वों का प्रकाश कर जैन शासन को दृढ़ करता है। वह मार्ग प्रभावना प्रगट करता है अथवा शास्त्रार्थ के द्वारा जैनमत की सर्वोत्कृष्टता का प्रकाशन करना मार्ग प्रभावना है। भगवान की प्रतिमा का विशुद्ध भावों से और उत्सव, गीत, नृत्यादि पूर्वक अभिषेक करना, जल यात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, रथ महोत्सव और चतु: चारों संघ को दान प्रदान के द्वारा महान् प्रभावना की जाती है।

मंत्र की शक्ति से अनेक प्रकार के चमत्कार बताकर धर्म का प्रभाव प्रगट कर समस्त कुवादियों और जड़ अज्ञानी जीवों को सन्मार्ग में लगा देने से भी प्रभावना होती है।

इसी प्रकार जप-तप, तीर्थयात्रा, जिनमंदिर निर्माण आदि धार्मिक कार्यों की महिमा प्रदर्शन करने से मार्ग प्रभावना होती है। जीवों को अभयदान प्रदान करने से और परोपकार के लिए करुणादान करने से भी प्रभावना होती है। जैनधर्म की महिमा अन्य मिथ्यामतियों में प्रगट कर देने से धर्म का प्रभाव प्रगट होता है।

आचार्य महावर्मन (महासेन) दिल्ली के बाहर श्मशान में ध्यानारूढ़ थे कि वहाँ पर एक सर्पदंश से अचेत सेठ पुत्र दाह कर्म के लिए लाया गया। आचार्य महाराज ने उपकार भाव से उसका विष प्रभाव अपने योग बल से दूर कर दिया। इससे उनकी प्रसिद्धि सारे शहर में हो गयी। बादशाह अलाउद्दीन ने भी यह सुना और उसने उन दिगम्बराचार्य के दर्शन किये। बादशाह के राजदरबार में उनका शास्त्रार्थ भी षड्दर्शनवादियों से हुआ। जिसमें उनकी विजय रही। इस दिन आचार्य महासेन/महावर्मन ने पुन: एक बार स्याद्वाद की अखण्ड ध्वजा भारत वर्ष की राजधानी दिल्ली में आरोपित कर दी थी। यह भी प्रभावना अंग है।

सच्ची प्रभावना

आचार्यश्री ने धर्मप्रभावना के बारे में बताते हुए कहा - प्रभावना देखनी हो तो देखो इस जटायु पक्षी को। जिस संकल्प को उसने ग्रहण किया उसका पालन शल्य रहित होकर जीवन के अंतिम क्षणों तक किया। सीताजी की त्राहि माम् त्राहि माम् आवाज सुनकर वह चल पड़ा, उस अबला की सहायता के लिए। वह जानता था कि उसकी रावण से लड़ाई हाथी और मक्खी की लड़ाई के समान है। रावण का एक घात प्रहार ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर देने के लिए पर्याप्त है, किन्तु अनीति के प्रति वह लड़ने पहुँच गया और अपने व्रतों का निर्दोष-पालन करते हुए प्राण त्याग दिये। यही सच्ची प्रभावना है। आज कितना अन्तर है हममें और उस जटायु पक्षी में। हम एक-एक पैसे के लिए अपना जीवन और ईमान बेचने को तैयार है। अपने लिए गये व्रतों के प्रति कहाँ हैं। हममें समर्पण और कहाँ है? वैसी रुचि जैसी जटायु पक्षी में थी। हम व्रत लेते हैं तो छूट जाते हैं या छोड़ देते हैं। कई लोग कहते हैं ''महाराज! रात्रि भोजन का हमारा त्याग है। किन्तु इतनी छूट रख दी कि जिस दिन रात्रि में भोजन का प्रसंग आ जाये उस दिन भोजन रात में कर लें।'' यह कोई व्रत है। यह तो छलावा है। ऐसे लोगों से तो हम यही कह देते हैं कि प्रसंग आवे पर दिन का व्रत ले लो और बाकी समयों की चिन्ता मत करो। निर्दोष व्रत

का पालन ही मार्ग प्रभावना में कारण है। जटायु पक्षी किसी मंदिर में नहीं गया किन्तु उसका मंदिर उसके हृदय में था। जिसमें श्रीजी के रूप में उसकी स्वयं की आत्मा थी। हमें भी उसी आत्मा की विषय-कषायों से रक्षा करनी चाहिए। इसे ही मार्ग प्रभावना कहा जायेगा।

सम्यग्दृष्टि बन गया

लाट देश में तोरण मानगिरि के निकट एक गुणखेटक नाम का नगर था। वहाँ जिनदत्त नामका श्रावक अपनी जिनदत्ता आर्या के साथ धर्मध्यान पूर्वक रहता था। वह जैन धर्म में अनुरक्त था। उनके जिनमति नाम की पुत्री थी जो शीलवती, रूपवती, विनीत और तरुणी थी। उसी नगर में एक धनी सेठ नागदत्त अपनी सेठानी नागदत्ता के साथ शैवधर्म का पालन करते हुए रहता था। उनके पुत्र रुद्रदत्त ने जिनदत्त सेठ से जिनमति को माँगा। जिनदत्त ने कहा - मैं जैनधर्म का अनुयायी हूँ और तुम शैवमत के हो अत: मैं तुम्हें अपनी बेटी कैसे दे सकता हूँ। जिनदत्त की बात सुनकर रुद्रदत्त ने जिनालय में विराजमान समाधिगुप्त मुनिराज के निकट शैव (माहेश्वरी) धर्म को छोड़कर जैनधर्म को अंगीकार कर लिया। जब जिनदत्त को यह मालूम हुआ कि रुद्रदत्त ने जैनधर्म धारण कर लिया है तो उसने अपनी कन्या रुद्रदत्त को दे दी। रुद्रदत्त विवाह के बाद जैनधर्म को छोड़कर पुन: शैवमतावलम्बी बन गया। एक दिन रुद्रदत्त ने जिनमति को शैवधर्म की महत्ता बताते हुए उसे स्वीकार करने को कहा, क्योंकि उसे जैनधर्म में कुछ भी सार नजर नहीं आता था। बहुत प्रकार से शैवधर्म की सार्थकता एवं जैनधर्म की निरर्थकता बताने पर जिनमति बोली - स्वामिन् ! जैनधर्म को छोड़ने की बात तो मेरे मन में कभी आ ही नहीं सकती। हाँ, आप ही अपना शैवधर्म को छोड़कर जैनधर्म को हृदय में स्थिर कर लीजिए। वास्तव में जैनधर्म ही विद्वानों के हृदय का द्वार है। इस जैनधर्म में अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि ऐसे सिद्धान्त हैं जिनकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती है फिर भी आप इसे स्वीकार नहीं करते हैं तो भी मैं किसी हालत में जैनधर्म को नहीं छोड़ूंगी। मैं तो उसी जैनधर्म की उपासना करूँगी। जिनमति की बात सुनकर रुद्रदत्त कहने लगा प्रिये ! मैं तो तुम्हें जैनधर्म पालन करने की अनुमति नहीं दे सकता। इस प्रकार इन दोनों का कभी धर्मश्रवण पूर्वक और कभी कलह के साथ तथा कभी वाद-विवाद के साथ कल बीतने लगा। एक बार रुद्रदत्त जिनमति से बोला - प्रिये ! यदि मैंने तुम्हें कभी जिनमंदिर जाते और मुनियों के लिए आहार देते हुए देखा तो मैं तुम्हें अपने मकान से निकाल दूँगा और शैवमत को पालोगी तो तेरा बहुत आदर करूँगा, तुम्हारे लिए रत्नजटित आभूषण बनवाऊँगा आदि। रुद्रदत्त की बात सुनकर जिनमति की श्रद्धा जैनधर्म में पहले से अधिक दृढ़ हो गई। वह रुद्रदत्त से कहने लगी - प्राणनाथ ! यदि आपने इस प्रकार का प्रतिबंध लगाया तो मैं निश्चित रूप से प्राण त्याग दूँगी अथवा हे नाथ ! न आप शिवमंदिर जावे और न मैं जिनमंदिर जाऊँ। यह बात रुद्रदत्त को अच्छी लगी। दोनों ने जिनमति के कहे अनुसार प्रतिज्ञा कर ली।

एक बार भयंकर अटवी में से एक भीलों के झुण्ड ने गुणखेटक नगर में अचानक आग लगा दी। सारा नगर धग-धग करता हुआ जलने लगा। पूरी जनता अपने परिवार सहित व्याकुल होने लगी। अग्नि को देखकर जिनमति ने रुद्रदत्त से कहा - हे स्वामिन् ! आज हमारी रक्षा जो धर्म करेगा। शैव

या जैनधर्म उसी की हम शरण लेंगे। अत: पहले आप अपने देवताओं का स्मरण करो। रुद्रदत्त ने यह बात स्वीकार करके विश्वास के साथ अपने इष्ट महादेव, रुद्र, ब्रह्मा, कार्तिकेय, शिव आदि अनेक देवों का स्मरण किया लेकिन आग बुझने के स्थान पर और ज्यादा उबलने लगी। यह सब देखकर रुद्रदत्त भयभीत होकर कहने लगा – हे प्रिये, इस समय समस्त संसार को प्रकाश देने वाले तीन लोक के शरणभूत जिनेन्द्र देव का स्मरण करो जिससे हम सभी का संकट दूर हो सके। जिनमति अपने स्वामी की बात सुनकर कहने लगी – हे जिनेन्द्र देव ! इस संसार में यदि केवलज्ञानी, वीतराग, निर्दोष अर्हंत भगवान समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पाशील, उभय लोक सुखदाता, अहिंसा लक्षण वाला जैन धर्म तथा संसार के दु:खों का नाश करने वाली जैनेश्वरी दीक्षा को धारण करने वाले गुरु अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही दु:खों से पार लगाने वाले हों, मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले होवे तो हमारी रक्षा करें। इस प्रकार कहकर जिनेन्द्र भगवान के चरणों में अर्घ समर्पित किया। उसकी भक्ति के प्रभाव से अग्नि तत्काल शांत हो गई। यह अतिशय देखकर रुद्रदत्त की बुद्धि उस समय एक दम स्वस्थ हो गई। जिनमति के द्वारा बताये धर्म पर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा हो गई जिससे वह सम्यग्दृष्टि बनकर श्रावक बन गया। प्रभावहीन और असमंजस के चौराहे पर खड़े जिज्ञासु को धर्म की ओर प्रभावित करने वाली यह कथा सारपूर्ण है, सार्थक है। जिससे प्रभावित होकर हमारा मन धर्म के प्रति उत्साहित होता है।

प्रभावना अंग का पालन करने से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है, जिनशासन के प्रचार और प्रसार से पापी और कुकर्मरत व्यक्ति भी अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त कर लेते हैं। जिन शासन की प्रभावना करने वाला देवों के द्वारा स्तुत्य वन्दनीय होता है। धर्म का प्रचारक होने के कारण उसकी आत्मा में अपूर्व शक्ति आ जाती है। **(धर्मा.)**

जो पुरुष पराई निन्दा नहीं करता है, बारम्बार शुद्ध आत्मा को भाता है तथा इन्द्रिय सुख की इच्छा नहीं करता है। उसके नि:शंकित आदि गुण होते हैं। यहाँ तीन विशेषण देकर यह बतलाया है कि जिसमें से तीनों बातें होती हैं उसी में नि:शंकित आदि गुण पाये जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है - जो पुरुष दूसरों की निन्दा करता है उसके निर्विचिकित्सा, उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य नाम के गुण नहीं हो सकते हैं क्योंकि बुरे अभिप्राय से किसी के दोषों को प्रगट करने का नाम निन्दा है अत: जो निन्दक हैं वह उक्त गुणों का पालक कैसे हो सकता है? तथा जो अपनी शुद्ध आत्मा को भाता है उसी के लिए नि:शंकित, अमूढ़दृष्टि, प्रभावना नामके गुण हो सकते हैं क्योंकि जिसको आत्मा के स्वरूप में संदेह है और जिसकी दृष्टि मूढ़ है वह अपनी व आतमा की बारम्बार भावना नहीं कर सकता तथा जिसके इन्द्रिय सुख की चाह है उसके नि:कांक्षित गुण नहीं होता। इस तरह उक्त ३ विशेषण वालों के आठों गुण होते हैं। **(का.अ. ४२४)**

चारित्र चक्रवर्ती ग्रन्थ में पण्डितजी लिखते हैं – मैने एक बार आचार्यश्री से पूछा - शिथिलाचरण वाले साधु के प्रति समाज को या समझदार व्यक्ति को कैसा व्यहार रखना चाहिए ?

आचार्यश्री ने कहा – ऐसे साधु को एकान्त में समझाना चाहिए। उसका स्थितिकरण करना चहिए। मैंने पूछा – समझाने पर भी यदि उस व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं बदले तब क्या कर्त्तव्य है? क्या पत्रों में उसके सम्बन्ध में समाचार छपाना चाहिए या नहीं? महाराज ने कहा - समझाने से भी काम न चले तो उसकी उपेक्षा करो, उपगूहन अंग का पालन करो। पत्रों में चर्चा चलने से धर्म की हंसी होने के साथ-साथ अन्य मार्गस्थ साधुओं के लिए भी अज्ञानी लोगों के द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है। महाराज ने यह भी कहा था कि जो मुनि अत्यन्त निरपराधी है। मुनि के विरुद्ध दोष लगाने का भयंकर दुष्परिणाम होता है। श्रेणिक की नरकायु का कारण निरपराध मुनि के गले में सर्प डाला जाना था। अत: सम्यग्दृष्टि श्रावक विवेकपूर्वक स्थितिकरण उपगूहन तथा वात्सल्य अंग का विशेष ध्यान कर सार्वजनिक पत्रों में चर्चा नहीं चलाएगा। आचार्यश्री का उपरोक्त मार्गदर्शन सत्पुरुषों के चिरस्मरणीय हैं। उच्छृंखल तथा दुर्गतिगामी जीव की निन्दा की ओट में सच्चे साधु के मार्ग में भी कण्टक बिछ जाते हैं अत: सार्वजनिक पत्रों में उत्सूत्र चलने वाले की भी चर्चा छपाना उचित नहीं है। उसका स्वच्छन्द वृत्ति वाले पर तो क्या असर पड़ेगा? सच्ची आत्माओं को कष्ट होगा। मिथ्यादृष्टि विधर्मी भी सत्साधु की निन्दा पर उतर आते हैं। सम्यक्त्वी जिनेन्द्र भक्त श्रेष्ठीवर का कथानक इस तत्त्व को हृदयंगम करने में सहायक है। अत: गुरुदेव का आदेश पालन करना प्रत्येक सज्जन धर्मात्मा श्रावक का पावन कर्त्तव्य है। वह आदेश दूरदर्शितापूर्ण है।

मैंने (सुमेरचन्द्रजी ने) कहा - महाराज, एक धनी किन्तु विवेकशून्य सेठजी मेरे पीछे लग गये कि एक मुनिराज उनको ठीक नहीं लगते, उनके विरुद्ध आंदोलन करो। तब मैंने उनसे कहा कि एक दिगम्बर मुनि का जीवन सामान्य वस्तु नहीं है। सर्वसाधारण के समक्ष उनके विरुद्ध चर्चा का ढोल पीटना मैं ठीक नहीं समझता। हाँ, एकान्त में उनके विषय में कड़ी चर्चा करना उचित होगा। मैंने यह भी कहा कि शरीर पर फोड़ा होने पर डॉक्टर उस पर चाकू मारकर उसके विकार को दूर करने में संकोच नहीं करता है किन्तु सर्वसाधारण समाज रूपी मक्खी उस पर न बैठे और घाव के जहर को न बढ़ावे इसी कारण उस पर पट्टी बाँधकर उसको ढकता अवश्य है। उसी प्रकार हमें भी उपगूहन की दृष्टि का उपयोग लेना लाभप्रद होगा अन्यथा हानि की सम्भावना है। इस पर महाराज ने कहा - ठीक है सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसा ही कार्य करेगा। कभी ऐसे व्यक्ति होते हैं जो न शास्त्र जानते हैं न जिन्होंने स्वाध्याय ही किया है किन्तु वे भी बड़े-बड़े शास्त्रज्ञों के गुरु बनकर त्यागी और व्रती व्यक्तियों के चारित्र को दोषी कहते हैं और दूसरे की नहीं सुनते। उनको यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि इस विषय को सार्वजनिक चर्चा का विषय न बनाकर योग्य चिकित्सा करना चाहिए। कुछ शास्त्रज्ञों को भी साधु निन्दा में बड़ा मजा आता है। वे कल्पित दोषों को लगाकर महान् पूज्य उच्च चरित्र सत्पुरुषों पर कीचड़ उछाला करते हैं। उनके सहयोगी भी कोई-कोई अखबार लाने वाले बन जाते हैं। दूसरा कारण यह है कि जैसे निर्दोष हरिण की हत्या में तत्पर शिकारी को जीवघात में मजा आता है ऐसा ही दुराचार प्रेमी दुराचार की तो स्तुति करता फिरता है किन्तु वह सच्चरित्र व्यक्ति की बुराई करने को अपने दुष्ट स्वभाव वश तैयार रहता है। जोंक प्रवृत्ति के ऐसे दुष्ट की कोई दवा नहीं है। मरने के बाद वह नरक पर्याय में जाकर अपने कुकर्म का फल भोगा करता है।

जिस प्रकार बड़े महत्त्व और सावधानी के साथ कोई अपनी निधि की रक्षा करता है। इसी प्रकार इस भोग प्रधानयुग में रत्नत्रय निधि भूषित आत्मा के विषय में ध्यान रखना चाहिए। आज के युग में महाव्रती के पथ पर चलना यथार्थ में आग के साथ खेल करना है। दुर्दम्य वासनाओं का दमन करके उनको दास बनाने का काम लम्बी बातें करने से या आज के नेतृत्व की गद्दी पर सत्तासीन होने से या सरस्वती सदनों से सम्मान प्राप्त करने से कई गुणा कठिन काम है। इस अध्यात्मकला के कार्य में वैज्ञानिक प्रवीणता तथा आविष्करण कला नगण्य दिखती है।

जिस जिनेन्द्र भक्त की दृष्टि में मुनि जीवन विधि में भी बड़ा दिखेगा वह तो उसके साथ खिलवाड़ न करके उसके विषय में प्राणाधिक यथाशक्ति और यथागति सावधानी एवं सतर्कता रखेगा। मिथ्यात्व ग्रस्त जीव की बात निराली है।

पंडित आशाधरजी ने लिखा है – विवेकी गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वे जगत् के बन्धु स्वरूप जैनधर्म की परम्परा को चलाने हेतु दिगम्बर मुनियों को उत्पन्न करने का प्रयत्न करें अर्थात् उन्हें मुनिराजों/साधुओं का स्वास्थ्य, ऋतु, प्रकृति, श्रम, विहार आदि का विचार करके उनके अनुकूल आहार, औषधि आदि देकर इस प्रकार सेवा-वैयावृत्य करना चाहिए। उनसे धर्म श्रवण, ग्रहण आदि करना चहिए जिसको देखकर सामान्य लोगों के मन में भी मुनि दीक्षा, व्रत लेने के भाव उत्पन्न हों। उसको जो मुनिदीक्षा बहुत कठिन लगती है वह सरल लगने लगे तथा विद्यमान मुनियों के श्रुतज्ञानादि गुणों के द्वारा उन्नत करने के लिए प्रयत्न करे। जिस प्रकार गृहस्थ अपनी संतति की उत्पत्ति द्वारा वंश परम्परा चलाने का प्रयत्न करता है तथा संतान को गुणी बनाने का उद्योग करता है। जो व्यक्ति अपने प्रयत्नों की विफलता को देखकर उत्साहहीन हो रहे हैं उनके चित्त में स्थिरता के लिए वे कहते हैं –

पंचमकाल के दोष से मुनियों के गुणों के विकास कार्य की सिद्धि नहीं होने पर भी अर्थात् उन्हें पतन से बचाने में या स्थितिकरण करने में सफलता नहीं भी मिल रही हो तो भी इस विषय में प्रयत्नशील श्रावक पवित्र प्रयत्न अर्थात् सही दिशा में पुरुषार्थ करने की भावना एवं प्रयत्न के फलस्वरूप श्रेयोभाजन होता ही है अर्थात् उसे अपने श्रेष्ठ प्रयत्न का श्रेष्ठ फल तो मिलता ही है। कदाचित् गुणों के द्योतन कार्य में सिद्धि हो गई सफलता मिल गयी तो गुणों का द्योतन करने वालों का, साधर्मी जनों का तथा साधारण जनता का महान् उपकार होगा कारण सच्चे त्यागी के कारण ही धर्म की रक्षा, स्थिति, वृद्धि तथा सच्ची प्रभावना होती है। इससे त्यागी संख्या के निर्माणार्थ तथा उसे गुण मण्डित बनाने में प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी है - ''एक त्यागी सत्पुरुष के द्वारा लाखों जीवों का हित होता है।''

९. सम्यग्दर्शन (सम्यग्दृष्टि) के गुण

आचार्य शुभचन्द्रस्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ की टीका में सम्यक्त्व के ६३ गुण बताये हैं - ४८ मूलगुण और १५ उत्तरगुण। इनमें मुख्य संवेगादि ८ गुण हैं।

आठ नि:शंकितादि गुण, आठ मद के त्याग रूप ८ गुण, ३ मूढ़ता के त्याग रूप ३ गुण, ६ अनायतन के त्याग रूप ६ गुण, सम्यक्त्व के ५ अतिचारों को छोड़ने से ५ गुण, सात प्रकार के भय को त्यागने से ७ गुण, ३ शल्यों के त्याग से ३ गुण इन सबको मिलाने पर ८+८+८+३+६+५+७+३ = ४८ मूलगुण होते हैं।

मद्य, माँस, मधु एवं ४ उदम्बर फलों का त्याग और सात व्यसन का त्याग, इनको मिलाने पर ८+७=१५ उत्तर गुण होते हैं।

सम्यगदर्शन के ६३ गुणों से विशिष्ट व्यक्ति सबसे पूजित होता है।

यहाँ मुख्यत: सम्यग्दर्शन के आठ गुणों का वर्णन किया जा रहा है -

१. संवेग २. निर्वेद ३. निंदा ४. गर्हा ५. उपशम ६. भक्ति ७. अनुकम्पा ८. वात्सल्य ।

संवेग : रत्नत्रय रूप धर्म, अभ्युदय नि:श्रेयस आदि की प्राप्ति रूप, धर्म, फल, जिनेश्वर कथित तथा गणधर आदि प्रणीत शास्त्र, परिग्रह रहित, रत्नत्रयाधारक मुनि वर्ग इनमें जो स्थिर अनुराग उत्पन्न होता है उसे संवेग कहते हैं। **(सि.सा.सं.)**

धर्मात्मा में, धर्म कथा में, धर्म के आयतन में अनुराग होना संवेग गुण है। देव, शास्त्र, गुरु तथा उनके सेवकों में अनुराग होना संवेग कहलाता है।

दोष रहित देव, धर्म, यथार्थ शास्त्र और हितकारी निर्ग्रन्थ गुरु में जो अनुराग है वह संवेग कहलाता है।

धर्म और धर्म फल में अत्यन्त अनुराग होना संवेग है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

निर्वेद : संसार शरीर ओर भोगों से विरक्त होना निर्वेद है। पंच परावर्तन रूप संसार से कृतघ्न शरीर से तथा दुर्गति में ले जाने वाले भोगों से विरक्त होना निर्वेद है।

सर्प के फण के समान भोग, अपार दुख देने वाले संसार और रोग सहित शरीर में जो वैराग्य होता है वह निर्वेद है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

रत्नत्रय रहित पुरुष को उन्मत्त मित्र, पुत्र और स्त्री आदिक सर्व सामग्री मिथ्याकर्म के संयोग से प्राप्त होती है सिर्फ रत्नत्रय ही आत्मा का स्वभाव है। ऐसा चिंतन निर्वेद का लक्षण है। **(सि.सा.सं.)**

निन्दा : जब आत्मा कषाय से व्याकुल होता है तब वह सज्जन निन्द्य कार्य करता है परन्तु जब कषाय

का वेग कम होता है तब मैंने अयोग्य कार्य किया है ऐसा जो मन में अनुताप होता है उसे निन्दा कहते हैं। यह निन्दा नामक सम्यक्त्व का गुण निन्द्य पाप का नाश करने वाला है।

प्रमाद से असंयम से कषाय से अथवा अज्ञान से जो पाप रूप, विषय-कषाय मय निन्द्य परिणाम हुए हैं, अपनी पर्याय का दुर्लभता का विचार करते हुए निन्दा करना निन्दा गुण है। जैसे -

हा दुट्ठ कयं हा दुट्ठ चिन्तियं भासियं च हा दुट्ठम् ।
अंतो अंतो डज्जमि पच्छत्तावेण वेदन्तो ॥

पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि के निमित्त खोटा कार्य होने पर पुरुषों को जो पश्चात्ताप होता है विद्वज्जनों के द्वारा वह निन्दा कही गई है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

गर्हा : अपने दोषों को विनयपूर्वक गुरुजनों के चरणों में निवेदन करना गर्हा गुण है। गुरु की साक्षी पूर्वक पापों की आलोचना करना गर्हा है।

रागादि के द्वारा दोष होने पर अपने गुरु के सामने भक्तिपूर्वक जो आलोचना की जाती है वह जिनेन्द्र देव के द्वारा गर्हा कही जाती है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

राग-द्वेषादि दोषों के अधीन होकर जब पाप उत्पन्न होता है तब गुरु के आगे उसकी आलोचना करना यह सम्यक्त्व का गर्हा नामक गुण है। **(सि.सा.सं%)**

प्रशम/उपशम : क्षमा भाव को उपशम कहते हैं। कोई दुर्निवार तथा बहुत बड़ा कलुषता का कारण उत्पन्न होने पर भी जिसका मन क्षुब्ध नहीं होता वह भव्य जीव शान्तात्मा अर्थात् प्रशम गुण का धारक है। **(सि.सा.सं.)** जिसके चित्त में रागादि दोष स्थिरता नहीं करते वह श्रेष्ठ भव्य उपशम गुणों का धारक होता है। **(सर्वो.श्लो.सं.)** क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, उन्माद, वैर आदि मेरा अहित करने वाले हैं ऐसा जानकर इनकी मंदता होना इनको रोकना प्रशम गुण है।

भक्ति : पंच परमेष्ठी में, जिनवाणी में, जिनेन्द्र के प्रतिबिम्ब में, दशलक्षण धर्म में, धर्मात्माओं में, तपस्वियों में उनके गुणों का स्मरण करके गुणों में अनुराग करना यह भक्ति गुण है।

दोष रहित जिनेन्द्र देव में, चतुर्विध संघ में, रत्नत्रयाराधक में तथा गर्भादि पंचकल्याणक महोत्सव के प्रसंगों में सम्यग्दृष्टि अन्त:करण पूर्वक इच्छा और कपट रहित जो आराधना करता है वह उसका भक्ति नामक गुण कहा जाता है। यह गुण भव्य अर्थ की अर्थात् पुण्यफल रूप सम्पत्ति की प्राप्ति करने वाला है। **(सि.सा.सं.)**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और चारित्रवानों की भक्ति करना भक्ति है। **(का.अ. ३२६)**

सेवा के योग्य देव तथा इन्द्रों की पूजा के योग्य अरहन्त देव और सद्गुरु में पूजा आदि के साथ जो विनयादि की जाती है वह स्पष्ट ही भक्ति मानी जाती है। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

वात्सल्य : अन्न औषधि आदि के द्वारा चार प्रकार के संघ की जो प्रशंसनीय सेवा, सुश्रुषा, मन, वचन, काय से की जाती है, उसको वात्सल्य गुण कहते हैं। **(सि.सा.सं.)**

रोग से पीड़ित शरीर वाले साधु समूह की स्वभाव से औषधि आदि के द्वारा जो रोग निवृत्ति की जाती है, वह वात्सल्य गुण है।

जिस प्रकार दरिद्र व्यक्ति को धन प्राप्त होने पर आनन्द प्राप्त होता है उसी प्रकार धर्मात्मा को, सम्यग्दृष्टि को, सम्यग्ज्ञानी को, धर्म के व्याख्यान को सुनकर आनन्दित होना वात्सल्य गुण है।

साधर्मी के साथ वात्सल्य करना चाहिए। वात्सल्य भाव कर्म रूपी शत्रुओं को नाश करने वाला है। इस लोक और परलोक में कल्याण करने वाला है।

अनुकम्पा : दु:ख के सागर स्वरूप संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवों को देखकर के चित्त का आर्द्र होना दयालु पुरुष की अनुकम्पा कहलाती है। **(सर्वो.श्लो.सं.)** दूसरे के दु:खों को देखकर अपने ही दु:ख के समान कम्पायमान हो जाना उसके दु:ख को दूर करने का भाव होना अनुकम्पा है।

असातावेदनीय और अंतरायादि अशुभ कर्मों के उदय से प्रगट हुए दारिद्र्य, रोग चिन्ता आदि दु:खों से पीड़ित हुए जीवों पर दयार्द्र भाव उत्पन्न होना सो उसे जिनेश्वर अनुकम्पा भाव कहते हैं। **(सि.सा.सं.)** सभी प्राणियों पर दया करना अनुकम्पा है।

प्रश्न : निन्दा-गर्हा करने से क्या लाभ है?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि के (मनुष्य तिर्यंचों की अपेक्षा) देवायु का ही बंध होता है। यदि मिथ्यात्व दशा में नरकादि आयु का बंध हो गया है तो सातवें नरक की ३३ सागर की भी आयु घटकर प्रथम नरक की रह जाती है। उस आयु के कम होने का कारण सम्यग्दृष्टि जीव दिन प्रतिदिन क्षण-प्रतिक्षण जो अपने किये हुए खोटे कर्म की निन्दा, गर्हा और आलोचना किया करता है उसका ही यह सुफल होता है कि वह पूर्व बद्ध तीव्र अनुभाग और अधिक स्थिति वाले कर्मों को मंद अनुभाग और अल्पस्थिति वाला कर देता है। अत: प्रत्येक विवेकी पुरुष को प्रतिदिन अपने द्वारा किये गये पाप कार्यों की आलोचना, निन्दा-गर्हा करते रहना चाहिए।

१०. सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष

सम्यक्त्व को मलिन करने वाले २५ दोष हैं जिनका त्याग कर देने से २५ गुण प्रगट होते हैं- ८ शंकादि दोष, ८ मद दोष, ३ मूढ़ता तथा ६ अनायतन ।

आठ शंकादि दोष :

१. शंका दोष : सर्व परिग्रह को छोड़कर मुनिमार्ग के धारण करने से मोक्ष की प्राप्ति होगी या नहीं? तथा जीवादि तत्त्व ठीक हैं या नहीं? इसे कौन जानता है इत्यादि संदेह रूप आत्मा के भावों के होने को शंका कहते हैं।

२. कांक्षा : जो व्रत शीलादि पालन करके मैं राजा होऊँ, मैं पुत्रवान होऊँ, मैं सुन्दर रूप का धारण करने वाला होऊँ, मुझे अच्छी भोग सामग्री की प्राप्ति हो इत्यादि सांसारिक विषयों में जो अभिलाषा रखता है उसे आकांक्षा दोष कहते हैं। आकांक्षा चाह बुराई है अवगुण है।

३. विचिकित्सा : सम्यग्दर्शनादि से पवित्र मुनि आदि उत्तम पात्रों के रोगादि से पीड़ित तथा दुर्गन्धयुक्त शरीर को देखकर ग्लानि करने को तथा निन्दा करने को विचिकित्सा दोष कहते हैं।

४. मूढ़ दृष्टि : दु:खों के देने वाले खोटे मार्ग में चलने वालों के साथ मन वचन काय से सम्बन्ध रखने को मूढ़ दृष्टि नामक दोष कहते हैं। तप से च्युत, देशना से च्युत, शील से च्युत तथा पाप करने वालों की प्रशंसा करना, उनकी संगति करना मूढ़ दृष्टि नामका दोष है।

५. अनुपगूहन : किसी धर्मात्मा पुरुष के असावधानी से कोई दोष उत्पन्न हो जाय उसे ईर्ष्या बुद्धि से लोगों के सामने प्रकट कर देना यह अनुपगूहन दोष है।

६. अस्थितिकरण : कोई धर्मात्मा पुरुष यदि परीषह अथवा उपसर्गादि के आने से अपने दर्शन, ज्ञान चारित्रादि से विचलित होता है तो अपनी शक्ति के होने पर भी उसको धर्म में दृढ़ नहीं करना अस्थितिकरण दोष है।

७. अवात्सल्य : किसी कारण से धर्मात्मा पुरुषों पर किसी तरह की विपत्ति आ जाय उस समय में उसके चित्त को किसी तरह समाधान न करने को अवात्सल्य नामक दोष कहते हैं। तपस्वियों के ऊपर खल जनों के द्वारा दिये हुए घोरोपसर्ग देखकर अपनी भक्ति से उनको दूर नहीं करना वात्सल्य विवर्जित दोष है।

८. अप्रभावना : मिथ्यामतों के प्रचार को बल, प्रभाव आदि से दूर करके जैनमत के माहात्म्य का प्रचार नहीं करने को अप्रभावना दोष कहते हैं।

आठ मद दोष :

१. ज्ञानमद : ज्ञान होने पर यह सोचना कि मेरे बराबर ज्ञान किसी में नहीं है ये बेचारे अनपढ़ कुछ नहीं जानते हैं। मेरे सामने बड़े-बड़े विद्वानों की भी जिह्वा बन्द हो जाती है तथा ज्ञान नहीं होने पर

सोचना कि भले ही मैं अनपढ़ हूँ फिर भी मैं बातों में बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोगों के छक्के छुड़ा देता हूँ आदि विचार करना ज्ञानमद है।

२. पूजामद : थोड़ी सी समाज या घर आदि में पूछ होती देखकर सोचना कि संसार में मेरे बराबर कौन है? बड़े-बड़े वकील, अध्यापक, राजनेता आदि मेरे से पूछ कर काम करते हैं। कोई यदि नहीं पूछता है तो यह विचारता है कि मैं किसी की चापलूसी नहीं करता सही-सही सुना देता हूँ इसलिए लोग मेरे से बचकर निकलते हैं। कोई मेरे सामने नहीं आता, कोई हर्ज नहीं इसमें भी मैं किसी से कम नहीं हूँ आदि विचार करना पूजामद है।

३. जातिमद : जो अपनी उच्च जाति के जोश में नि:शंक होकर अच्छे-बुरे काम करता है। मेरे मामा, नाना, मौसी आदि इतने बड़े आदमी हैं, मैं कुछ गलत भी करूँगा तो कोई मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है आदि विचार करना जातिमद है।

४. बलमद : 'शक्ति: परेषां परिपीडनाय' की उक्ति वाले लोग अपने नश्वर शरीर के बल का गर्व करता है। वह यह सोचता है कि मैं एक क्षण में बड़े-बड़े मल्लों को जीत सकता हूँ। मैं कभी बीमार नहीं होता हूँ। मैं शिखरजी के पहाड़ को भी बिना किसी परिश्रम के चढ़ सकता हूँ आदि विचार करना बलमद है।

५. धनमद : लक्ष्मी को प्राप्त करके निर्धन या अपने से कम धन वालों को हीन दृष्टि से देखना, उल्टे-सीधे मनमाने कार्य करते रहना धन की आड़ में व्यसनों का सेवन करते हुए भी अपने आपको सच्चा साहूकार मानना धनमद है।

६. तपमद : तप अर्थात् उपवास उनोदर आदि भाँति-भाँति की तप करके उन्हें मद की मरम्मत करने में खोते हुए मन में इस प्रकार विचार करना कि मेरे बराबर तप कौन कर सकता है? यह आदमी भले ही व्रत उपवासादि करके अपने को शोषण कर रहा हो, नाना प्रकार के कायक्लेश करता हो लेकिन अंतरंग की शुद्धि तो मेरी ही ज्यादा है आदि विचार करना तपमद है।

७. शरीर का मद : अपने रूप का अर्थात् अपने शरीर को नाना प्रकार के वस्त्राभूषण पहना कर इत्र फुलेल आदि लगाकर अपने आपको सुन्दर समझना और दूसरे को हीन कुरूप समझना शरीर (रूप) मद है।

८. कुलमद : पिता की वंश-परम्परा की शुद्धि होना अथवा इक्ष्वाकु वंश, हरि वंश आदि में जन्म लेने का गर्व करना कुल मद है।

तीन मूढ़ता

१. लोक मूढ़ता : उचित, अनुचित का विचार किये बिना, नफा-नुकसान सोचे बिना ही लोगों की देखा-देखी जो काम किया जाता है उसे लोक मूढ़ता कहते हैं। **(मानवधर्म)**

नदी समुद्र आदि में स्नान करने को धर्म मानना, पत्थर और बालू रेत का ढेर लगाकर धर्म मानना, पर्वतादि से गिरकर प्राणों को विसर्जित करने में धर्म मानना और धर्म मानकर अग्नि में प्रवेश करना अर्थात् सती बनना आदि लोक मूढ़ता है।

२. देव मूढ़ता : राग-द्वेष से युक्त देवों की धन पुत्र कुलत्रादि के लिए सेवा करने को सारे संसार को जानने वाले श्री वीतराग भगवान देव मूढ़ता कहते हैं।

३. गुरु मूढ़ता : अनेक प्रकार के परिग्रहों को रखने वाले, जीवों की हिंसा रूप आरम्भ को करने वाले और संसार में जन्म-मरण के परिभ्रमण को करने वाले ऐसे कुगुरुओं की भक्तिपूर्वक सेवा-पूजन करना पाखण्डी/गुरु मूढ़ता है।

छह अनायतन

जो हमारे कार्य की सिद्धि में प्रतिकूल कारण हैं अर्थात् कार्य की सफलता में बाधक कारण ही अनायतन कहलाते हैं। जैसे हम सोने चांदी के बाजार में कपड़े की दुकान खोलकर बैठ गये तो हमारी दुकान नहीं चलेगी, क्योंकि वह कपड़ा बेचने के लिए अनुकूल स्थान नहीं है। इसी प्रकार हम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की आशा से कुगुरु कुदेवादि की सेवा करने लगे तो हमारे कार्य की सिद्धि नहीं होगी। यहाँ मोक्ष मार्ग/सम्यग्दर्शन का प्रकरण है इसलिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाधक कारण मुख्य रूप से छह कहे गये हैं, उन्हें ही कहते हैं -

१. कुदेव : वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान के अलावा सरागी देव कुदेव हैं।

२. कुदेव के भक्त : सरागी देवों की भक्ति, आराधना, अर्चना करने वाले लोग कुदेव के भक्त कहलाते हैं।

३. कुगुरु : जो आरम्भ परिग्रह से सहित हैं, ख्याति पूजा लाभ में लगे हैं, जिनलिङ्ग (मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, ऐलक) से बाह्य हैं और जिनलिङ्ग के अलावा शेष लिङ्गों को धारण करते हैं वे कुगुरु हैं।

४. कुगुरुसेवक : जो ऐसे कुगुरुओं की श्रद्धा रखते हैं वे कुगुरुसेवक हैं।

५. कुशास्त्र : जिसमें हिंसादि पाँच पापों का पोषण किया गया है, जो पूर्वापर विरोध से युक्त है जिसमें जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताये गये यथार्थ धर्म का उपदेश नहीं है वे सब कुशास्त्र हैं।

६. कुशास्त्र सेवक : इन कुशास्त्रों की आराधना करने वाले कुशास्त्र सेवक कहलाते हैं।

इन्हें असर्वज्ञ, असर्वज्ञ का आयतन, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञ के ज्ञान से युक्त पुरुष, असर्वज्ञ का अनुष्ठान तथा असर्वज्ञ के अनुष्ठान से सहित पुरुष कहा गया है।

जिस प्रकार अपने ग्रुप (समूह) की कुशल चाहने वाला सेनापति अपने ग्रुप के मदोन्मत्त हाथी के बच्चे की प्रतिपक्षियों के प्रबल हाथियों से रखा करता है, क्योंकि वह बच्चा है। बड़ा होने पर वह उन प्रबल हाथियों का घात करने के योग्य हो जायेगा तब स्वयं उसका घात कर देगा। इसी प्रकार प्रथम भूमिका में अन्य दृष्टियों के साथ भिड़ने से अपने आपको बचाना चाहिए अर्थात् अनायतन की सेवा नहीं करना चाहिए। उनके यहाँ आने-जाने का त्याग कर देना चाहिए।

अनायतन सेवा से बचने के विषय में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज

के तृतीय पट्टाधीश आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के जीवन का संस्मरण हमारे लिए बहुत उपयोगी है –

२५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आचार्य महाराज का वर्षायोग दिल्ली में चल रहा था। वहाँ १६ नवम्बर को चारों सम्प्रदायों का सामूहिक जुलूस निकालने की योजना बनायी गयी थी। जुलुस में मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज भी सम्मिलित थे। आधा जुलूस निकल जाने के बाद मुनिश्री आचार्य महाराज को बुलाकर जुलूस में ले गये। आचार्य महाराज ने जुलूस में जाकर दूर तक अपनी दृष्टि दौड़ाई उन्हें कहीं भी जिनेनद्र भगवान का विमान दिखाई नहीं दिया तो उन्होंने पूछा - प्रभु का विमान कहाँ है? मुनिश्री ने कहा - महाराजजी चलिए तो। आचार्यश्री ने कहा - हम तो मात्र जिनेन्द्र भगवान की सवारी के साथ चल सकते हैं, अन्य के साथ नहीं। इस प्रकार कह कर आचार्य महाराज ससंघ वापिस धर्मशाला में चले आये। जब वीतराग जिनेन्द्र भगवान का रथ आया तब आचार्य महाराज ने प्रभु की वंदना की और रथ के साथ चल दिये। कुछ दूर जुलूस के साथ चले और जब देखा कि अब सामायिक प्रतिक्रमण का समय हो गया है तो वे लौट आये। ऐसे थे हमारे पट्टाधीश आचार्य महाराज जो अनायतनों में जाने की बात तो बहुत दूर जुलूस में जबकि कोई देवी-देवता दिख भी नहीं रहे थे फिर भी चारों सम्प्रदायों का जुलूस होने से मुझे मिथ्यादेवों की अनुमोदना का दोष लगेगा, यह सोचकर लौट आये थे।

इसी प्रकार इस जुलूस के पश्चात् निर्वाणमहोत्सव कमेटी के कार्याध्यक्ष साहू श्री शांतिप्रसादजी की इच्छा थी कि भगवान महावीर स्वामी का एक ऐसा प्रामाणिक जीवन ग्रन्थ तैयार हो जो जैनियों के सभी सम्प्रदायों में मान्य रहे। काफी श्रम के बाद एक दिन ग्रन्थ तैयार हो ही गया। साहूजी ग्रन्थ लेकर आचार्य महाराज के पास आये और अपना मन्तव्य कहा। आचार्य महाराज ने उसे टालने की बहुत कोशिश की लेकिन साहूजी ने बहुत आग्रह किया कि गुरुवर आपकी मोहर इस पर लग जायेगी तो यह प्रामाणिक कहलायेगा। यह सुनकर आचार्य महाराज ने कहा - इसे छोड़ जाओ, मैं इसे पढ़ने के बाद ही कुछ कह सकूँगा। साहू जी ग्रन्थ वहीं छोड़कर चले गये। जब वे उस ग्रन्थ को लेने आये तो आचार्य महाराज ने कहा - मैंने इसे पूरा पढ़ लिया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु मैं अपनी सहमति नहीं दे सकता। जब साहूजी ने कारण जानना चाहा तो आचार्य महाराज ने कारण बताते हुए कहा - सेठजी ! महावीर स्वामी के जीवन आदर्श को लेकर चारों सम्प्रदायों का एक ग्रन्थ कैसे सम्भव है? वे (दिगम्बर जैन लोगों को छोड़कर) वस्त्रालंकार सहित भगवान को मानते हैं और हम वस्त्राभूषण से रहित वीतराग जिनेन्द्र देव को मानते हैं। हमारे भी वस्त्र नहीं हैं तो हमारे भगवान के वस्त्र कैसे हो सकते हैं? वे वस्त्र सहित भी साधु कहलाते हैं। इस प्रकार पद-पद पर मान्यताओं और सिद्धान्तों में भिन्नता है, नहीं, नहीं, इस ग्रन्थ को मेरी संस्तुति प्राप्त नहीं हो सकती है। साहूजी कुछ खिन्न हुए और बोले - गुरुवर, यदि यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ तो मुझे अकारण जैन समाज के अध्यक्ष पद से त्याग पत्र देना होगा। आचार्यश्री ने तुरन्त उत्तर दिया - अच्छा है, तुम दे ही दो त्याग पत्र। साहूजी बहुत प्रयत्नों के बाद भी आचार्य महाराज को अपने निर्णय से नहीं डिगा पाए। अत: हमें भी आचार्य महाराज के समान अनायतनों की सेवा से बचना चाहिए।

११. सम्यग्दर्शन की महिमा

बहुत कहने से क्या? जो श्रेष्ठ मनुष्य भूतकाल में सिद्ध हुए हैं और जो भी भव्य जीव भविष्यत् काल में सिद्ध होंगे उसको सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो। वे धन्य हैं, वे पुण्यशाली है, वे शूरवीर है और वे ही मनुष्य पण्डित बुद्धिमान हैं जिन्होंने मोक्ष देने वाले सम्यग्दर्शन को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया। **(त.वि.सा. ७३-७४)**

यह सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग के लिए पाथेय (मार्ग में चलते समय भोजन के समान सहायक पदार्थ) है और नरकादि दुर्गतियों के द्वार बंद करने के लिए मजबूत अर्गला (दरवाजे के भीतर किवाड़ों को बंद रखने के लिए लगाई जाने वाली मोटी लकड़ी) है। बुद्धिमान पुरुष बोधि शब्द से सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का ही ग्रहण करते हैं। यह सम्यग्दर्शन रूपी रत्न सूर्य के बिम्ब के समान अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करने वाला है और मिथ्यानयों का क्षय करने वाला है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चरित्र शोभायमान नहीं होता है। जिस प्रकार ज्योति के बिना नेत्र शोभायमान नहीं होते, घी के बिना भोजन शोभायमान नहीं होता। जिस प्रकार देवों में इन्द्र श्रेष्ठ है मनुष्यों में चक्रवर्ती श्रेष्ठ है और समुद्रों में क्षीर सागर श्रेष्ठ है उसी प्रकार मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है।

सम्यग्दर्शन के बिना जब अणुव्रत ही नहीं हो सकते हैं तो महाव्रत कैसे हो सकते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना अणुव्रत महाव्रत नहीं हो सकते हैं। तीव्र तप से तप्त होने से जिनका देह क्षीण हुआ है ऐसे मुनिराज भी जब सम्यग्दर्शन से निर्मल होते हैं तभी उनको आत्मा का अनुभव आता है। तीन लोक में सम्यक्त्व के समान कोई अमूल्य पदार्थ नहीं है क्योंकि इसको धारण करने से मनुष्य संसार का नाश करते हैं।

जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित हैं वे कितना ही घोर चारित्र पालन करें तथापि जिसका उल्लंघन नाश करना शक्य नहीं है ऐसे अनन्त सांसारिक दु:खों से पार नहीं लगा सकते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र तप आदि संसार से पार नहीं लगा सकते हैं।

संसार के दु:खों का मुख्यतया अंत करने वाला यह जिनेन्द्र भगवान का शासन ही है। वह जिसके हृदय में रहता है। वह विद्वद्गण में श्रेष्ठ है। जिसके मन में एक बार सम्यग्दर्शन की वासना उत्पन्न होती है, वह नर सर्वजनों में श्रेष्ठ होता है ऐसा समझना चाहिए। **(सि.सा.सं.)**

सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थों की उपलब्धि होने पर यह जीव कल्याण और अकल्याण को विशेष रूप से जानता है। **(द.पा. १५)**

तीन काल और तीन लोकों में सम्यग्दर्शन के समान प्राणियों का दूसरा हितकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान अहितकारी नहीं है। **(र.क.श्रा. ३४)**

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को हे भव्य जीवो ! भावपूर्वक धारण करो। यह सम्यग्दर्शन रूपी रत्न उत्तम क्षमादि गुणों तथा सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों में श्रेष्ठ है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है। **(द.पा. २१)**

यह सम्यग्दर्शन रूप धर्म व्यसन रूपी मगर के मुँह से, संशय रूपी सिंह के पंजे से, संकल्प-विकल्प रूपी महामत्स्य से पूर्ण रक्षा करता है। स्वर्गादि सुखों के अतिरिक्त निर्वाण सुख की प्राप्ति भी इस धर्म के पालन से ही होती है। **(धर्मा.)**

जिस प्रकार समस्त ताराओं में चन्द्रमा और समस्त वन्य पशुओं में सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनिधर्म और श्रावक धर्म में सम्यक्त्व प्रधान है। **(भा.पा. १४३)** अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना न मुनिधर्म होता है और न ही श्रावक धर्म होता है।

जिस प्रकार हजार फणाओं पर स्थित मणियों के बीच विद्यमान माणिक्य की किरणों से देदीप्यमान शेषनाग शोभित होता है उसी प्रकार जिनभक्ति रूप सिद्धान्त से युक्त निर्मल सम्यगदर्शन का धारक जीव शोभित होता है। **(भा.पा. १४३)**

इस प्रकार गुण और दोष को जानकर हे भव्य जीवो ! तुम उस सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को भाव से धारण करो जो कि गुण रूपी रत्नों में श्रेष्ठ है तथा मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है। **(भा.पा. १४५)**

जिस प्रकार निर्मल आकाश में तारागण से सहित चंद्रमा का बिम्ब सुशोभित होता है उसी प्रकार निरतिचार व्रतों से सहित एवं सम्यग्दर्शन से विशुद्ध जिनबिम्ब सुशोभित होता है। **(भा.पा. १४४)**

अधिक कहने से क्या ! अतीत काल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में जितने सिद्ध होंगे उन सबको तुम सम्यग्दर्शन का माहात्म्य जानो। **(मो.पा. ८८)**

वे ही मनुष्य धन्य हैं, वे ही कृतकृत्य हैं, वे ही शूरवीर हैं और वे ही पण्डित हैं जिन्होंने सिद्धि को प्राप्त कराने वाले सम्यग्दर्शन को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है। **(मो.पा. ८९)**

जीव से रहित शरीर शव कहलाता है और सम्यक्त्व से रहित (जीव) चलता फिरता शव कहलाता है। शव इस लोक में अपूज्य होता है और चल शव मरण के बाद प्राप्त होने वाले उत्तर लोक में भी अपूज्य होता है। **(भा.पा. १४१)**

सम्यग्दर्शन से युक्त नीच कुल में उत्पन्न चाण्डाल को गणधर भगवान देव (सम्माननीय) कहते हैं। जैसे भस्म में दबा अंगारा अंदर में जगमग करता रहता है। **(र.क.श्रा. २८)**

जिस प्रकार कस्तूरी का जन्म स्थान निर्मल नहीं है, वर्ण भी उसका प्रशंसनीय नहीं है, शरीर में लगाने पर शोभा तो दूर रही कीचड़ की शंका उत्पन्न करती है। यद्यपि यह ऐसी है परन्तु समस्त सुगंधित पदार्थों के गर्व को हरती है। कौन जानता है कि कस्तूरी की सार वस्तु उसकी सुगंध ही है। इसी प्रकार सम्यक्त्व रुपी गुण से युक्त चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुआ भी विज्ञजनों में प्रशंसनीय होता है।

सम्यग्दर्शन के बिना जीवों का ज्ञान तो अज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है और समस्त तप निष्फल है। ऐसा जानकर नि:शंकितादि गुणों के द्वारा शंका और मूढ़तादि मलों को दूर कर सम्यक्त्व को चन्द्रमा के समान निर्मल और दृढ़ करना चाहिए। **(वी.व.चा.)** सम्यग्दर्शन सहित शुद्ध (विशुद्ध) भावों को धारण करने से और सम्यगदर्शन पूर्वक महाव्रत-अणुव्रत आदि धारण करने से उत्तम देवायु का बंध होता है। विशुद्ध भावों से उत्तम देव आयु और मलिन भावों से कुदेव अर्थात् भवनत्रिक आयु का बंध होता है।

इस जीव को मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शनादि पूर्वक चित्त शुद्धि से होती है। जिनके ऐसी चित्त की शुद्धि प्राप्त नहीं हुई है और मिथ्यात्व के उदय से चित्त की मलिनता प्रति समय बढ़ रही है। ऐसे जीवों को नरक या निगोद गति का बंध होता है इसलिए भावों को विशुद्ध बनाना चाहिए।

यदि यह जीव नरक में भी गया हो और वहाँ सम्यक्त्व से भूषित हो तो समझना चाहिए कि वह देव ही है और सम्यक्त्व रहित देव भी हुआ हो तो समझना चाहिए वह नरक ही में गया है। पशु होकर भी यदि सम्यक्त्व युक्त है तो वह मनुष्य ही है और मनुष्य होकर भी यदि मिथ्यात्व से युक्त है तो उसे पशु कहना चाहिए। **(ध.सं.श्रा.)** जिस प्रकार सामान्य पाषाण और मणि में सरसों और मेरु के समान महान् अंतर है उसी प्रकार मिथ्यात्व सहित कषायों की मंदता होना, ग्यारह अंग का ज्ञान होना तेरह प्रकार का दुर्द्धर चारित्र पालन करना तथा १२ प्रकार का घोर तपश्चरण करना सामान्य पत्थर के समान मूल्यहीन है अर्थात् सामान्य पत्थरों का ढेर भी लगा हो तो भी उसका मूल्य कोड़ी के बराबर होता है और सम्यक्त्व सहित अल्प शमभाव हो, अत्यन्त अल्प ज्ञान हो, अल्प ही तप हो और अल्प ही चारित्र हो तो भी बहुमूल्य होते हैं अर्थात् मणि का एक टुकड़ा या पाषाण भी मणि है उसका मूल्य जीवन भर की दरिद्रता को नष्ट करने वाला होता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व सहित शम भाव आदि में भवनवासी आदि देवों में जाकर पुन:-पुन: संसार में परिभ्रमण होता है और सम्यक्त्व सहित थोड़े शमभाव आदि से भी वैमानिक देवों की विभूति के साथ परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। **(आ. शा. १५ भावार्थ)**

हे भव्य जीवो ! तुम इस सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार है, सर्वकल्याणक का बीज है और संसार समुद्र के पार करने के लिए जहाज है। इसे एक मात्र भव्य जीव ही प्राप्त कर सकते हैं। पाप रूपी वृक्ष को काटने के लिए यह कुल्हाड़ी के समान है, तीर्थों में ये ही एक पवित्र तीर्थ है और मिथ्यात्व का नाश करने वाला है। **(ज्ञानार्णव)** जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति सम्भव नहीं है उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में ताप और चारित्र की भी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती है। **(र.क.श्रा.)** यह सम्यग्दर्शन संवेगादि आठ गुणों से निरन्तर वृद्धिंगत होता है, संसार का छेद करने वाला है, कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान की शुद्धि का कारण है, अविनाशी मोक्ष रूप महल पर आरोहण करने वाले बुद्धिमान शिष्यों के लिए प्रथम सीढ़ी की तरह है और यह सम्यग्दर्शन चार आराधनाओं में प्रथम आराधना है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि पुरुषों के कषायों का शमन, शास्त्रों का अभ्यास, पापों का त्याग, अनशनादि तपों का महत्त्व पाषाण की तरह भार है। मुक्ति का कारण नहीं है किन्तु वही शम, बोध, व्रत, तप जब सम्यग्दर्शन से संयुक्त होते हैं तो महामणि की तरह पूज्य मुक्ति के कारण होते हैं। **(आ.शा. ११-१५)**

एक ओर सम्यग्दर्शन का लाभ प्राप्त हो और दूसरी ओर तीन लोक का राज्य प्राप्त हो तो तीन लोक के राज्य की अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है क्योंकि तीन लोक का राज्य तो मिलने पर भी सीमित काल में छूट जाता है परन्तु सम्यग्दर्शन तो जीव को अक्षय सुख प्राप्त कराता है। सम्यग्दर्शन

सब रत्नों में महारत्न है। सब योगों में उत्तम योग है। सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है। अधिक क्या? सम्यक्त्व ही सब सिद्धियों को करने वाला है। **(का.अ.)** सम्यग्दर्शन रूपी पवित्र भूमि में गिरा हुआ दु:ख रूपी बीज भी कदाचित् अंकुरित नहीं होता और बिना बोया गया भी सुख रूप बीज सदा अंकुरित होता है। **(अ.श्रा.)** जहाँ पर गरुड़ बैठा हो वहाँ पर क्या विषधर सर्प ठहर सकते हैं इसी प्रकार जिसके हृदय में सम्यक्त्व गुण प्रकाशमान है वहाँ पर क्या कर्म ठहर सकते हैं? अर्थात् शीघ्र निर्जीण हो जाते हैं। **(सावयधम्म)**

संसार में सम्यग्दर्शन दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र का बीज है। यही उत्तम पुरुषार्थ है, यही उत्तम पद है, यही उत्कृष्ट ज्योति है, यही श्रेष्ठ तप है, यही पदार्थों की सिद्धि है, यही परम मनोरथ है, यही अतीन्द्रिय सुख है, कल्याणों की परम्परा रूप सम्यग्दर्शन के बिना सर्वज्ञान मिथ्याज्ञान, सभी चारित्र, मिथ्याचारित्र तथा तप बालतप की कोटि में ही आते हैं।

मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन तथा संसार रूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है। जैसे भवन का मूल आधार नींव है, उसी प्रकार सर्व व्रतों का मूल आधार सम्यग्दर्शन है।

राजा श्रेणिक ने पहले बहुत आरम्भ और परिग्रह के कारण तमस्तय: नामक सातवें नरक की जो उत्कृष्ट स्थिति बांध रखी थी उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रभाव से प्रथम पृथ्वी सम्बन्धी ८४००० वर्ष की मध्यम स्थिति रूप कर दिया। गौतम स्वामी कहते हैं कि कहाँ तो ३३ सागर और कहाँ यह जघन्य स्थिति? अहो क्षायिक सम्यग्दर्शन का यह अद्भुत लोकोत्तर माहात्म्य है। **(हरि.पु. २/१३६-३८)**

जिस प्रकार बलवान राजा शत्रुओं के समूह को भी देखते-देखते ही तितर-बितर कर नष्ट कर देता है उसी प्रकार सारभूत एवं उत्कृष्ट आठ अंग से युक्त सम्यग्दर्शन जिस समय बलवान हो जाता है उस समय वह क्षण भर में कर्म रूपी बैरियों को जड़ से उखाड़कर दूर फेंक देता है। जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन को ही अनुपम मोक्ष महल की पहली सीढ़ी एवं धर्म का बीज बतलाया है। जिस महानुभाव ने सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया है वही पुरुष मोक्ष मार्ग में स्थित है एवं वही तीन लोक की लक्ष्मी को भोगने वाला है। जिस पुरुष के हृदय में अमूल्य सम्यग्दर्शन रूपी रत्न विराजमान है वही महानुभाव इहलोक और परलोक में विद्वानों की दृष्टि में महाधनवान है। उससे बढ़कर कोई धनवान नहीं है। धन तो केवल इसी लोक में सुख एवं दु:ख देने वाला है परन्तु सम्यग्दर्शन रूपी चिंतामणि रत्न ऐसा धन देता है जिसमें तीनों लोक में सुख ही सुख मिलता है। सम्यग्दर्शन से श्रेष्ठ न तो संसार में कोई बन्धु है और न सदा हित करने वाला स्वामी है, क्योंकि यह सम्यग्दर्शन जीव को स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों को प्रदान करने वाला है। सभी पापों को जड़ से नाश करने वाला एवं धर्म को प्राप्त कराने वाला है इसलिए जीवों को चाहिए कि ऐसे परम उपकारी एवं सर्वदा हितकारी सम्यग्दर्शन को सबसे पहले प्राप्त करे क्योंकि इस सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से मुक्तिरूपी लक्ष्मी वश में हो जाती है तथा मिथ्यात्व की संतान को जड़ से उखाड़कर यही सम्यग्दर्शन तीर्थंकर आदि की अनुपम विभूति को प्रदान करता है। **(मल्लि पु.)**

सम्यक्त्व का लाभ और तीन लोक का लाभ ये दो लाभ हैं इनमें जो सम्यक्त्व का लाभ है

वह लाभ सर्वश्रेष्ठ है, उत्कृष्ट है। ऐसा सारभूत रत्नत्रय के ज्ञाता, गणधरादि देव कहते हैं, क्योंकि त्रैलोक्य को प्राप्त करके भी यह जीव उससे नियम से गिर जाता है और सम्यक्त्व को प्राप्त करके नियम से यह जीव अक्षय मुक्ति लक्ष्मी को हमेशा के लिए प्राप्त कर लेता है। **(म.क. ७७३-७४)**

जो साधु सम्यग्दर्शन सहित है उसके मोहनीयादि कर्मों का क्षय थोड़े से ही तप से हो जाता है इसलिए साधु लोग उस सम्यग्दर्शन को पाले-पोसे और बढ़ावे। आठ प्रकार का ज्ञान और तेरह प्रकार का चारित्र सब ही सम्यग्दर्शनमूलक ही है। उस सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र नहीं होते हैं। इसलिए मोक्ष के साधनों का या साधनभूत उस सम्यक्त्व का प्रतिपालन करे। **(नीतिसार समु.)**

सम्यग्दर्शन उसी प्रकार पूज्य है जिस प्रकार पाषाणों में निरवद्य अनुपम मणि। इससे युक्त व्यक्ति गतरूप (कुरूप) होकर भी सुरूप अर्थात् सुन्दर एवं सम्यग्दृष्टि माना जाता है। वह सम्यग्दृष्टि धन रहित होते हुए भी महान् धनवाला तथा निष्क्रिय होते हुए भी विहित क्रियाओं तप व्रतों से युक्त तथा मूढ़ होते हुए भी वह बन्धुजनों में अग्रेसर माना जाता है। प्रिय नहीं होते हुए भी कुलीन युवती ही श्रेष्ठ मानी जाती है अर्थात् विधवा नारी भी सम्यक्त्व के कारण भगवती/पूज्या मानी जाती है। कुलीन नारी के बिना जैसे घर की स्थिति अनिष्टकारी होती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना तप, व्रत, दान, पूजा, उपवास आदि प्रमुख क्रियाएँ विरूप मानी जाती है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने पर ४१ प्रकृतियाँ जिनका बंध मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्यात्व के सम्मुख सासादन सम्यग्दृष्टि के ही होता है वे नहीं बंधती है अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि चाहे सातवें नरक का नारकी भी हो उसके इन प्रकृतियों का बंध कभी नहीं हो सकता है -

१. मिथ्यात्व २. हुण्डकसंस्थान ३. नपुंसक वेद ४. असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन ५. एकेन्द्रिय ६. स्थावर ७. आतप ८. सूक्ष्म ९. साधारण १०. अपर्याप्त ११. द्वीन्द्रिय १२. त्रीन्द्रिय १३. चतुरिन्द्रिय १४. नरकगति १५. नरकगत्यानुपर्व्य १६. नरकायु १७. अनन्तानुबन्धी क्रोध १८. अनन्तानुबन्धी मान १९. अनन्तानुबन्धी माया २०. अनन्तानुबन्धी लोभ २१. निद्रा-निद्रा २२. प्रचला-प्रचला २३. स्त्यानगृद्धि २४. दुर्भग २५. दुःस्वर २६. अनादेय २७. न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान २८. स्वाति संस्थान २९. वामन संस्थान ३०. कुब्जक संस्थान ३१. वज्रनाराचसंहनन ३२. अर्धनाराच संहनन ३३. नाराच संहनन ३४. कीलकसंहनन ३५. अप्रशस्तविहायोगति ३६. स्त्रीवेद ३७. तिर्यञ्चगति ३८. तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य ३९. तिर्यञ्चायु ४०. उद्योत ४१. नीचगोत्र ।

जिस तरह सुवर्ण का ऊपरी मैल दूर होने से वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है उसी तरह अनादि काल से कर्मों के जाल में फँसा हुआ यह आत्मा अपने आगामी अच्छे होनहार से सम्यक्त्व रूप भूषण से अलंकृत हो जाता है। उस समय तीनों लोक में ऐसा कोई बहुमूल्य पदार्थ नहीं रहता जो आत्मा के समान कहा जा सके। जिस प्रकार रोगमुक्त मनुष्यों को पथ्य सहित औषधि रोगों के दूर करने में समर्थ होती है उसी प्रकार दुर्निवार कर्म रूप रोगों के शांत करने के लिए दोष रहित सम्यक्त्व जैसा उपकारक है वैसा दूसरा कोई हितकारी उपास्य नहीं है। **(ध.सं.श्रा.)** इसमें कोई संदेह नहीं है कि बिना सम्यग्दर्शन

के यह प्राणी सर्वथा पशु ही है क्योंकि जिस प्रकार जन्म का अन्धा पुरुष सूर्य को नहीं जानता है उसी प्रकार बिना सम्यग्दर्शन के यह प्राणी धर्म-अधर्म को भी नहीं जान सकता है। सम्यक्त्व सहित नरक में निवास करना अच्छा है क्योंकि वह नरक से निकलकर लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाला तीर्थंकर होता है परन्तु बिना सम्यग्दर्शन के देव बनकर स्वर्ग में रहना अच्छा नहीं है क्योंकि स्वर्ग में भोगों में तत्पर रहने वाला स्वर्ग का देव भी आर्त्तध्यान में लीन होकर स्थावर जीवों में उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन से सुशोभित चाण्डाल भी देव के समान और बिना सम्यग्दर्शन के साधु भी स्थान-स्थान पर निन्दनीय गिना जाता है। जिस भव्य के पास सम्यग्दर्शन है उसके हाथ में चिंतामणि रत्न समझना चाहिए। जिसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है उसने जन्म लेने का फल पा लिया है। सम्यक्त्व से रहित साधु को भी वृक्ष के समान ही समझना चाहिए क्योंकि जैसे वृक्ष अकेला रहता है और साधु भी अकेला रहता है, वृक्ष हिंसा नहीं करता है, वन में रहता है, शीत-उष्ण की बाधाओं को सहन करता है फिर भी जिस प्रकार वृक्ष को कभी मोक्ष नहीं होता है उसी प्रकार उस साधु को मोक्ष नहीं होता है। सम्यग्दर्शन से सुशोभित गृहस्थ धर्म ही अच्छा है क्योंकि सम्यक्त्व सहित गृहस्थ धर्म भी भविष्य में मोक्ष का कारण है। **(प्रश्नो. श्रा.सं.)** जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे तीनों लोकों में भ्रष्ट हैं क्योंकि वह कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जिस प्रकार प्राण रहित शरीर को लोग मृतक कहते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित मनुष्य चलता-फिरता जीवित होकर भी मृतक कहलाता है। सम्यग्दर्शन के साथ-साथ केवल नमस्कार मंत्र आदि का ज्ञान होने पर वह जीव सम्यग्ज्ञानी कहलाता है। ऐसा श्री गौतम आदि गणधरों ने कहा है परन्तु ११ अंगों को जानने वाला मुनि भी बिना सम्यगदर्शन के अभव्यसेन मुनि के समान अमूल्य है और उपमा रहित है इसलिए सुख प्राप्त करने के लिए इसे अवश्य धारण करना चाहिए। जिन्होंने सम्यग्दर्शन को पाकर स्वप्न में भी उसे मल दोष के समीप नहीं रखा है। वे ही मनुष्य संसार में धन्य है, पूज्य हैं, वन्दनीय हैं, प्रशंसनीय हैं और वे ही विद्वानों में सर्वोत्तम विद्वान हैं। **(प्र.श्रा.सं.)**

यह सम्यग्दर्शन नरक रूपी घर को बंद कर देने के लिए किवाड़ों के समान है और सब तरह की शंकाओं से रहित है। यह सम्यग्दर्शन कर्म रूपी पर्वत को चूर-चूर करने के लिए वज्र के समान है, दु:ख रूपी दावानल अग्नि को शांत करने के लिए मेघ की धारा के समान है। मोक्ष के सारभूत सुख को देने वाला है और अनेक गुणों का घर है अतएव मोक्ष प्राप्त करने के लिए तू इसे धारण कर।

हे मानवो ! कषायों को कम करके पंचेन्द्रिय के विषयों का सेवन नहीं करना इसका पथ्य या हितकारी उपाय उत्तम निर्दोष सम्यग्दर्शन है। जो प्राणी कषायों के आताप से जल रहे हैं वही विषय रूप रोग से या विष से मूर्च्छित है तथा जो अनिष्ट संयोग व इष्ट वियोग से दु:खित है उसके लिए यह सम्यग्दर्शन परम हितकारी है। शंका, कांक्षा आदि आठ मुख्य दोषों से रहित यह सम्यग्दर्शन परम रत्न है, संसार से दु:ख रूपी दारिद्र्य को यह निश्चय से नाश कर देता है। जो भव्य जीव सम्यग्दृष्टि है उसको निश्चय से निर्वाण का लाभ होगा और इस मिथ्यादृष्टि जीव का हमेशा इस संसार में भ्रमण रहेगा। जो कोई सम्यग्दर्शन को दृढ़ता से रखने वाला है और सदाचार में चलने वाला है वही पण्डित है वही साधु है वही प्रेम से दर्शन करने योग्य है, वही धर्म को मानने वाला है। जो कोई सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान

रूपी औषधियों से जरा मरण रूपी रोगों को दूर करता है वही मोक्ष कहा जाता है। शीघ्र ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भावना करनी योग्य है। बड़ी कठिनता से एवं भली प्रकार से चारित्र के पालने से पाया हुआ यह मनुष्य जन्म वृथा चला जा रहा है। भूतकाल में कभी भी जिसे नहीं पाया था उस श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन को तूने अब पा लिया है। **(सा.स.)**

जो मनुष्य खोटे कर्म के उदय से दु:खित होने पर भी संतुष्ट होकर अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति को करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन को धारण करता है वह अकेला ही अत्यन्त प्रशंसा के योग्य समझा जाता है किन्तु जो अत्यन्त आनन्द को देने वाले सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग से बाह्य है, वर्तमान काल में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न है ऐसे मिथ्यामार्ग में गमन करने वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य आदि बहुत से अर्थात् बहुत ज्यादा भी होवे तो भी वे प्रशंसा के योग्य नहीं है। **(प.प.वि.)**

मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है तथा संसार रूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है इसलिए मोक्षाभिलाषी उत्तम पुरुषों के सम्यग्दर्शन के पाने पर उसकी रक्षा करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि नरक तिर्यञ्च आदि नाना प्रकार की योनियों से व्याप्त इस संसार में अनादिकाल से भ्रमण करता हुआ और खोटे कर्मों से युक्त यह प्राणी बहुत काल के व्यतीत होने पर भी इस सम्यग्दर्शन को कहाँ पा सकता है अर्थात् सम्यग्दर्शन पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

यदि ये प्राणी सम्यग्दर्शन रूपी ब्रह्मा के चरणों का आश्रय लेते हैं तो पुण्य के उदय से बबूल आदि काँटे वाले वृक्ष भी कल्पवृक्ष हो जाते हैं। सामान्य पाषाण भी चिंतामणि रत्न हो जाता है। साधारण गाय भी कामधेनु हो जाती है अथवा इस लोक में प्राणियों का ऐसा कल्याण न हुआ है न होगा। जिस महात्मा के हृदय में सम्यग्दर्शन देवता बोलता है उसके लिए भयंकर सिंह भी शृगाल के समान हो जाता है, भयंकर मदोन्मत्त हाथी जड़ हो जाता है, भयंकर आग भी पानी हो जाती है, भयंकर सर्प केंचुआ हो जाता है, समुद्र स्थल हो जाता है, साँकल मोती की माला बन जाती है, चोर उसका दास बन जाता है, अधिक क्या कहें उसके नाम का उच्चारण करने मात्र से भी ग्रह, शाकिनी, ज्वरादि व्याधियाँ और शत्रु आदि जैसी प्रकृष्ट विपत्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं।

हे मुमुक्षुओ ! परम पुरुष परमात्मा की प्रधानभूत शक्ति सम्यग्दर्शन की उपासना करो। जो मनुष्य शिवनारी के कटाक्षों को विस्तृत करती हुई शंकादि दोषों से रहित होने से प्रसन्न होती है तथा जिसके द्वारा प्रभावित हुई नियति अर्थात् पुण्य मिथ्यात्व के द्वारा प्राप्त होने वाले एकेन्द्रियादि शरीरों की उत्पत्ति को रोककर ऐसा अभ्युदय देती है जो तीनों लोकों के प्राणियों को प्राप्त नहीं हो पाता है।

जो दुर्निवार रागादि शत्रुओं का विनाश करके ऊपर को उठते हुए संवेग रूपी रथ पर आरूढ़ होकर सर्वत्र दया रूपी कमलिनी का विकास करते हुआ आस्तिक्य रूपी मार्ग को प्रगट करता है, तीनों लोकों में पूजा जाता है, मोक्ष रूपी लक्ष्मी का प्रेमपूर्वक सेवन करने के इच्छुकों को उसकी प्राप्ति का उपाय है तथा जो आराधकों को इच्छित पदार्थों से संतुष्ट करता है वह सम्यक्त्व रूपी सूर्य जयवंत हो अपने समान उत्कर्ष के साथ शोभित हो।

अधिक कहने से क्या? अतीत काल में जो नरश्रेष्ठ मुक्त हुए हैं और भविष्य में जो मुक्त होंगे वह सम्यक्त्व की महिमा ही है। जैसे वीरता के बिना सैनिक, नाक के बिना मुख, मुद्रिका के बिना अंगुली, सुन्दर अंगुलियों के बिना हाथ और तेल के बिना दीपक अपना काम सुचारू रूप से नहीं कर सकता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन धारण किये बिना धर्म का पालन नहीं हो सकता। जैसे गंध बिना घी का स्वाद, प्रेम बिना प्रभुत्व, मोह बिना संसार, भक्ति बिना स्तुति, शक्ति बिना युद्ध, धन बिना वैभव, नगर बिना राजा, फल बिना बगीचा, कुलीनता बिना महिला, रास्ते बिना गमन, घी बिना भोजन, अग्नि बिना रसोईशाला, विश्वास बिना सेवा, सौन्दर्य बिना नारी, दया बिना आचार/आचरण, सामान बिना दुकान, पति बिना सती स्त्री, मद बिना हाथी, जल बिना गाँव एवं विवेक बिना तप शोभित नहीं होते उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना जप, तप, दान, संयम शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं।

शील, दान, तप और पूजा ये समीचीन पुण्योपार्जन के जो चार कारण है, वे सम्यक्त्व पूर्वक ही महान् फल देने वाले होते हैं। संसार में सुख की स्वानुभूत देवगति और मनुष्यगति को छोड़कर सम्यग्दृष्टि मनुष्यों (जीव) की अन्य गति नहीं होती है। लोक में मनुष्य को निधि, स्त्री तथा वाहन आदि का मिलना सुलभ है पर सम्यग्दर्शन रूपी रत्न साम्राज्य से भी दुर्लभ है।

ध्यान दुःख का निधान है, तप का फल संताप मात्र है, स्वाध्याय भी बंधन है। अज्ञानीजनों के इन्द्रिय निग्रह भी अच्छा फल देने वाले नहीं हैं, अनुपम दान, शील निश्चय से श्री को देने वाले नहीं हैं तथा तीर्थादि की यात्रा भी वृथा है। सम्यग्दर्शन से रहित सभी कार्य सार हीन हैं।

पृथिवी में समस्त विद्याओं को हस्ततल पर रखे आमलक के समान अर्थात् स्पष्ट रूप से जानकर तथा करोड़ों युगान्तरों में तपकर भी जो सम्यग्दर्शन रूप अमृत एवं रसायन के पान से रहित है वे अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी का अनुभव नहीं कर सकते हैं।

जो प्राणी अन्तर्मुहूर्त्त भी निर्मल सम्यग्दर्शन की उपासना कर शीघ्र ही छोड़ देता है। वह भी संसार के मार्ग में चिरकाल तक भ्रमण नहीं करता फिर जो उसे चिरकाल तक धारण करता है उसके विषय में क्या कहें ?

सम्यक्त्वरूपी रत्न से बढ़कर दूसरा रत्न नहीं है। सम्यक्त्वरूपी मित्र से बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है। सम्यक्त्व रूपी बन्धु से बढ़कर दूसरा बन्धु नहीं है और सम्यक्त्व के लाभ से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं है।

सम्यक्त्व के बिना मनुष्य के शम क्षमा ज्ञान चारित्र और तप का गौरव पाषाण के गौरव के समान है। यदि यही सब कार्य सम्यग्दर्शन से सहित है तो महमणि के समान पूज्य होता है।

यह अनर्घ सम्यग्दर्शन रूपी रत्न संयम रूपी चोर को भगाने में समर्थ है और विश्वास रूपी सांकल के द्वारा या मन रूपी वज्र कपाटों को बंद करने में निपुण है। जैसे सूर्य गहन अंधकार को, वायु मेघ को, अग्नि विशाल वन को और वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है उसी प्रकार सम्यक्त्व कर्मों को नष्ट कर देता है। **(र.सा. १५९)**

सम्यग्दृष्टि जीव अन्त में उस मोक्ष को प्राप्त होते हैं जो जरा से रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्या का वैभव चरम सीमा को प्राप्त है तथा जो कर्ममल से रहित है। सम्यग्दर्शन की वास्तविक महिमा यह है कि वह अनन्त संसार को काट कर अर्धपुद्गल परावर्तन कर देता है। **(ध.पु. ५/११)**

जिस सम्यक्त्व द्वारा निरन्तर अभ्युदय आदि की परम्परा प्राप्त होती है उस सम्यक्त्व रत्न का मूल्य लोक में नहीं है वह तो अमूल्य है। उसका मूल्यांकन हो नहीं सकता। **(म.क. ७७२)** सम्यग्दर्शन से सहित शुद्ध मनुष्य ही विद्वानों के द्वारा सत्पुरुष कहा जाता है। सम्यक्त्व के बिना जीव पशु ही है इसमें संशय नहीं है।

यह सम्यग्दर्शन इतर सम्पूर्ण गुणों की प्राप्ति का कारण समस्त सुखों की निधि, बाधा से रहित तथा आत्मा को कुगति से बचाकर समस्त भयंकर रोगों को नष्ट करने वाला है। **(ध.र.)** सम्यग्दर्शन संसार समुद्र में चारित्र रूप जहाज पर सवार होकर निर्वाण रूप द्वीप को जाने वाले भव्य जीव रूप सार्थवाह को खेवटिया है। **(चा.सा.)** व्रत और शीलों से विशिष्ट सम्यग्दर्शन ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार जिनधर्म रूपी तो कमल हो और उसमें व्रत शील पत्ते हों और मध्य में शोभायमान सम्यग्दर्शन रूपी कर्णिका हो।

सम्यग्दर्शन रूपी बन्धु के समान दूसरा बन्धु नहीं है। सम्यग्दर्शन के समान कोई उतकृष्ट मित्र नहीं है, सम्यग्दर्शन के बराबर कोई दूसरा सुख नहीं है।

जिस जीव ने मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है उसके तप और शास्त्र सम्बन्धी राग उस प्रकार अभ्युदय का कारण है जिस प्रकार कि रात्रि सम्बन्धी अन्धकार को नष्ट करने वाले सूर्य के प्रात:कालीन संध्या सम्बन्धी राग अभ्युदय का कारण होता है। कवि लोग राग का वर्णन लाल करते हैं। सूर्य प्रात:काल एवं सायंकाल दोनों समय समान रूप से लाल होता है परन्तु दोनों समय की लालिमा का फल पृथक्-पृथक् होता है। प्रात:काल की लालिमा का फल प्रकाश की उत्पत्ति तथा सायंकाल की लालिमा का फल अन्धकार की उत्पत्ति है। इसी प्रकार जीव के अशुभ भाव रूपी राग अर्थात् मिथ्यादृष्टि का राग संसार का कारण तथा शुभभाव रूपी राग अर्थात् सम्यग्दृष्टि का राग परम्परा से मोक्ष का कारण है। शुभ भाव के बाद शुद्ध भाव रूपी साक्षात् मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है/हो सकती है।

जब यह जीव सम्यक्त्व रूपी विस्तृत प्रकाश को छोड़कर पुन: मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को प्राप्त होता है तब पुन: सायंकालीन सूर्य के समान लालिमा को प्राप्त होता हुआ पाताल तल नरकादि गति को प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव तो अपनी भूमिका के अनुसार शुभ राग करता ही है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव भी मिथ्यात्व के मंद उदय में देव शास्त्र गुरु की भक्ति रूप राग करता है, इतना होने पर भी दोनों के अभिप्राय में बड़ा अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि की भक्ति का उद्देश्य भोगोपभोग की प्राप्ति करना है और सम्यग्दृष्टि का उद्देश्य कर्मों का क्षय करना है। संसार के अधिकांश प्राणी ''धम्मं भोग निमित्तं कुव्वइ ण दु कम्मखयनिमित्तं'' धर्म भोग के लिए करते हैं, कर्म क्षय के लिए नहीं।

१२. सम्यग्दृष्टि क्या-क्या कार्य नहीं करता है

जो सातों व्यसनों का या एक भी व्यसन करते हैं, रौद्रध्यानी हो अर्थात् हिंसा आदि करके आनन्द मानते हैं, अत्यन्त क्रूर एवं निर्दयी होते हैं, झूठ बोलते हैं, परधन और परस्त्री के चोर हैं। बहुत आरम्भ, बहुपरिग्रही और मिथ्यात्व के पुष्ट करने वाले हैं। तीव्र कषायी है, मुनि निन्दक और जैनधर्म को दोष लगाकर पाप करने वाले हैं, नीच देवों की सेवा में आनन्द मनाते हैं, कृष्ण लेश्या वाले हैं, घमण्ड में चूर रहते हैं, खोटे कामों में आसक्त रहते हैं, वे नीच नरकगति में जाते हैं **(पा.पु.)** सम्यग्दृष्टि नरकगति में ले जाने वाले ऐसे कार्य कभी नहीं करता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि के नरकगति नरकायु आदि का बंध नहीं होता है।

जो दुष्ट जीव मायाचारी हैं, प्रपंच करने में अत्यन्त चतुर हैं, झूठी बातें लिखते हैं, चुगली करते हैं, जिन्हें झूठी साक्षी देने में भय नहीं होता है, जो शील का पालन नहीं करते हैं, जिनके खोटी लेश्याएँ हैं, जो आर्त्तध्यानी होते हैं, वे पशुगति में जन्म लेते हैं। **(पा.पु.)** जो मनुष्य धर्मायतनों की निन्दा करते हैं, निन्दा करने में आनन्द मानते हैं वे संसार में उस निन्दा से उल्लू और बिल्ली बनते हैं। निन्दा करने वाले, व्रत ग्रहण कर उसे नष्ट करने वाले, पराये दोषों को प्रकाशित करने वाले, निद्रा घेरने वाले अर्थात् निद्रा में से उठाने वाले और अन्तराय डालने वाले ये पाँच चाण्डाल माने गये हैं। जो पुरुष स्त्रियों में विशेष आसक्ति रखता है, चंचल होता है, सदा काम चेष्टाएँ करने में आनन्द मानता है, धूर्त होता है और स्त्रियों की खोज करने में लगा रहता है वह पुरुष नियम से दूसरे भव में स्त्री होता है। सम्यग्दृष्टि कभी भी उपर्युक्त खोटी पर्यायों में उत्पन्न नहीं होता है इसलिए वे ऐसे काम नहीं करते हैं। ऐसे कार्य करने वाले सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते हैं।

जो पुरुष पशुओं के नाक, कान आदि अंगोपांग को छेदते हैं, सदा दुष्ट भाव रखते हैं और निरन्तर शरीर का संस्कार करते रहते हैं वे मरकर नपुंसक बनते हैं। सम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क नरक में जाने वाले को छोड़कर नपुंसकों में उत्पन्न नहीं होता है इसलिए वह ऐसे काम भी नहीं करता है।

जो बिना देखे ही मन से अमुक का अमुक दोष मैंने देखा है तथा रोकने पर भी वह उस दोष को प्रगट करता है, वह मूढ़ मनुष्य जन्म से ही अंधे होते हैं। जो पुरुष क्रोध के आवेश में आकर गुणी तपस्वी विद्यावान और यशस्वी मनुष्यों का अनादर करते हैं वे मनुष्य पागल होते हैं। जो मनुष्य नास्तिक होता है, धर्म-अधर्म को नहीं मानता है वह मूर्ख माना जाता है। जो निर्दयी मनुष्य मृग, हंस, तोता आदि दीन पक्षियों को पकड़कर पिंजरे में बंद रखते हैं उनको पालते-पोसते हैं वे पापी भव-भव में डरपोक होते हैं। जो लज्जा के कारण निन्दित कार्य करते हैं जिनेन्द्र प्रतिमाओं की निन्दा करने वाले हैं, दूसरों के गुणों का लोप करते हैं रात-दिन झगड़ना ही जिनका काम है, भोजन करने वाले को बिल्ली के समान टकटकी लगाकर देखने वाले हैं और जिनकी दृष्टि वक्र है वे मरकर शाकिनी, डाकिनी, भूतनी बनते हैं अर्थात् व्यंतरों में उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि ऐसे काम नहीं करता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति व्यंतरों में नहीं होती है।

दूसरे की निन्दा करना, दूसरे जीवों के परोक्ष रूप अपवाद या मलिन वचन बोलना, बुराई करना निंदा है। मन की कुटिलता से दूसरों का अभ्युदय सहन नहीं होने के कारण उसको पतित करने का भाव प्रगट करना सो निन्दा है। अपने गुणगान अपने आप अर्थात् स्वयं करना अथवा अपने में गुण नहीं होने पर भी मिथ्या रूप से कहना अपनी कीर्ति और बढ़ाई के लिए कहना सो आत्मप्रशंसा है। सम्यग्दृष्टि न अपनी प्रशंसा करता है और न दूसरों की निन्दा करता है।

सम्यग्ज्ञान तप चारित्रवान पूज्य पुरुष तथा जगत् के जीवों को सन्मार्ग में लगाने वाले श्रेष्ठ उपदेशक श्री जिनधर्म को पालन करने वाले, मिथ्यामार्ग का परित्याग करानेवाले, शील, धर्म को बढ़ाने वाले, ब्रह्मचर्य की महिमा को व्यक्त करने वाले, धर्म का उपदेश देने वाले ऐसे मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका जिनधर्म धारक भव्य जीवों के सर्वोत्कृष्ट गुणों को धारण करने वालों को मन के दुष्परिणामों से ढक देना उनकी प्रशंसा और आदर नहीं करना सद्गुणोच्छादन है। सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करता है।

गुणों की प्राप्ति गुणों में और गुणीजनों में राग करने से होती है परन्तु जिस मनुष्य का मन दुष्ट है वह मन की दुष्टता से उन गुणीजनों का आदर नहीं करता है और न उन सर्वोत्कृष्ट गुणों को धारण करने की भावना ही व्यक्त करता है बल्कि उन गुणों को ढांकता है। सम्यग्दृष्टि भूलकर भी कभी ऐसे भाव नहीं करता है वह तो सदैव गुण व गुणीजनों का समागम पाने की लालसा रखता है।

आठ मद करना, दूसरों का अपमान करना, तिरस्कार करना, व्यर्थ में हँसना, दूसरों की हँसी करके नीचा दिखाना, दूसरों का वध बन्धन करना, गुरुओं के दोषों का उद्घाटन करना, पराभव करना, गुरुओं की निन्दा करना, अपमान करना, गुरुओं को देखकर खड़े नहीं होना, हाथ नहीं जोड़ना, नमस्कार नहीं करना, धर्म के प्रति अनुराग नहीं रखना, धर्म की निन्दा, मजाक, हँसी करना, श्रेष्ठ आचरण की हँसी करना, निन्दा करना, चारित्र धर्म का लोप करना आदि नरक-निगोद में ले जाने वाले, नीच गोत्र में उत्पन्न कराने वाले कार्य, मन से, वचन से, काय से कभी भी सम्यग्दृष्टि नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि के नीचगोत्र का बन्ध नहीं होता है क्योंकि नीचगोत्र की बंध व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में ही हो जाती है। इसलिए सम्यग्दृष्टि उपर्युक्त कार्यों को नहीं करता है और न ही कर सकता है यदि करता है तो वह मिथ्यात्व में प्रवेश कर जाता है।

तीव्र राग, तीव्र मोह होना, निश्चल वैर बाँधना, निरंतर आर्त्त-रौद्र ध्यान होना, पाप कर्मों में लगने की अभिलाषा करना विषयों में गृद्धता होना, रात्रि भोजन करना, बिना छना जल पीना, मद्य माँस मधु का सेवन करना, जिनशासन की निन्दा करना, कंदमूल खाना आदि कार्य दुर्गति में जाने वाले हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि ये कार्य नहीं करता है।

जो व्यक्ति दान, पूजा, शील और उपवास को जड़ की क्रिया कहता है वह आगम का अपमान करता है। उसे अभी आगम का सही-सही ज्ञान नहीं है वह तो अपना अहित कर रहा है किन्तु उसके उपदेश से सारी की सारी जनता भी अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जायेगी। बंधुओ ! यह उपदेश प्रणाली ही आगम विरुद्ध है क्योंकि आचार्यों का कहना है कि यह सब जड़ की क्रियाएँ नहीं बल्कि धर्म की

ओर ले जाने वाली क्रियाएँ हैं। अर्थात् आगम विरुद्ध पद्धति से कथन करना श्रुत का अवर्णवाद है। इससे मिथ्यात्व का बंध होता है। अत: सम्यग्दृष्टि इन सब बातों से बहुत दूर रहता है।

परम्परा के मोह, मूढ़ता और अज्ञानवश कुदेव व कुगुरु की सेवा-पूजा करना, कुशास्त्रों को सुनना आदि ऐसे कार्य करना जिनसे सच्चे धर्म पर से श्रद्धा हटकर सम्यक्त्व में शिथिलता हो जावे अथवा अशक्तता, अज्ञान, प्रमाद के वश किसी रत्नत्रय के धारक से या अन्य सहधर्मी भाई से अपने पद के विरुद्ध कोई दोष हो गया हो तो उसे सर्व साधारण में प्रगट करके धर्म समाज की हँसी करना एवं निन्दा द्वारा धर्मात्मा को निर्लज्ज व उच्छृङ्खल बना देना अर्थात् धर्मात्मा जीवों की हँसी-मजाक तथा निन्दा करना, उनकी धार्मिक क्रियाओं में शिथिलाचार पैदा कर देना यानी उन्हें धर्म से डिगा देना या धर्म साधन में शिथिल कर देना या धर्मस्थान और धर्मात्माओं से द्वेष करना, उनके दोषों को खोजते रहना, उनकी निन्दा करना, उनकी दु:ख में सहायता नहीं करना व अन्य को भी मदद नहीं करने देना या कोई धर्मात्मा धर्म प्रभावना का कार्य पूजा-प्रतिष्ठा आदि करना चाहता है अथवा कहीं पर धर्म कार्य हो रहा है या होता हो तो उसको नहीं होने देना। जैसे - विद्यालय, धर्मायतन, औषधालय, साहित्यसमिति, ग्रन्थमाला प्रकाशन, मंदिर निर्माण आदि लोकोपयोगी कार्यों में सहायता नहीं देना, वितण्डावाद खड़ा कर देना, स्वयं रोक देना व अन्य से रुकवा देना। प्रयोजन यह है कि जिन कार्यों से धर्म की प्रभावना होती है उसको नहीं होने देना, जिससे धर्म को झूठा ही लाञ्छन लग जावे ऐसा कर बैठना। उपर्युक्त दोषों से व्यवहार सम्यग्दृष्टि को बचना चाहिए। ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष हैं। इसीलिए अपने सम्यक्त्व की रक्षा करने के लिए ऐसे कार्य कभी नहीं करना चाहिए।

१३. सम्यग्दृष्टि कहाँ उत्पन्न नहीं होता है

यद्यपि सम्यग्दृष्टि चारों गतियों में जा सकता है लेकिन उन गतियों में ऐसे विशेष स्थान हैं जहाँ सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है।

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषिक देवों में, नीचे के छह नरकों में, सब प्रकार की स्त्रियों में, नपुंसक वेद में, विकलेन्द्रियों में, एकेन्द्रियों में, लब्ध्यपर्याप्त जीवों में और कर्मभूमिज तिर्यञ्चों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है। **(ध. १/३३७)** नरक में नपुंसक वेद ही होने से (बद्धायुक्त की अपेक्षा) नपुंसक बनता है।

सम्यग्दृष्टि जीव १२ मिथ्यावादों में, भवनत्रिक में, ६ नरकों में, दुष्कुलादि वाले मनुष्यों में तथा स्त्री और नपुंसक में उत्पन्न नहीं होता है।

१२ मिथ्यावाद - (५) स्थावर, (३) विकलत्रय, (९) असंज्ञी, (१०) निगोद, (११) म्लेच्छखण्ड, (१२) कुभोगभूमि।

सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यावासों में ६ नरकों में, नपुंसक में, स्त्रीवेदियों में, अल्पायुष्कों में, पापी-दरिद्रों में, भवनत्रिक देवों में तथा सभी देवियों आदि १०८ स्थानों में उत्पन्न नहीं होता है। **(उपा.श्रा. ८८-८९)**

१२ मिथ्यावाद - २ निगोद (नित्य, इतर) ५ स्थावर (पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक) विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) सैनी पंचेन्द्रिय (तिर्यंच) असैनी पंचेन्द्रिय।

सम्यग्दृष्टि जीव नियम से देवगति में जाता है परन्तु यदि पहले आयु का बंध हो गया हो तो कोई नरक में अथवा भोगभूमि में जाता है। सम्यक्त्व से जो विभूषित होता है उसे असंज्ञी जीवों में, ५ स्थावर, अपर्याप्ति, स्त्रीपर्याय, तीन प्रकार की देवपर्याय और ६ नरक इतनी गतियों में जन्म धारण नहीं करना पड़ता है। इस संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव ने उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व को असंख्यात बार ग्रहण करके छोड़ा है लेकिन क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया। क्षायिक सम्यक्त्व होने के बाद छूटता नहीं है। जिसे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है वह उसी भव में अथवा तीसरे भव में नियम से मोक्ष जाता है परन्तु यदि किसी के मनुष्य या तिर्यञ्च आयु का बंध हो गया है तो वह चौथे भव में अवश्य मोक्ष जायेगा इसमें कोई संदेह नहीं है। **(धर्म.सं श्रा.)**

जो विद्वान् विशुद्ध सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं वह चाहे व्रत धारण न भी करे तो भी वे नरकगति एवं तिर्यंच गति में उत्पन्न नहीं होते हैं। स्त्री पर्याय तथा नपुंसक पर्याय को धारण नहीं करते, खोटे कुल में उत्पन्न नहीं होते, बहरे-गूँगे, गंजे-बौने अंधे नहीं होते, दरिद्री नहीं होते हैं, अल्प आयुष्क नहीं होते हैं। उनका शरीर विकृत नहीं होता, उन्हें कभी शोक का भय नहीं होता, वे कुरूप नहीं होते, वह निन्दनीय नहीं होते हैं। वे कभी दास, दुष्ट तथा मूर्ख नहीं होते हैं। **(प्रश्नो.श्रा.)**

सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यञ्च योनि में, कुदेव, कुभोगभूमि में, कुत्सित मनुष्य पर्याय में उत्पन्न नहीं होते हैं तथा सम्यग्दृष्टि जीव अंधे, कुबड़े, नपुंसक, दरिद्र, पुत्रविहीन, शोकसहित, भोगोपभोग रहित, दूसरे की सेवा नहीं करने वाले, क्रूर, निर्दय, शील रहित, दान, पूजा, व्रतविहीन, दूसरे लोगों को ठगने में चतुर और निन्द्य नहीं होते हैं।

१४. सम्यग्दर्शन के अतिचार

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और प्रत्यक्ष ही उदार मनुष्यों में दोषादि लगाना, उनकी निन्दा करना, ये सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। **(प.पु. १०५/२१२९)**

१. शंकादोष : देव, जीवादि तत्त्व और गुरु ये जैसे आगम में निर्दिष्ट किये गये हैं वैसे ही यह इस प्रकार के अन्य मत में निर्दिष्ट स्वरूप वाले हैं। इस प्रकार वायु के वेग से इधर-उधर उड़ते हुए पत्ते के समान जो चंचल बुद्धि होती है उसे सज्जन शंका नाम का दोष कहते हैं। **(धर्म र. ९/६२)**

दर्शन मोह के उदय का अभाव होने से सर्वज्ञ की आज्ञा से विश्व को, समस्त वस्तु विस्तार को ''यह ऐसा ही है'' इस प्रकार मानते हुए ज्ञानावरण कर्म के उदय से सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये तत्त्व में ''यह है या यह नहीं है'' इस प्रकार की जो डगमगाती हुई प्रतिपत्ति होती है उसे संशय कहते हैं। इसे ही शंका नामक अतिचार कहते हैं।

प्रवचन विषयक शंका निश्चय से, वस्तु स्वरूप के यथार्थ प्रत्यय से सम्बन्ध रखने वाले सम्यग्दर्शन को मलिन करती है किन्तु यह साँप है या रस्सी है इस प्रकार की शंका सम्यग्दर्शन को मलिन नहीं करती है किन्तु दर्शनमोह के उदय से होने वाले संदेह से जो प्रवचन में अश्रद्धा होती है या संशय मिथ्यात्व है वह सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाला है।

२. कांक्षा दोष : ऐसे अज्ञानतावश अगुरु नामक अतिशय सुगंधित चंदन को बेचकर उससे लकड़ियों की इच्छा की जाती है वैसे ही दुर्धर व्रतों के परिपालन और दान आदिक उत्तम कार्यों से सुंदरशरीर और इन्द्रिय भोगों से उत्पन्न होने वाले सुख की इच्छा करना कांक्षा दोष है।

३. विचिकित्सा दोष : मुनि आदि संयमी जनों के शरीर से सम्बद्ध नग्नपना व मलिनता तथा विष्टादिक दुर्गन्ध पूर्ण वस्तुओं को देखकर मन में ग्लानि करना विचिकित्सा दोष है। मैं उत्कृष्ट धर्म को धारण कर रहा हूँ फिर भी ये समर्थ विघ्न आकर मुझे पीड़ित करते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म, देव और जिनमत ये सब व्यर्थ हैं। ऐसा जो विचार करता है वह अन्य विचिकित्सक है।

४. अन्यदृष्टि प्रशंसा : मिथ्यादृष्टियों के द्वारा सहन किये जाने वाले कष्ट की कल्पना करके तथा उनकी विद्वत्ता अथवा भयानक तप आदि को देखकर मन में प्रेम और हर्ष उत्पन्न होना, इसे विद्वान लोगों ने स्पष्टतया अन्यदृष्टि प्रशंसा दोष कहा है।

५. अन्यदृष्टि संस्तव : उन्मत्त पुरुष के समान जो कष्ट सहने वाले मिथ्यादृष्टि के गुणों की प्रत्येक व्यक्ति के आगे अभिनय पूर्वक वचन से स्तुति की जाती है उसे अन्यदृष्टि संस्तव दोष कहते हैं। **(धर्म.रत्ना. ९/६३-६७)**

यह संसार दु:ख बहुल है। इस दु:ख का साक्षात् कारण है कर्म बन्ध और परम्परा कारण है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। उनका अत्यन्त विनाश करने में समर्थ है सम्यग्दर्शन, किन्तु

शंका आदि अतिचार उस सम्यग्दर्शन को अपना कार्य करने में कमजोर बनाते हैं तथा उसके स्वरूप में कमी लाते हैं अत: इन्हें छोड़ना चाहिए।

सूक्ष्मादि तत्त्वों में शंका करना, पञ्चेन्द्रिय के सुखों की इच्छा करना, साधुओं के मलिन शरीर में ग्लानि करना, वचन से अन्य मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना तथा मन से उन्हें अच्छा समझना, ये सम्यग्दर्शन के ५ अतिचार विद्वानों के द्वारा छोड़ने योग्य हैं। **(सर्वो.श्लो.सं.)**

शंका : मिथ्यात्व कर्म और ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से यथार्थ तत्त्व स्वरूप में यह इस प्रकार है कि नहीं ऐसी चंचल मति होती है उसे शंका कहते हैं।

कांक्षा : इष्ट पदार्थों की लम्पटता किंवा आसक्ति होना कांक्षा है। अभिलाषा मात्र यदि कांक्षा है तो आहारादि की वांछा छठवें गुणस्थान पर्यन्त होती है फिर किसी का भी सम्यक्त्व निरतिचार नहीं हो सकेगा किन्तु ऐसा नहीं है केवल इच्छा मात्र अतिचार नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन के प्रभाव से दान, पूजा, तपश्चरण के प्रभुत्व से मेरे पुत्र पैदा होना चाहिए। पर-भव में स्वर्गादि की विभूति, रूप, धन, कुल, ऐश्वर्य, स्त्री आदि भोग सामग्री प्राप्त होना चाहिए इत्यादि भोगोपभोग के पदार्थों की अभिलाषा रखना सम्यग्दर्शन को अशुद्ध करने वाला कांक्षा नामका दूसरा अतिचार है।

विचिकित्सा : जुगुप्सा ग्लानि का नाम विचिकित्सा है किन्तु शुभ रत्नत्रय में अथवा किसी एक में, रत्नत्रयधारियों में मुनि यति साधुओं के घोर तपश्चरण से कृश पवित्र शरीर में ग्लानि करना, तिरस्कार करना सम्यक्त्व का तीसरा अतिचार है।

अन्यदृष्टि प्रशंसा : तत्त्वदृष्टि विहीन खोटे देव, कुशास्त्र, कुगुरु के मायावी चमत्कारों को देखकर उनके प्रति आकृष्ट होना, प्रशंसा करना, उनके वाक् चातुर्य आदि की सराहना करना अन्य दृष्टि प्रशंसा अतिचार है।

अनायतनसेवा : मिथ्यात्व, मिथ्यात्वसेवी, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्री। इनका सेवन करने से सम्यग्दर्शन की विराधना हो जाती है। **(मू.आ.)**

इस प्रकार अतिचारों को जानकर अतिचार रहित सम्यक्त्व को निर्मल बनाना चाहिए।

१५. सम्यक्त्व का फल

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह संसारी जीव भी ज्ञानी शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध और परमात्मा हो जाता है तथा निश्चयपूर्वक कर्मों से मुक्त हो जाता है। **(भा.पा. १५२)**

सम्यक्त्व के प्रभाव से चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर इस जीव के बल, सुख, ज्ञान और दर्शन ये चार गुण प्रगट होते हैं तथा वह लोक और अलोक को प्रकाशित करता है।

जो जीव सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्व से परिणत हुआ जीव दुष्ट आठ कर्मों का क्षय करता है। **(मो.पा. ८७)** जो पुरुष मुहूर्त्त मात्र भी सम्यक्त्व को प्राप्त करके फिर उसे छोड़ देता है उन्हें बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करने के बाद भी सम्यग्दर्शन मुक्ति में पहुँचा देता है।

जो जीव सम्यग्दृष्टि है वह ओज (पराक्रम) तेज (प्रताप) विद्या (अतिशय रूप ज्ञान) वीर्य (अतिशय शक्ति) यश (गुण) वृद्धि बढ़ना अर्थात् यश और सुख की वृद्धि, विजय (जीतना) विभव (वैभव) नियुक्त मनुष्यों में तिलक होता है अर्थात् सर्वोत्तम होता है। वह महाकुल में जन्म लेता है, महान् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ को धारण करने वाला होता है। **(र.क.श्रा.)**

जिनेन्द्र भगवान का भक्त सम्यग्दृष्टि अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशित्व, वशित्व आदि आठ गुणों से पुष्ट ऐसा वैभव जो अन्य असंख्यात देवों में नहीं पाया जाता है ऐसी देह की कांति, आभरण, विमान, विक्रिया शक्ति आदि को प्राप्त करके चिरकाल तक अर्थात् सागरोपर्यन्त अप्सराओं की सभा में अर्थात् करोड़ों अप्सराओं के साथ रमण करता है। **(र.क.श्रा.)** सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य भव को प्राप्त करके नौ निधियाँ, चौदह रत्न का स्वामी होता है, सभी राजा जिसकी आज्ञा को सिर पर धारण करते हैं, ऐसा षट्खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती होता है। **(र.क.श्रा.)**

सम्यक्त्व के प्रभाव से अमरपति (देवेन्द्र), असुरपति (भवनत्रिक का अधिपति), नरपति (चक्रवर्ती) तथा यमधरपति (मुनियों के अधिपति) गणधर देव जिनके चरण कमलों की वन्दना करते हैं ऐसे तीन लोक के शरणभूत धर्मचक्र को धारण करने वाला तीर्थंकर होता है। **(र.क.श्रा.)**

सम्यग्दृष्टि ही अजर (बुढ़ापे से रहित) अरुज (रोग से रहित) अक्षय (शाश्वत) अव्याबाध (बाधाओं से रहित) विशोक (शोक से रहित) विभय (भय से रहित) निशंक (शंका से रहित) काष्ठा (सर्वोत्कृष्ट) को प्राप्त सुख, विद्या तथा द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से सहित मोक्ष को प्राप्त करता है। **(र.क.श्रा.)**

जिन जीवों के सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पहले आयु का बंध नहीं हुआ है उसका व्रत के अभाव में भी निन्दनीय नर-नारक आदि खोटे स्थानों में जन्म नहीं होता है। जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन है किन्तु अव्रती हैं वे भी नरकगति, तिर्यञ्चगति, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन शरीर, अल्प आयु और दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होते हैं।

सम्यगदर्शन को प्राप्त करने के बाद जीव कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

प्रश्न : अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन में कितना काल होता है?

उत्तर : अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन में अनन्त काल होता है। **(ध. १/३९४)**

पुद्गल परावर्तन का आधा भाग अर्द्धपुद्गलपरावर्तन कहलाता है।

अर्द्धपुद्गल परावर्तन क्षय सहित होते हुए भी इसलिए अनन्त हैं कि छद्मस्थ जीवों के द्वारा उसका अंत नहीं पाया जाता है। वास्तव में केवलज्ञान अनन्त है अथवा अनन्त को विषय करने वाला होने से यह अनन्त है। **(ध. १/३९५)**

अर्द्धपुद्गल परावर्तन का काल अनन्त है तथा केवली का विषय है फिर भी इसका अन्त देखा जाता है अत: यह सक्षय अनन्तकाल है। इसमें भी अनन्त सागर होते हैं कोई २, ४ या ५ या करोड़, १० करोड़ मात्र भवों का पुद्गल परिवर्तन या अर्द्धपुद्गल परिवर्तन नहीं हेाता।

पुद्गल परिवर्तन का काल अनन्त है इससे अनन्तगुणा क्षेत्र परिवर्तन का काल है। क्षेत्र परिवर्तन के काल से अनन्तगुणा काल काल परिवर्तन का है। काल परिवर्तन से अनन्तगुणा काल भवपरिवर्तन का है और भव परिवर्तन के काल से भाव परिवर्तन का काल अनन्तगुणा है। **(ध. ४/३३४)**

जो जीव मुहूर्त्त काल पर्यन्त भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करके छोड़ देते हैं वे भी संसार में अनन्तानंत काल पर्यन्त नहीं रहते हैं। **(भ.आ. ५३)**

जो मनुष्य जिस भव में दर्शन मोह की क्षपणा का प्रस्थापन करता है वह दर्शनमोह के क्षीण होने पर तीन भव में नियम से मुक्त हो जाता है। **(ज.ध. १३/९)**

सम्यक्त्व का पालन करने वाले धीर-वीर जीव संख्यातगुणी और (चारित्रधारी) असंख्यातगुणी कर्मों का निर्जरा करते हैं। इस निर्जरा के बाद वे दु:खों का क्षय करते हैं। संख्यातगुणी निर्जरा सरसों के बराबर है तो असंख्यातगुणी निर्जरा मेरु पर्वत के बराबर है। **(चा.पा. १९)**

जिस समय किसी जीव के द्वारा केवल एक मुहूर्त्त भर के लिए सम्यग्दर्शन धारण किया जाता है उसी प्रकार भयंकर तथा भारी दु:खों से परिपूर्ण संसार में उसका भ्रमण बहुत समय पर्यन्त ही जन्म मरण करता है, तदुपरांत उसकी मुक्ति अवश्यम्भावी है किन्तु जब कोई दृढ़ श्रद्धान युक्त आत्मा वास्तव में सम्यक्त्व को धारण कर लेता है तब उसका संसार भ्रमण उंगलियों पर गिना जा सकता है क्योंकि इसके बाद वह ६६[१] सागर प्रमाण समय तक स्वर्गलोक के सुखों और भोगों का आनन्द लेता है और अंत में निश्चय से मोक्ष जाता है। संसार में अनेक स्पृहणीय रत्न हैं किन्तु उनमें से कोई भी सम्यक्त्व रूपी रत्न से बढ़कर नहीं है। सम्यक्त्व श्रेष्ठतम मित्रों से भी बड़ा मित्र है कोई भी भाई सम्यक्त्व से बढ़कर

१. यह क्षयोपशम सम्यक्त्व के उत्कृष्ट काल की अपेक्षा कहा गया है।

हितैषी नहीं हो सकता है तथा कोई भी लाभ ऐसा नहीं है जो सम्यक्त्व लाभ की आंशिक समता (बराबरी) भी कर सके। **(व.चा.)**

मिथ्यात्व के कारण आत्मा में मोह रूपी अंधकार बढ़ता है। उचित तथा अनुचित आरम्भ तथा प्रवृत्तियों का प्रधान उद्‌गम स्थान मोह ही है। आरम्भ परिग्रह का अवश्यंभावी फल नाना योनियों में जन्म ग्रहण करता है ओर जब जन्म परम्परा है तब समस्त प्रकार के दु:खों से कौन बचा सकता है। मिथ्यात्व का नाश होते ही मोह न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। मोहरूपी उद्‌गम स्थान के न रहने पर प्रवृत्ति रूपी धारी भी सूख जाती है। प्रवृत्ति के रुकने का फल होता है। जन्म चक्र का रुकना तथा जन्म परम्परा के टूटते ही उसके कारण होने वाले समस्त दु:खों का भी आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। दु:खों के नाश होते ही उनके विरोधी सुखों का उदय होता है फलत: जीव उत्तम कर्म भूमिया मनुष्यों भोगभूमि, विद्याधर और देवगति के दु:ख की छाया रहित सुखों को प्राप्त करता है इसके बाद उग्र तपरूपी अग्नि के द्वारा वह कार्यरूपी कूड़े-कर्कट को जला देता है और इस क्रम से अंत में निर्वाण के सुख को प्राप्त कर लेता है।

जो सम्यग्दर्शन से पतित नहीं होते हैं उनको उत्कृष्टत: सात-आठ भवों का ग्रहण होता है ओर जघन्य से २-३ भवों का। इतने भवों के पश्चात् उनके संसार का उच्छेद हो जाता है। जो सम्यकत्व से च्युत हो गये हैं उनके लिए कोई नियम नहीं है।

दर्शन मोह का क्षय हो जाने पर उस ही भव में या तीसरे भव में अथवा मनुष्य-तिर्यंच की पूर्व में आयु बाँध ली है, तो भोगभूमि की अपेक्षा चौथेभव में सिद्धि प्राप्त करते हैं, चौथे भव का उल्लंघन नहीं करते है। **(ल.सा. १९५)**

अनादि मिथ्यादृष्टि तीर्थंकर के पादमूल को प्राप्त करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व क्षयोपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व संयम को प्राप्त करके क्षपण श्रेणी आरोहण करके मुहूर्त्त मात्र में सिद्ध पर प्राप्त कर लेते हैं।

कई जीव मुहूर्त मात्र में आराधना कर संसार समुद्र से उत्तीर्ण हो गये हैं। आराधना का समय अधिक ही होना चाहिए नियम नहीं है। अनादि मिथ्यादृष्टि वर्द्धनकुमार आदि वृषभनाथ भगवान के पादमूल में आत्म स्वरूप को जानकर अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में निर्वाण को प्राप्त हुए। **(मू.आ. २०२६-२७)**

एक बार जिसे सम्यग्दर्शन (प्रथमपोशम) की प्राप्ति हो जाती है उसका संसार परिभ्रमण जो अनन्तानन्त सागर था वह सूख करके कुछ कम अर्द्धपुद्‌गल परावर्तन रह जाता है। यद्यपि यह सम्यक्त्व कब आया अर्थात् हुआ और कब चला गया पता ही नहीं चल पाता है लेकिन इसके होने से इतना बड़ा कार्य होता है जिसकी महिमा वचनों से नहीं गायी जा सकती है। जिस देश का सबसे बड़ा नेता या कोई चक्रवर्ती, राजा किसी गाँव में आता है, कुछ क्षण रुकता है और चला जाता है अथवा रुकता ही नहीं है आता है और चला जाता है तो भी उसके आने मात्र से गाँव की सब व्यवस्थाएँ जो आज तक नहीं

हुई थी अर्थात् विद्यालय, महाविद्यालय, अतिथिगृह, पानी की व्यवस्था, यातायात की सुविधाएँ आदि के साथ-साथ पूरे गाँव की दरिद्रता दूर जो जाती है। वह राजा उसकी सभी परेशानियों को दूर कर देता है उसी प्रकार यह सम्यक्त्व आता है और चला जाता है अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त्त में नियम से नष्ट हो जाता है लेकिन इसके आने मात्र से अनन्त भव समाप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार सागर (समुद्र) अगाध अथाह होता है उसका पार पाना कठिन है। उस सागर के सामने एक चुल्लू भर पानी का कोई महत्त्व नहीं होता है उसी प्रकार इस सम्यक्त्व के होने पर हमारा भव/संसार परिभ्रमण जो समुद्र के समान अगाध-अथाह था वह चुल्लू भर मात्र अर्थात् न्यूनतम हो जाता है। यद्यपि सागर किसी के द्वारा सुखाया नहीं जा सकता है फिर भी सागर में बड़वानल अग्नि लग जावे तो सागर का अथाह पानी भी क्षण भर में सूखकर समाप्त हो जाता है उसी प्रकार करणलब्धि रूपी बड़वानल अग्नि के प्रज्ज्वलित हो जाने पर मिथ्यात्व से उत्पन्न अनन्त संसार समुद्र सूखकर समाप्त हो जाता है।

अथवा यों समझना चाहिए कि उसे गाड़ी में बैठने के लिए टिकिट अवश्य मिल जाता है। यह यात्रा शुल्क पत्र खो भी जावे तो भी उसके पास परिचय पत्र बना रहता है जिससे वह कभी भी यात्रा शुल्क पत्र बनवा सकता है। उसी प्रकार यह सम्यक्त्व छूट भी जावे अथवा यह तो छूटता ही है तो भी उसे भविष्य में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे नियम से मोक्षगामी कहा है।

जब तक जीव को यह सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता तब तक किसी भी हालत में मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है। यदि जीव इस सम्यक्त्व रूपी यात्रा शुल्क लिए बिना मोक्षमार्ग रूपी गाड़ी में बैठ गया और भ्रम से उसे लगने भी लगा है कि गाड़ी चल रही है लेकिन गाड़ी एक सेंटीमीटर भी आगे नहीं खिसकी है। जिस प्रकार कोल्हू का बैल पूरे दिन चलता है लोगों को चलता हुआ दिखता है लेकिन वह कोल्हू से आगे नहीं बढ़ पाता है क्योंकि उसने कोल्हू को छोड़ा नहीं है। उसी प्रकार मिथ्यात्व से बंधा हुआ यह जीव व्रत संयम तप महाव्रत आदि धारण करके चलता हुआ दिखता है लेकिन वह मोक्षमार्ग में एक कदम भी नहीं बढ़ पाता है क्योंकि उसने मिथ्यात्व रूपी कोल्हू को नहीं छोड़ा है।

जो सम्यग्दर्शन का स्वामी है वही पण्डित है, वही तीन लोक में प्रधान है सो अविनाशी सुख के निधान केवलज्ञान को शीघ्र ही पा लेता है।

जगत् में जितने सुख के साधन है वे सब सम्यग्दृष्टि जीव को स्वयमेव ही प्राप्त हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव यदि कुछ भी पढ़ा-लिखा न होवे तो भी वह देव-शास्त्र और गुरु की दृढ़ श्रद्धा से शीघ्र ही बोध को प्राप्त होकर परम पद को प्राप्त होता है।

जो पुरुष एक मुहूर्त्त मात्र भी सम्यक्त्व को प्राप्त होकर फिर उसे छोड़ देते हैं वे बहुत काल पर्यन्त संसार में भ्रमण करने के बाद भी मरीचि के समान मुक्ति को प्राप्त होते हैं। **(धर्म.सं.श्रा. ६७)**

जिसके पास यह सम्यक्त्व रूपी रत्न है वे उद्यम (पुरुषार्थ) आदि अनेक गुणों से सुशोभित होते हैं, अनेक लोगों के स्वामी होते हैं, धन-धान्य आदि विभूतियों से परिपूर्ण होते हैं, समस्त शत्रुओं को

वश करने वाले, चारों पुरुषार्थों को उत्तम रीति से करने वाले और धर्म अर्थ काम को सिद्ध करने वाले हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव अनेक प्रकार की महिमा से सुशोभित होते हैं वे समस्त इन्द्रियों के सुख रूपी महासागर में डूबे रहते हैं। वह इस सारभूत सम्यक्त्व के प्रभाव से जो पुण्य प्राप्त होता है उसके फल में उच्चकुल में जन्म लेता है, उसको चक्रवर्ती की विभूति, चौदह महारत्न, छह खण्डों का राज्य तथा नौ निधियाँ प्राप्त होती हैं। विद्याधर आदि अनेक राजा उसकी सेवा करते हैं, सेना आदि छह प्रकार का बल प्राप्त होता है। समस्त पृथ्वी के स्वामीपने को सूचित करने वाला एक छत्र उसके मस्तक पर सुशोभित रहता है। देव लोग भी उसकी पूजा करते हैं उसे तीर्थंकर की परम विभूति प्राप्त होती है, उसे पंचकल्याणक प्राप्त होते हैं। इन्द्रादि सब देव उनकी वंदना करते हैं, तीनों लोकों में क्षोभ हो जाता है, धर्मचक्र उनकी अलग ही शोभा बढ़ाता है और उन्हें अनन्त महिमा प्राप्त होती है। **(प्रश्नो.)**

सम्यक्त्व रूपी सूर्य के द्वारा मिथ्यात्व रूप गाढ़ अन्धकार को नाशकर मोक्षमार्ग में जाने वाले महापुरुषों को आत्मसिद्धि का घर ऐसा जो मोक्ष उसकी प्राप्ति होती है। **(सि.सा.सं.)**

सम्यग्दर्शन से कषायों का पराभव होता है। सम्यग्दर्शन से सहित तप ही उत्तम तप कहलाता है। जो सम्यग्दर्शन में प्रौढ़ होते हैं वे धन्य हैं तथा अपने जीवन को सफल बनाने वाले हैं जो सम्यक्त्व रूप गुण को मिटा देते हैं वे पापमय हो जाते हैं। यदि तुम सुख चाहते हो तो राग-द्वेष रूप पाप प्रवृत्तियों का त्याग करो। सम्यक्त्व मार्ग का फल अलौकिक मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन सुख का पिटारा है किन्तु यह पुण्य से नहीं मिलता है अर्थात् इसके लिए देव-शास्त्र-गुरु, जीवादि तत्त्व एवं आत्मा के प्रति श्रद्धान परम आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के बिना मुनि वेश भार स्वरूप होता है। इसके बिना संयम एवं तप कार्यकारी नहीं होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता है और बिना सम्यग्ज्ञान के सम्यक्चारित्र भी नहीं होता और बिना सम्यक्चारित्र के मोक्ष भी नहीं मिलता है। अत: सम्यग्दर्शन के बिना जीवन निष्फल है। कहा भी है - भले ही योगी बनो, अचल मेरु के समान तपस्वी बनो, यशस्वी बनकर भले ही वर्षों तप करो किन्तु सम्यक्त्व के बिना यह जीव केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता तथा संसार में भटकते हुए दु:ख ही उठाते फिरोगे। जो दर्शन से भ्रष्ट है वे कभी भी निर्वाण पद की प्राप्ति नहीं कर सकते। जो जीव सम्यक्त्व सुधा का पान करता है वह निर्वाण पद को प्राप्त करता है। जितने भी परमात्मा बने हैं तथा तल्लीनता पूर्वक आत्मसुख पा रहे हैं वह मात्र सम्यक्त्व का ही सुफल है। **(भावनाशतक)**

व्रत गुण शील परीषह-जय, चारित्र, तप, षट्आवश्यक, ध्यान और अध्ययन यह सब सम्यक्त्व के बिना भवबीज जानो। सम्पूर्ण तप को जानकर क्या? और बहुत तप करके क्या है? सम्यक्त्व की विशुद्धि से विहीन ज्ञान और तप को संसार का बीज जानो। **(र.सा. १३०-३१)**

इस प्रकार सम्यक्त्व के फल को जानकर सम्यक्त्व प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

१६. परिशिष्ट

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि बाजार के ब्रेड-बिस्किट, ठण्डे पेय आदि पदार्थों का प्रयोग कर सकता है ?

उत्तर : यद्यपि सम्यग्दृष्टि के अभक्ष्य का त्याग नहीं होता है, क्योंकि वह अविरत/असंयमी होता है। असंयमी होने से वह पाँच पापों का त्यागी एवं पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त नहीं होता है। उसके द्वितीय चौकड़ी अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तीव्र उदय रहता है इसलिए उसके अभक्ष्य वस्तुओं के त्याग करने का भाव उत्पन्न नहीं होता फिर भी वह अभक्ष्य जिसमें माँसाहार का पुट रहता है। ऐसे पदार्थों को नहीं खाता, लेकिन कभी ऐसी परिस्थिति सामने आ जाती है अर्थात् परिस्थिति में फँस जाता है या ऐसे तीव्र कर्म का उदय आ जाता है कि वह नहीं चाहते हुए भी उन वस्तुओं का उपयोग कर लेता है। मजबूरी से एक बार उपयोग कर लेने पर भी वह उसका स्व्च्छन्द वृत्ति से बिना प्रयोजन बार-बार उपयोग नहीं करता है। जैसे – किसी को कोई बीमारी हो गई। शुद्ध औषधि का ज्ञान नहीं होने से अथवा पथ्यापथ्य की जानकारी नहीं होने से अथवा आत्मविश्वास का अभाव होने से उसने अशुद्ध औषधि खा ली/खानी पड़ी। अथवा समझ लो बहुत दिनों तक खाता रहा, लेकिन जैसे ही यह मालूम पड़ा कि यह बीमारी इस प्रकार का पथ्य सेवन करने से, इस प्रकार का अपथ्य छोड़ देने से तथा इस शुद्ध औषधि के सेवन से ठीक हो जाती है तो फिर वह यह नहीं सोचता कि अब यह दवाई अपने को लगी हुई है, दूसरी देशी दवाई क्या पता लग पाई या नहीं लग पाई या कहीं और उल्टा कर जायेगी तो क्या करूँगा? आदि विकल्प करके वही दवाई नहीं खाता रहता है। इस प्रकार कभी समय पर भोजन नहीं किया है या असहनीय भूख लग रही है सामने खाने के लिए बिस्किट आदि वस्तुएँ ही हैं तो वह खा लेता है लेकिन खाने के बाद खुश नहीं होता है और स्वच्छन्द वृत्ति से जब कभी अन्य वस्तुएँ उपलब्ध हों तो इन वस्तुओं को कभी नहीं खाता है। जैसे - युधिष्ठिर क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे वे कभी जुआ नहीं खेले थे लेकिन ऐसा तीव्र कर्म का उदय आया कि वे जुआ खेलने लग गये, उन्होंने जुआ खेलने में अति कर डाली लेकिन उसके बाद वे कभी जुआ नहीं खेले, न ही उन्हें जुआ खेलने की लत पड़ी, न जुआ का रस लगा। जिस प्रकार कभी किसी की दाढ़ में दर्द हुआ उसने उसे ठीक करने के लिए उसमें दिन तम्बाखू भर ली। एक दिन तम्बाखू लगाई उसको उसका रस लग गया वह हमेशा तम्बाखू खाने लग गया, चौबीस घण्टे मुँह में तम्बाखू दबाये रहने लगा। ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं करता क्योंकि वह अन्याय-अनीति का कार्य करता नहीं है। उल्टे-सीधे कार्य उससे हो जाते हैं वे कर्म का तीव्र उदय आ जाने से उसमें बह जाते हैं। इसी प्रकार भगवान नेमिनाथ (जब घर में थे) ने जल क्रीड़ा की तो क्या वह सरोवर छने या प्रासुक पानी से भरा था, नहीं। भरत चक्रवर्ती ने अपने भाई पर चक्र चला दिया। इन सबमें उन्हें ऐसा करने की आवश्यकता नहीं थी लेकिन कर्मोदय की बाढ़ आ जाने से उनका सम्हलना कठिन हो गया उन्होंने ऐसे कार्य कर लिए फिर भी उनको करने के बाद उन्होंने ऐसे कार्यों को कभी उचित नहीं माना, उपादेय नहीं माना। ऐसा करने के बाद भी उन्हें पश्चाताप ही हुआ था ऐसे कार्यों को बार-बार करने के भाव

उत्पन्न नहीं हुए थे। यदि इनके स्थान पर कोई मिथ्यादृष्टि होता तो वह बार-बार वही कार्य करता और कहता कि कोई मैंने ही ऐसा कार्य नहीं किया है, अर्थात् कोई मैंने ही जुआ नहीं खेला है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तद्भव मोक्षगामी धर्मराज युधिष्ठिर ने भी जुआ खेला था, भरत-बाहुबली जो तीर्थंकर भगवान के पुत्र थे, चक्रवर्ती और कामदेव थे वे भी लड़े थे तो हम भाई-भाई लड़ लें तो कोई आश्चर्य और दु:ख वाली बात नहीं है इसमें गलत ही क्या है? इस प्रकार बहाने बना कर गलत कार्य करता रहता है क्योंकि वह उन कार्यों को हेय नहीं मानता है इसलिए ऐसे कार्य कर लेने पर उसको पश्चात्ताप भी नहीं होता है।

फिर भी वह किटकेट जिसमें बछड़ों के माँस का उपयोग किया जाता है। T.V. पर इसका विज्ञापन शुद्ध दूध की बनी हुई बताया जाता है। वास्तव में इसमें दूध का नहीं, दूध पीने वाले कोमल बछड़ों का माँस डाला जाता है। इसको बनाने में प्रसिद्ध 'नेस्ले लिमिटेड कम्पनी' इसका उपयोग करती है। इंग्लैण्ड की 'बैनेमेली कम्पनी' फ्रूटेला टॉफी बनाती है जिसमें गाय की हड्डियों का चूरा डाला जाता है। इसी प्रकार आइसक्रीम को रबर की तरह लचीला बनाने के लिए पशुओं की चर्बी मिलाई जाती है। इसको चिपचिपा तथा थोड़ा सख्त (जो जल्दी से न पिघल पावे) बनाने के लिए उसमें एक प्रकार की गोंद जैसा पदार्थ डाला जाता है जिसका नाम गोंद होता है। वह गाय आदि के नाक, थन आदि मासूम अंगों के माँस को उबालकर बनाया जाता है। इस गोंद को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते समय जो रास्ते में गिर जाती है, मजदूरों के जूतों से जो चपड़े जैसा हो जाता है उसी को आईसक्रीम, चॉकलेट बनाने के काम में लिया जाता है। इस प्रकार की सामग्रियाँ जो जीवन के लिए अति आवश्यक नहीं है उन वस्तुओं का प्रयोग सम्यग्दृष्टि कभी नहीं करता है।

एक बार पं. गोपालदासजी बरैया से किसी आर्य समाज वाले विद्वान ने पूछा कि कोई इंग्लैण्ड जैसे ठण्डे मुल्क में रहने वाला सम्यग्दृष्टि क्या माँस खा सकता है? तब पण्डितजी बोले – उस व्यक्ति के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम न होने से वह माँस का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग नहीं कर सकेगा परन्तु सम्यग्दर्शन भाव होने से उसके खाने को हेय मानकर उदास रहेगा।

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के दर्शन किये बिना भोजन कर सकता है?

उत्तर : नहीं, यद्यपि सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करता है, क्योंकि उसकी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आस्था होती है फिर भी कभी उसको भगवान के दर्शन नहीं हो पाते हैं या उसकी आजीविका का साधन ऐसे स्थान पर होता है जहाँ जिनेन्द्र दर्शन नहीं मिलते हैं और वह इतना सक्षम भी नहीं है कि १०-२० किलोमीटर दूर जाकर प्रतिदिन दर्शन करे अथवा अपने घर में ही जिनबिम्ब स्थापित कर ले। ऐसी स्थिति में वह मन में ही भगवान का स्मरण करके, भावों से भगवान के दर्शन करके भोजन कर लेता है किन्तु अपने नगर में या नगर के आस-पास भगवान के दर्शन संभव हैं अथवा वह जाने में सक्षम है तो अवश्य ही भगवान के दर्शन करके ही भोजन करता है। जैसे– रामचन्द्रजी इतने लम्बे काल तक वन-जंगलों में रहे थे वे यदि भगवान के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करते तो शायद महिनों तक उन्हें भोजन नहीं मिलता। वहाँ उन्होंने जिनेन्द्र दर्शन किये बिना ही भोजन

किया था फिर भी जहाँ आस-पास गाँव नगर में जिनालय का पता लगा तो वे दर्शन हेतु अवश्य गये थे। इसी प्रकार पाण्डव भी वर्षों तक जंगल में रहे थे, अज्ञातवास में भी रहे थे वहाँ जिनेनद्र भगवान के दर्शन नहीं मिलने पर भोजन किया था लेकिन उनमें जिनेन्द्र भगवान के प्रति इतनी भक्ति थी कि पौन्नूरमलै (तमिलनाडु) में एक राजकुमारी ने पाण्डवों को जिनेन्द्रदर्शन के लिए १००८ देवाधिदेव श्री अरिष्ट नेमिनाथ भगवान की विशाल खड्गासन प्रतिमा विराजमान करवाई थी (ऐसी किंवदन्ती है)। इसी प्रकार प्राचीन काल में मुनिमहाराज जंगलों में ही रहते थे वहाँ वे द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार अपनी देववन्दना आदि आवश्यक करके कर्मों की निर्जरा करते ही थे। हाँ, सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के दर्शन नहीं मिलने पर निरन्तर दर्शन मिलने की भावना भाता है जहाँ जिनमंदिर हो वहीं रहने की कोशिश करता है और अपने पूर्वोपार्जित पापों की निन्दा-गर्हा करके पाप कर्म के अनुभाग को कम करता रहता है। यह सब कथन मनुष्यों की अपेक्षा है।

नारकियों को तो भगवान के दर्शन की सम्भावना ही नहीं है क्योंकि वहाँ तो पाप की बहुलता है। पापी जीव ही पापों का फल भोगने के लिए वहाँ जाता है उन्हें भगवान के दर्शन कैसे हो सकते हैं वहाँ तो जिनेन्द्र भगवान का नाम लेने वाला भी कोई नहीं होगा और न कोई वहाँ भगवान की चर्चा ही करता होगा। फिर भी वहाँ का सम्यग्दृष्टि भगवान के प्रति श्रद्धा रखता ही है उन्हें अपना इष्ट कल्याण करने वाला मानता है उनके द्वारा कहे गये तत्त्वों को ही सत्यार्थ स्वीकार करता है। इसी प्रकार तिर्यञ्चों में भी भगवान के दर्शन दुर्लभ हैं तो भी उन्हें जहाँ कहीं मंदिर के बाहर से या मानस्तम्भ आदि में भगवान के दर्शन मिलते हैं (सम्यग्दृष्टि है तो) तो वह भक्ति भाव से दर्शन करता ही है।

यदि यह माना जाय कि सम्यग्दृष्टि नित्य भगवान के दर्शन करता ही है तो सम्यग्दृष्टि स्त्री को प्रतिमाह ३ दिन (अशुद्धि के समय) उपवास करने पड़ेंगे। इसी प्रकार यदि किसी के ऐसी बीमारी हो गई कि बिस्तर से उठना ही मुश्किल हो या वृद्धावस्था के कारण शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाने से मंदिर नहीं जा पावें तो वह कब तक उपवास करेगा? उसे मजबूर होकर खाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार कई लोगों को गोम्मटेश बाहुबली आदि दूर स्थित क्षेत्रों की वन्दना के लिए जाते समय रास्ते में दो-दो दिन तक भगवान के दर्शन नहीं मिलते हैं जो सक्षम हैं वे तो उपवास कर लेते हैं लेकिन जो सक्षम नहीं हैं उनका क्या होगा? सार यह है कि परिस्थितियों के समय यदि सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के दर्शन किये बिना भी भोजन करता है तो उसका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता है।

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि शासन देवता की पूजा-सम्मान कर सकता है ?

उत्तर : सम्मान कई प्रकार का होता है। माता-पिता का चरण स्पर्श आदि करके, पुत्र-पौत्र आदि को बेटा खुश रहो, ''दूधो नहाओ, पूतो फलो'', हमेशा आनन्द मनाओ आदि आशीर्वादात्मक सम्मान बड़ों के द्वारा किया जाता है। आचार्य विद्यासागरजी महाराज कहते हैं कि कोई भी देव हो उसको उसी रूप में स्वीकार करना आस्तिक्य नाम का गुण है। यह सम्यग्दृष्टि का एक चिह्न है वह कुगुरु-कुदेव आदि को उसी रूप में मानता है। उनसे द्वेष बुद्धि नहीं रखता। मिथ्यात्व को भी मिथ्यात्व ही देखता है, नाक नहीं मरोड़ता है। सभी जीवों का उनके अनुरूप अस्तित्व मानना विपरीत नहीं है।

इस विषय में आचार्य शान्तिसागरजी महाराज के विचार – जैनबाड़ी में आचार्य महाराज ने देखा कि यहाँ के जैनी लोग भी कुदेवों की पूजा करते हैं। तो महाराज ने उन्हें सच्चे देव का स्वरूप समझाते हुए कुदेवों की पूजा छोड़ने की प्रेरणा दी। श्रावकों ने उनके उपदेश और प्रेरणा से कुदेवों की पूजा का त्याग कर दिया और अपने घर में स्थापित शासन देवी-देवताओं को अलग करने के लिए गाड़ियों में भरकर नदी में बहा दिया। यह देखकर वहाँ के राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने एक दिन महाराज के चरणों में जाकर प्रश्न किया - पूज्य महाराजश्री, आप यह क्या करवाते हैं जो सभी देवी-देवताओं को गाड़ी में भरकर नदी में पहुँचा देते हैं। यह सुन कर महाराज ने कहा – राजन् ! आप मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो, आपके यहाँ भाद्रपद में गणपति की स्थापना होती है या नहीं?

राजा – हाँ महाराज, हम लोग गणपति को विराजमान करते हैं।

महाराज – उनकी स्थापना करके पूजा, भक्ति, अर्चना करने के बाद अर्थात् भाद्रपद के बाद आप उनका क्या करते हैं?

राजा – महाराज ! पूजा आदि करने के बाद हम उन्हें पानी में बहा देते हैं।

महाराज – राजन् जिसकी आपने इतनी पूजा, भक्ति आराधना की फिर उन्हें पानी में क्यों डुबो दिया?

राजा – महाराज, पर्व पर्यंत ही गणपति की पूजा का काल था। उसका काल पूर्ण होने पर उनको सिराना ही हमारा कर्त्तव्य है।

महाराज – उनको सिराने के बाद फिर आप किसकी पूजा करते हैं?

राजा – महाराज, उसके बाद हम राम, हनुमान आदि की मूर्तियों की पूजा करते हैं।

महाराज – राजन्, जैसे पर्व पूर्ण होने के पश्चात् आप गणपति को सिरा देते हैं और राम हनुमान आदि की मूर्तियों की पूजा करते हैं। उसी प्रकार इन देवों का पर्व पूर्ण हो गया। समाप्त हो गया। जब तक हम नहीं आये थे तब तक उनकी पूजा का काल था। अब जैन गुरु के आ जाने के बाद उनका काल पूरा हो गया। इससे उनको सिरा देना ही कर्त्तव्य है। जिस प्रकार आप राम, हनुमान आदि की पूजा करते हैं उसी प्रकार हम हमारे मंदिर में तीर्थंकरों की, अरिहंतों की स्थायी मूर्तियाँ विराजमान हैं, उनकी पूजा करते हैं। पूज्यश्री के इस प्रकार के युक्तिपूर्ण विवेचन से राजा का संदेह दूर हो गया।

यह चर्चा अर्थात् कुदेवों को घर से अलग करके नदी मे विसर्जित करने की चर्चा चारों तरफ जोर-शोर से फैल गयी तो एक व्यक्ति ने आचार्य महाराज से प्रश्न किया –

व्यक्ति - महाराजश्री ! आपने मिथ्यात्व के प्रचार-प्रसार को रोकने के लिए इतना श्रम क्यों किया? इसमें क्या सार है।

महाराजश्री - यह प्रश्न स्थूल रूप से बड़ा मोहक दिखता है किन्तु परमार्थ के विचार से उचित

ज्ञात नहीं होता है। मिथ्यात्व की आराधना से यह जीव मोक्षमार्ग से वंचित हो जाता है। इसकी विवेक शक्ति का प्राणहरण हो जाता है और विवेक की मृत्यु होने से समस्त जीवन ही सार शून्य विदित होता है। मैं मिथ्या धारणाओं को आश्रय देना सर्प को दूध पिलाने के तुल्य मानता हूँ। जिस तरह रोगी के शरीर में फोड़ा हो जाने पर उसके प्रति ममत्व दिखाकर शल्य क्रिया का जो विरोध करता है वह परमार्थत: उसका हित चिंतक नहीं, शत्रु है किन्तु डॉक्टर भयंकर शस्त्र का उपयोग करके उसे असह्य वेदना देते हुए भी हितैषी मित्र तथा सखा बन्धु माना जाता है क्योंकि वह उस रोगी के रोग की जड़ को दूर करके उसे सुख प्रदान करता है इसी प्रकार सद्गुरु मिथ्यामार्ग का पालन कर अपनी मृत्यु का गड्ढा खोदने वाले जीव को सदुपदेश द्वारा सच्चा जीवन और आनन्द प्रदान करते हैं।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में आलोक और अंधकार सदृश्य ऐक्य त्रिकाल में भी शक्य नहीं है। सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, शील और कुशील में मैत्री कैसे उत्पन्न की जा सकती है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग के निरूपण में जैनशासन सत्यानुरोध से तथा जीव के कल्याण की कामना से मिथ्याव का मूलोच्छेद करना आवश्यक बताया है। इस विषय में तनिक भी शैथिल्य रहा तो मिथ्यात्व का कालानाग डसे बिना न रहेगा।

भोले लोग न जाने कितनी मिथ्या देवी-देवता का नाम लेकर उनकी भक्ति करते हुए अपने अमूल्य नर जन्म को नष्ट करते हैं। पहले जब रेल चली थी तब रेल का इंजन ग्रामीणों का भगवान था। सन् १९५२ में जो स्वतंत्र गणतंत्र भारत का चुनाव हुआ उसमें मतदान पेटिका भी भगवान बन गई थी। कई ग्रामीणों ने पेटी की पूजा की थी उसका ध्यान किया, वोट भगवान का शांत भाव से स्मरण किया। ऐसी भ्रान्त धारणाओं पर वैज्ञानिक दृष्टि का जब तक चाकू नहीं चलता है तब तक दृष्टि शुद्ध नहीं होती है अत: विवेकी व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि विज्ञान, विचार और अनुभूति की कसौटी पर सत्य प्रमाणित होने वाली दृष्टि को स्वीकार करे न कि मानसिक दुर्बलता वश दूध और चूने को काक और कोकिल को वर्णसाम्य होने से एक मानने का सत्य के शासन के विरुद्ध अपराध करें।

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि 'सर्वधर्म समभाव' का सिद्धान्त अपना सकता है?

उत्तर : नहीं, आज लोग जिनेन्द्र भगवान के शासन में जन्म लेते हुए भी प्राय: मिथ्यात्वी बन रहे हैं और उसे सर्वधर्म समभाव का मधुर नाम देकर आत्मवंचना करते हैं। काँच और कंचन काग कोकिल में एकान्त समता का भाव रखने वाला कैसे तत्त्वज्ञ माना जायेगा? तत्त्वज्ञानी न्यायदृष्टि को अपनाता है। विश्व के उद्धारकर्त्ता वीतराग इस पूर्ण स्याद्वाद शासन के समान एकान्तवाद की नींव पर स्थित सरागता के आराधक सिद्धान्तों में तत्त्वज्ञ कैसे एकता स्वीकार करेगा? यह परमार्थ की बात है। इसमें लोक व्यवहार की लुभावनी नीति के अनुसार समझौता करने वाले जीव का सम्यक्त्व अस्तंगत हो जाता है।

सिद्ध भगवान लोक के शिखर पर बैठकर संसार का नाटक देखते हैं और सरागी भगवान स्वयं नाटक करते हैं। सम्यक्त्वी जीव अव्रती होते हुए भी अन्य व्रती को देखकर ऐसा हर्षित होता है जैसे – माता रुक्मणि चिर वियुक्त पुत्र प्रद्युम्न की भेंट होने पर आनन्दित हुई थी। अविवेकी, अहंकारी, साधु

दर्शन होने पर संतप्त तथा कुद्ध बनता है। दर्शनमोह के कारण जीव की दृष्टि विपरीत हो जाती है। **(चा.च.)**

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि किसी कुदेवालय में ऐतिहासिक वस्तुएँ जैसे कलाकृति, सोने का खम्भा आदि देखने जा सकता है? क्या वह उन्हें वहाँ नमस्कार कर सकता है ?

उत्तर : नहीं, सम्यग्दृष्टि किसी भी देवालय में बनी प्रसिद्ध चीजों को देखने नहीं जाता है क्योंकि उसे पता रहता है कि अनायतनों की सेवा करने से श्रद्धा नष्ट हो जाती है। लोक में कहावत है - ''कोयले की खान में जाने वाले को काला लगे बिना नहीं रहता है।'' दूसरी बात जिसको तत्त्व का स्वरूप समझ में आ गया है उसका कलाकृति आदि लौकिक वस्तुओं की अर्थात् पञ्चेन्द्रिय के विषय भोग की वस्तुओं को देखने में आकर्षण नहीं होता है। आकर्षण होवे भी तो कुगुरु, कुदेवालय आदि के प्रति आकर्षण नहीं हो सकता है। हाँ, लौकिक स्थानों में जैसे मैसूर का वृंदावन बगीचा, गेटवे ऑफ इण्डिया, समुद्र आदि देखने जा सकता है, जाता है। कई लोग कहते हैं कि जब हम गाड़ी से यात्रा के लिए जाते हैं, गाड़ी के सभी यात्रियों के साथ हमें भी सरागी देवों के मंदिर में जाना पड़ता है। हमारा पूरा मन रहता है कि हम नहीं जावें लेकिन मजबूरी से जाते हैं। ऐसे बहाने सम्यग्दृष्टि नहीं बनाता है। वह तो कोई भी बहाना बना करके वहाँ जाने से बचता है अर्थात् वहाँ नहीं जाता है। वास्तव में हमें यदि नहीं जाना है तो हम नहीं ही जाते हैं। यदि हमारा मन थोड़ा-थोड़ा जाने का है तो हम बहाना बनाकर जाते हैं। ऐसा मौका आने पर वह उतने समय के लिए (जब तक सभी सरागी देवों के यहाँ गये हैं) मंदिर में अथवा धर्मशाला में (जहाँ रुके हैं) या थोड़ी दूर जहाँ गाड़ी खड़ी है वहीं या उसी बस में बैठा रहेगा। कोई कहे हम तो वहाँ णमोकार मंत्र बोलते हुए जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करके नमस्कार कर लेते हैं। उसका यह कहना भी उचित नहीं लगता क्योंकि यदि कोई जहर की शीशी को दूध समझकर पीता है तो क्या मरण नहीं होगा ? दूसरी बात आपको देखने वाले और आपके बच्चे, पत्नी, भाई, परिवार वाले तथा साथ वाले मित्रादि को क्या पता कि आपने क्या बोलकर नमस्कार किया अथवा णमोकार मंत्र बोलकर नमस्कार किया है वे तो आपकी क्रियाएँ देखकर यही सोचेंगे कि ये इतने बड़े धर्मात्मा लोग यहाँ नमस्कार कर रहे हैं तो यह गलत नहीं होगा। हमें भी ऐसा ही करना चाहिए या हम भी ऐसा करें तो कोई पाप नहीं है अर्थात् आपको नमस्कार करते हुए देखकर अनेक लोग मिथ्यादेवों को नमस्कार करने लगेंगे।

कोई कहता है कि हमारे मित्र जो अजैन हैं अर्थात् सरागी देवों को ही मानते हैं वे भी जब अपने अर्थात् जिनालय में आते हैं तो बड़े विनय और बहुमानपूर्वक नमस्कार करते ही हैं। इसलिए हम भी उनके मंदिर या उनके गुरु के पास जाते हैं तो व्यवहार से नमस्कार करते हैं या हमें नमस्कार करना पड़ता है। जो व्यवहार या बिना मन के नमस्कार करते हैं उन्हें सोचना चाहिए कि बिना मन के या किसी के संकोचवश यदि कोई जहर का प्याला पीता है तो क्या मरण को प्राप्त नहीं होगा। अवश्य होगा। और कोई अमृत को जहर समझ कर पीता हो तो क्या उसकी बीमारियाँ ठीक नहीं होगी? अवश्य होगी। उसी प्रकार कोई व्यवहार से ही सरागी देवों को नमस्कार करेगा तो भी उसे मिथ्यात्व का ही बंध होगा उसका

संसार में पतन ही हेगा और आपका मित्र जिनेन्द्र भगवान को बड़ा समझकर नमस्कार करेगा तो उसे सातिशय फल मिलेगा ही अपितु यदि उन्हें जहर जैसा समझकर व्यवहार से भी नमस्कार करेगा तो उसे अवश्य उत्तम फल मिलेगा। वह संसार समुद्र से पार हो जायेगा। अत: आप जैन-अजैनों के साथ मित्रता रखें, व्यवहार रखें, वह सब व्यवहार तक ही रखें, धार्मिक क्षेत्र तक नहीं बढ़ने दें ताकि आपको कभी मजबूर होकर भी सरागी देवों को नमस्कार नहीं करना पड़े।

दूसरी बात हमारे साथ अनादिकाल से मिथ्यात्व के संस्कार लगे हुए हैं उन कुदेवादि को देखकर, उनके सामने जाते ही संभव है मिथ्यात्व के संस्कार जागृत हो जावें। हम भले ही वर्तमान में सम्यग्दृष्टि नहीं भी हैं तो भी हम सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आस्था रखते हैं, उनके चरणों की आराधना करते हैं इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य आयतन में तो बैठे ही हैं, सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य भूमिका तो हमने बना ही ली है। कुदेवों के यहाँ तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की स्वप्न में भी संभावना नहीं है। यदि वहाँ जाते ही हमारे संस्कार जागृत हो गये तो हमें बार-बार, वहीं-वहीं जाने का मन होगा। उन्हीं के प्रति हमारी भक्ति उमड़ेगी और धीरे-धीरे हमारा मन जिनेन्द्र भगवान से विरक्त होकर उन्हीं का भक्त बन जायेगा।

कुछ वर्षों पहले एक महिला ने बताया – माताजी, ये मेरा बेटा है। हम लोग एक बार महातीर्थ सम्मेदशिखरजी की वन्दना करने गये थे। वहाँ मंदिर से कुछ दूरी पर एक सिंदूर लगे हुए देवता स्थापित थे। उन्हें देखकर यह कहने लगा – माँ, क्या मैं उन भगवान के सिंदूर का टीका लगाकर आ जाऊँ? माँ आप भी उन भगवान के दर्शन करने चलो न..... उसकी बातों को सुनकर उसे अपने बेटे की अर्थात् उस बच्चे की बचपन की बातें याद आ गई। जब वह छोटा था उसे जातिस्मरण था। वह कहता रहता था कि – माँ आप इतनी सी मिठाई क्यों बनाती हो। मेरे घर पर तो इतनी सारी मिठाई बनती है। मेरे दो बेटे हैं। वे सब मुम्बई में रहते हैं। मैं हमेशा इस मंदिर में जाता था उन्हें फूल चढ़ाता था, प्रसाद लाकर खाता था...। उसको समझ में आ गया कि उन सिन्दूर वाले देवता को देखकर उसके पूर्व जन्म के संस्कार जागृत हो गये हैं। इसी प्रकार हमारे भी संस्कार जागृत हो सकते हैं इसलिए सरागी देवों के यहाँ, निर्ग्रन्थ गुरुओं को छोड़कर अन्य गुरुओं के यहाँ नहीं जाना चाहिए और न ही उनके ग्रंथों को अर्थात् उनकी जीवनी को बताने वाली पुस्तकों को पढ़ना चाहिए क्योंकि उनके किसी भी चमत्कार को देखकर, पढ़कर आपका मन अपने ऊपर आयी आपदा-विपदाओं से बचने के लिए उनकी शरण में जाने का हो जायेगा तो आपका भविष्य में सम्यक्त्व के अवसर ही समाप्त हो जायेंगे।

मान लिया जिस दिन आप उनके यहाँ गये थे पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रबल उदय से आपका कोई नैतिक कार्य जो वर्षों/महीनों से नहीं हो पा रहा था वह हो गया तो समझ लो आप उनके परम भक्त बन गये क्योंकि आपको यह विश्वास हो जायेगा कि आज मैं इनके यहाँ आया उसी के फलस्वरूप मुझे यह लाभ हुआ है। एक दिन कुछ युगल अजमेर घूमने के लिए गये। वहाँ पर ऐतिहासिक, प्राकृतिक स्थानों को देखने के बाद वे मुसलमानों की दरगाह देखने के लिए गये। वहाँ एक युगल में से पत्नी ने कहा-

आप यहाँ कम से कम दस रुपये तो चढ़ा दो। पति ने कहा - नहीं, मैं जहाँ कहीं पैसा नहीं चढ़ा सकता हूँ, मैं तो केवल जिनेन्द्र भगवान का ही भक्त हूँ, वहीं दान देता हूँ, दे सकता हूँ और वहीं अपना शीश झुकाता हूँ। यहाँ तो मैं केवल देखने के लिए आया था। पत्नी ने उसके ऊपर बहुत दबाव डाला लेकिन वह नहीं माना। उसने न वहाँ नमस्कार किया और न ही पैसा चढ़ाया। जब वे सब बाहर आये तो उन सबमें से केवल उसके (जिसने नमस्कार नहीं किया था) जूते गायब हो गये अर्थात् उसके जूते कोई उठा कर ले गया। यह देखकर पत्नी बोली - ठीक हुआ। मैंने कहा था कि दस रुपये चढ़ा दो आपने नहीं चढ़ाये तो अब भुगतो, ५०० रुपये के जूते चले गये। उसकी बात का समर्थन करते हुए सबने उसकी हँसी उड़ाई, वे व्यंग्य करते हुए बोले - अरे तुम तो बड़े धर्मात्मा हो, हाँ तुम सच्चे सम्यग्दृष्टि हो, अरे इनके जैसा बड़ा भक्त तो संसार में होगा ही नहीं आदि। यदि आपके साथ भी ऐसी घटना घट गई तो क्या आपकी सरागी देवों के प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं होगी और भक्ति उत्पन्न हो गई तो क्या आपको सम्यग्दर्शन प्राप्त करना कठिन नहीं हो जायेगा। आप स्वयं सोचें।

कोई-कोई कहते हैं कि बड़े-बड़े साधु तथा अच्छे धर्मात्मा लोग भी कलाकृति देखने के लिए या समुद्र के झरने आदि के पास होने वाले मनोहर वातावरण में बैठकर ध्यान आदि करने के लिए जाते हैं। पुरातन काल में भी मुनिराज ऐसे मनोहारी स्थानों पर ध्यान करते थे तो क्या वे मिथ्यादृष्टि बन जाते थे। नहीं, चाहे वे मुनिराज जाते थे या जाते हैं तो भी वे मिथ्यादृष्टि नहीं हो जाते हैं क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाने के उद्देश्य अलग-अलग होते हैं। मुनिराज के वहाँ जाने का उद्देश्य कलाकृति देखना नहीं अपितु उस कलाकृति के माध्यम से इतिहास को जानकर धर्मप्रभावना, धर्म की प्राचीनता को बताते हुए जैनधर्म की अनादि निधनता सिद्ध करके सम्यग्दर्शन को पुष्ट करना है फिर जो वैरागी होते हैं उन्हें हर स्थान पर वैराग्य की वस्तु ही दिखती है उसे हर वस्तु में क्षणभंगुरता ही नजर आती है और पूर्व में हम इसी प्रकार के कार्य अनेक बार करके आये हैं, हम भी ऐसे सरागी देवों की आराधना करके अनन्त बार जन्म-मरण करते आ रहे हैं। अहो ! अज्ञानता के कारण ये जीव इस अपूर्व मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके पुन: इन्हीं सरागी देवों को सच्चा देव मानकर पूज रहे हैं। हे भगवान् ! मैं कभी भी जिनेन्द्र भगवान को छोड़कर किसी की आराधना नहीं करूँगा, प्रभो, कभी मुझमें इनकी आराधना का भाव न हो। एक दिन पूज्य आचार्य विद्यासागरजी महाराज मुक्तागिरी के पहाड़ पर विराजित जिनालयों की वंदना करके लौट रहे थे। उन्होंने अपने एक शिष्य से पूछा - बेटा यहाँ कैसा लग रहाहै। शिष्य ने कहा – गुरुजी बहुत अच्छा लग रहा है। यहाँ चारों ओर कितनी अच्छी हरियाली है। कल-कल करती हुई झरनों की मनोहर ध्वनियाँ सहज ही मन को अपनी ओर आकर्षित कर रही हैं। पूज्य आचार्यश्री ने दूसरी बार फिर वही प्रश्न किया, शिष्य ने वही उत्तर दिया। पूज्य आचार्य महाराज ने तीसरी बार पुन: वही प्रश्न किया तो शिष्य ने विनयपूर्वक कहा - पूज्यश्री! आपही बतायें यहाँ क्या-क्या विशेषता है? शिष्य के प्रतिप्रश्न को सुनकर आचार्यश्री बोले - बेटा, मुझे तो यह लग रहा है कि हम इन सब वनस्पतियों में उत्पन्न होकर आये हैं। जो कुछ भी आपने बताया वह सब पाँच इन्द्रियों के विषय हैं,

पाप बंध के कारण है। इस प्रकार के विचारों से मात्र भव भ्रमण ही होता है। महापुरुषों के, गुरुओं के ऐसे आध्यात्मिक विचार होते हैं। इसलिए गुरुजी भले ही वहाँ देखने जावें उनका भव नहीं बिगड़ेगा लेकिन हम और आप तो बहुत छोटे हैं। हमारी श्रद्धा आचार्य समन्तभद्र स्वामी आदि महामना गुरुओं जैसी अटल नहीं है कि हम सरागी देवों के यहाँ जाकर भी सम्यक्त्व से च्युत न हों, मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हों बल्कि हमारी श्रद्धा क्षण भर के बाह्य चमत्कारों को देखकर पिघल जाती है, अत: हमें तो वहाँ जाने से बचना ही चाहिए/नहीं जाना चाहिए।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन पुरुषार्थ से होता है या दैव (भाग्य) से ?

उत्तर : सम्यक्त्व की उपलब्धि बुद्धिपूर्वक पुरुष प्रयत्न के साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं रखती है। यथासंभव सब उपायों के करते हुए भी द्रव्यलिङ्गी मुनि उस सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता है और दूसरा जीव बिना प्रयत्न किए कर्म के विशेष क्षयोपशम से नित्य निगोद की विकास विहीन स्थिति से निकलकर मनुष्य पर्याय पाता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त्त में सम्यक्त्वी बनकर सकल संयमी होकर केवली बनता है। निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। भरतेश्वर के पुत्र भद्रविवर्धन आदि निगोद से आकर तिर्यञ्च पर्याय पाकर दूसरे भव में मनुष्य बनकर दीक्षा लेकर मोक्ष गये थे। उस जीव के बुद्धिपूर्वक पौरुष के बिना ही संसार भ्रमण समीप आ जाने से सब बातों की अनुकूलता हो जाती है। श्री सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चम्पू में लिखा है - निकट भव्यपना कर्म की विशेष निर्जरा संज्ञीपना, शुद्ध परिणाम ये सम्यक्त्व के अंतरंग कारण हैं तथा बाह्य कारण उपदेशादिक हैं। आचार्य अकलंक स्वामी ने कहा है – अनादि मिथ्यादृष्टि जीव काल लब्धि आदि के द्वारा सम्यक्त्व घातक कर्म पुंज का उपशमन करता है। यह सम्यक्त्व उसे ही प्राप्त होता है जिसके पंच परावर्तन रूप संसार में अर्द्ध पुद्गल परावर्तन रूप परिभ्रमण का काल शेष रह गया है। दूसरी बात कर्मों की स्थिति के सम्बन्ध में है। जिसके आगामी बंधने वाले कर्म अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति से अधिक नहीं बंधते हैं तथा पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर न्यून अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाती है। उसी के सम्यग्दर्शन हो सकता है। इस प्रकार की आंतरिक सामग्री की उपलब्धि बुद्धिपूर्वक प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं होती है। सातवें नरक का नारकी जीव अंतरंग सामग्री की अनुकूलता तथा वेदनाभिभव रूप निमित्त द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। वहाँ कौनसा बुद्धिपूर्वक प्रयत्न/पुरुषार्थ उस जीव के होता है।

भव्यत्व आदि सामग्री की अनुकूलता को ही दैव की वृत्ति कहा गया है – यह बुद्धिपूर्वक किये गये प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं है। पुराकृत कर्म को दैव कहते हैं। यदि पूर्व कर्म के उदय वशात् जीव असंज्ञी पर्याय में है या अपर्याप्तक नामकर्म का उदय है तो वह उस सम्यक्त्व रूपी निधि को प्राप्त नहीं कर सकता है। संज्ञीपना, पर्याप्तपना आदि कर्मोदय के आधीन है। इस कर्म की अनुकूलता से पूर्णतया निरपेक्ष पुरुषार्थ इष्ट साधक नहीं होता है। आज का पुरुषार्थ ही आगे के लिए दैव का रूप धारण करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन मुख्य रूप से दैवाधीन है और चारित्र पुरुषार्थ पूर्वक प्रतिज्ञा लेकर धारण किया जाता है।

जिनेन्द्र भगवान के दर्शन, श्रुत का अध्ययन, ऋद्धिधारी आदि गुरुओं के दर्शन, पंचकल्याणक

की महिमा आदि को देखने का अवसर कथंचित् पुरुषार्थपूर्वक मिलाये जाते हैं। ये सब बाह्य निमित्त है। **(चा.च.)**

प्रश्न : क्या सम्यग्दृष्टि जब कभी मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि बन सकता है?

उत्तर : हाँ, सम्यग्दृष्टि जब कभी मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि बन सकता है यदि वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो तो। उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में नियम से छूट जाता है। पुन: उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिए कम से कम भी पल्योपम के असंख्यात्वें भाग प्रमाण काल बीतना आवश्यक है। इतना काल बीते बिना यह नहीं हो सकता। आप और हमारी अर्थात् कर्मभूमिया जीवों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकाटि वर्ष मात्र होती है इसलिए हमें प्रथमोपशम सम्यक्त्व दूसरी बार नहीं हो सकता। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद कभी छूटता ही नहीं है इसलिए उसके दूसरी बार प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता है। क्षयोपशम सम्यकत्व का जघन्य काल, अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। यह मलिन होने से छोटे से निमित्त में भी छूट सकता है और छूटने के एक अन्तर्मुहूर्त्त मात्र काल के बाद पुन: प्राप्त भी हो सकता है। कहा भी है मिथ्यात्व में आकर और उत्कृष्ट स्थिति बंध के कारणभूत संक्लेश से च्युत होकर विशुद्धि को प्राप्त करके जब तक उस विशुद्धि के साथ जीव मिथ्यात्व में अन्तर्मुहूर्त काल तक नहीं ठहरता तब तक उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। **(क.पा. ३/१९६)**

इसीलिए पूर्व में सम्यग्दर्शन के नष्ट होने में भी रावण के जीवन का वृत्तान्त कहा है और सम्यग्दर्शन की दृढ़ता में भी रावण का वृत्तान्त कहा है, इसका अर्थ यह नहीं कि रावण के जीवन की एक घटना ही सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाली हो और वही घटना सम्यग्दर्शन को दृढ़ करने वाली हो अपितु जब रावण बालि मुनिराज को कैलाश पर्वत सहित उठाकर समुद्र में पटकने के भाव कर रहा था तब मुनिराज के उपसर्ग करने के भाव होने से सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाले भाव थे और जब बालि मुनिराज के सामने उसने अपनी निन्दा-गर्हा की, अपनी गलती को स्वीकार करते हुए अपने आपको धिक्कारा, क्षमायाचना की तब सम्यग्दर्शन को पुष्ट करने वाले भाव थे। क्योंकि यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जीवन में असंख्यात बार हो सकता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के बारे में और भी विचार कर लेना चाहिए।

卐 प्रशस्ति 卐

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के विषय में सम्यग्दर्शन क्या है? सम्यग्दर्शन प्राप्ति के साधन क्या हैं? सम्यग्दृष्टि कैसा होता है, सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के विचारों में क्या अन्तर है, सम्यग्दर्शन की दृढ़ता कैसे हो, किसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, सम्यग्दृष्टि के चिह्न क्या हैं, सम्यग्दर्शन के अंग कौन-कौन से हैं, सम्यग्दर्शन के गुण कौन-कौन से हैं आदि-आदि १५ प्रकार से सम्यग्दर्शन का वर्णन करने वाली परिशिष्ट सहित **सम्यक्त्व मञ्जूषा** कृति का लेखन/संकलन आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा में आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज, आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज के प्रथम शिष्य महाकवि आचार्यश्री ज्ञानसागर जी महाराज के द्वितीय शिष्य आचार्यकल्प पूज्यश्री विवेकसागर जी महाराज की पंचम शिष्या आर्यिका विज्ञानमती के द्वारा आचार्य गुरुवर १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज के शुभाशिष से टीकमगढ़ (म.प्र.) के नया मंदिर आदिनाथ जिनालय में वीर नि.सं. २५४४ मंगसिर शुक्ला चतुर्दशी शनिवार के दिन पूर्ण हुआ। इसमें सम्यक्त्व का स्थूल रूप से कथन किया गया है। आन्तरिक परिणामों को आप और हम देखने में समर्थ नहीं हैं, इसलिए इसमें कुछ त्रुटि हुई हो तो प्राज्ञ जन, पाठक गण क्षमा करें।

प्रस्तुत कृति सभी के कल्याण का निमित्त बने। इसी भावना से देव-शास्त्र-गुरु के चरणों में बारम्बार नमन-नमन ।